समास-9

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

रज़ा फाउण्डेशन | THE RAZA FOUNDATION

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 9 © फरवरी 2014
पंजीयन क्रमांक : F-2 (S-46)Press/2012

त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : अशोक वाजपेयी
कार्यकारी न्यासी, रज़ा फाउण्डेशन, सी–4
139 सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली–16
फ़ोन – 011–46526269

आवरण चित्रांकन : नेहा शर्मा

सहयोग : मिथिलेश चौबे, संगीता गुन्देचा

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ 90/45 तुलसी नगर
भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन – 0755–2556940

ईमेल – <udayanvajpeyi@gmail.com>

मूल्य : 60 रूपये

वितरक : वाणी प्रकाशन
21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली – 110002
फ़ोन : 011– 23275710, 23273167
फैक्स : 011– 23275710

ईमेल : vaniprakashan@gmail.com
वेबसाईट : vaniprakashan.in

कम्पोज़िंग : शैलेन्द्र डाण्डे
मुद्रण : भण्डारी आफ़सेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

सम्पादकीय - ५

वार्तालाप
भारतीय दृष्टियाँ और पश्चिम से उऋण होने के मार्ग- ७-५७
नवज्योति सिंह से उदयन वाजपेयी की बातचीत

कविताएँ
जैसे अभी-अभी- संजीव क्षितिज की कविताएँ - ५८-५९
प्रवसिनी महाकुद की कविताएँ - ६०-६४
ईशिता भादुड़ी की कविताएँ- ६५-६६

कहानी
भूपेन- जवाहर गोयल- ६७-७६

उपन्यास अंश
एम.जी. रोड- ध्रुव शुक्ल- ७७-८५

व्याख्या
तसलीमा के अब्बू- मोहनकृष्ण बोहरा- ८६-१०६

निबन्ध
रूसी संस्कृति का उद्भव और विनाश (भाग दो)- कमलेश - ११०-२१२
अम्बादास और ओस्लो की मेरी दो यात्राएँ- प्रयाग शुक्ल- २१३-२२३
जीने का वैभव- मानस मुकुल दास- २२४-२५६
ग़ालिब का इतालवी अनुवाद- स्टीवन ग्रीको- २६०-२६४
विकास, प्रगति के नेपथ्य में उत्तराखण्ड की त्रासदी- पवन गुप्ता- २६५-२७१

विशेष
अकेले नहीं आते बाढ़ और अकाल- अनुपम मिश्र- २७२-२८२
मणि जी का स्मरण- मधु अप्सरा- २८३-२९२
उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर की शिक्षण शैली और ध्रुपद के वर्तमान प्रश्न- आशीष सांकृत्यायन- २९३-२९८

समीक्षा
मेज़ पर कुछ मोम- वागीश शुक्ल- २९९-३०६

पत्र– ३०७-३०८

लेखक परिचय– ३०९-३११

सम्पादकीय

हिन्दी साहित्य में मुंशी प्रेमचन्द का स्थान बहुत ऊँचा है। यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि वे हमारे प्रमुख पुरखों में एक हैं। यह भी बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि आज हिन्दी भाषा में जैसा और जो भी आत्मविश्वास है उसमें भी प्रेमचन्द का योगदान प्रमुख है इसलिए अगर उनके लेखन पर कोई प्रश्न उठाया जाएगा, वह अपने महत्वपूर्ण पुरखे पर ही उठाया जा रहा होगा। संयोग से बिना प्रश्नांकन के न साहित्य का और न जीवन का व्यापार आगे बढ़ा करता है। प्रेमचन्द के लेखन पर प्रश्न उठाने से पहले हम भरत के नाट्यशास्त्र की ओर चलते हैं। इस नाट्यशास्त्र में नाटक के अन्यान्य अवयवों पर गहनता से विचार किया गया है। इन अवयवों में अभिनय के विभिन्न तत्त्व जैसे आंगिक, वाचिक, सात्त्विक आदि तत्त्वों की गहरी विवेचना के तहत छन्द, नृत्य मुद्राओं आदि की भी विस्तार से पड़ताल की गयी है। यहाँ नाटक को सम्भव करने की तमाम विधियों और निषेधों के विवेचन के साथ ही नाटक और अन्य कलाओं के दार्शनिक आधारों को भी टटोलने की एक ऐसी कोशिश की गयी है जो विश्व-साहित्य में अनोखी है। नाट्यशास्त्र में नाट्य विधा की विधियों और निषेधों पर इसलिए विचार किया गया है कि नाटक एक स्वायत्त कलारूप की तरह अनुभव हो सके। दर्शक उसे इस तरह देख सकें कि वे एक कलाकृति को देख रहे हैं, न कि जीवन के किसी अंश को। दूसरे शब्दों में नाट्यशास्त्र की तमाम विधियाँ और निषेध नाटक या अन्य कलाओं को इस तरह रचने की ओर प्रवृत्त करती हैं जिससे दर्शकों या पाठकों को नाटक या अन्य कला का आस्वादन करते हुए यह अनुभव होता रहे कि वह किसी कलारूप का आस्वादन कर रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि भारतीय पारम्परिक कला-चिन्तन में कलाओं को इस तरह गढ़ा जाना प्रस्तावित होता रहा है जिससे उन्हें जीवन का ही कोई अंश न मान

लिया जाए। यह सच है कि कलाएँ जीवन का भाग होती हैं पर वे सामान्य जीवन का कोई अंश या कोई टुकड़ा नहीं होती। वे जीवन का पुनर्सृजन हुआ करती हैं। इस पुनर्सृजन की यह विशेषता है कि इसे अनुभव करते हुए यह कभी विस्मृत नहीं हो पाता कि यह पुनर्सृजन है, जीवन की रपट नहीं। कलाएँ इसी अर्थ में पत्रकारिता या रिर्पोताज से अलग हुआ करती हैं। जर्मनी के महान रंगनिर्देशक और नाटककार बर्तोल्त ब्रेश्त ने जिसे अलगाव प्रभाव कहा है, वह उन्होंने भारतीय और चीनी नाट्य परम्पराओं से ही सीखा था। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी भाषा के वे आलोचक जो अलगाव प्रभाव की तारीफ़ करते थकते नहीं थे, उन्हें यह ख़बर तक नहीं थी कि यह अलगाव प्रभाव हमारी अपनी नाट्यशास्त्रीय और कला परम्पराओं में शताब्दियों से व्यवहृत होता रहा है। हम जिस दिन अपनी सभ्यता की विभिन्न वैचारिक और कलात्मक परम्पराओं पर शर्मिन्दा होना बन्द कर देंगे, हम रातों-रात समृद्ध हो जाएँगे। बहरहाल भारतीय नाट्य और कला परम्पराओं में यह स्वीकृत मान्यता है कि कलाओं को इस तरह गढ़ा जाना चाहिए कि वे कलाएँ लगें, उनके अनुभव के दौरान यह लगे कि यह किसी विशेष व्यक्ति के माध्यम से प्रकट हुई है और यह प्राकृतिक रचना नहीं है। प्रेमचन्द के कथा-लेखन की ठीक यही त्रुटि रही है। उनकी कहानियाँ और उपन्यास इस तरह लिखे जाते थे मानो वे किसी व्यक्ति ने न लिखे हों, मानों वे किसी विशेष व्यक्ति की कल्पना न हो बल्कि यथार्थ का जस का तस चित्रण हो। यह कहना असम्भव है कि यथार्थ जस का तस कैसा होता है। यह कहने के लिए हमें अपने आपसे अलग होना होगा और एक ऐसी जगह पर अवस्थित होना होगा जहाँ हमारी अपनी पूर्व धारणाएँ आदि का प्रवेश न हो। यानि हमें एक ईश्वर का स्थान लेना होगा और ज़ाहिर है यह सम्भव नहीं है। इसलिए नाट्यशास्त्र द्वारा प्रस्तावित मार्ग ही उचित है। हम अपनी कृति रचें और इस तरह कि यह प्रकट होता रहे कि यह एक विशिष्ट मनुष्यकृत रचना है, कि यह एक विशेष मनुष्य की कल्पना का फल है। इस तरह की कृतियों के लिए एक और नाम भी है : आत्मसजग रचना। ऐसी रचनाओं को पढ़ते हुए आप यह जानते रहते हैं कि इसे फलाँ लेखक ने लिखा है। लेखक ऐसी रचनाओं में एक ऐसी आत्म-सजगता ला देता है जिससे वे कृतियाँ कृतियों की तरह पहचानी जा पाती हैं। उन्हें जीवन की रपट की तरह नहीं देखा जाता। इसका यह फल होता है कि ऐसी कृति का पाठक या दर्शक इस कृति के सहारे अपने सत्य को अपने भीतर ढूँढने की कोशिश करता है। अगर वह, उदाहरण के लिए, किसी कृति में किसी गाँव का चित्रण पढ़ता है तो वह यह जानता रहता है कि यह गाँव एक विशेष लेखक की आँख से देखा गया गाँव है, न कि गाँवमात्र। गाँव को या आकाश को या स्त्री को या प्रेम को देखने के अलग-अलग ढंग हुआ करते हैं, यह बात इस तरह के आत्म-सजग लेखन में सहज ही आ जाती है। इस प्रकाश में यदि आप प्रेमचन्द की कहानियों को देखें, आप पाएँगे कि उनके लिखने का ढंग कुछ इस तरह है जिसमें यह लगता ही नहीं कि उसे किसी विशेष व्यक्ति (यानि प्रेमचन्द जी) ने लिखा है। ऐसा महसूस होता है मानो यह यथार्थमात्र है। इस अर्थ में प्रेमचन्द जी की कहानियों में कृति चेतना अनुपस्थित है। उन्हें पढ़ते समय यह अनुभव नहीं होता कि इसे किसी कृतिकार ने अपने सौन्दर्यबोध के वशीभूत रचा है। इसका फल यह हुआ है कि इन कहानियों को पढ़कर हमने भारत के कम से कम ग्रामीण समाज की जो छवि बनायी है उसमें यह बात पूरी तरह से भुला दी गयी है कि यह छवि एक विशिष्ट व्यक्ति यानि प्रेमचन्द जी की दृष्टि से देखे गये गाँव की छवि है। यह दरअसल प्रेमचन्द जी का रचा हुआ गाँव है, गाँवमात्र नहीं। इस चेतना के अभाव में हमने भारत के विविध वर्णी गाँवों को प्रेमचन्द जी की दृष्टि की सीमा में बाँधकर उन्हें सचमुच देखने की पर्याप्त कोशिश नहीं की है। पर इसे प्रेमचन्द की सृजनात्मकता की सीमा कहना उचित नहीं है। यह हम पाठकों की सीमा रही है कि हमने एक आत्म-सजगता विपन्न कथाकृति में वर्णित गाँवों को सचमुच का गाँव मान लिया है। पर यहाँ यह जोड़ना शायद आवश्यक है कि यह त्रुटि प्रेमचन्द के कथालेखन की भी है कि वह आत्म-सजग नहीं है।

२० दिसम्बर २०१४ **उदयन वाजपेयी**

भारतीय दृष्टियाँ और पश्चिम से उऋण होने के मार्ग

नवज्योति सिंह से उदयन वाजपेयी की बातचीत

नवज्योति सिंह का नाम सुने अब मुझे कई बरस हो गये। मुझे एक सच्चे बुजुर्ग की तरह महान इतिहासकार धर्मपाल ने एक बार इनके बारे में बताया था। उनकी बड़ी इच्छा थी कि हमारी भेंट हो। ऐसा कुछ धर्मपाल जी के जीते-जी नहीं हो पाया। पर हमारे मिलने का संयोग हुआ धर्मपाल की स्मृति में दिल्ली में आयोजित एक संगोष्ठी में। इस संगोष्ठी में नवज्योति ने धर्मपाल के विषय में कुछ अत्यन्त विचारोत्तेजक और आवेगपूर्ण वक्तव्य दिया था। मुझे उनका वह रूप याद रह गया था। कुछ समय बीता और हमारी मुलाकात मसूरी में एक संगोष्ठी में हुई, जिसे पवन गुप्ता ने आयोजित किया था और जिसमें माननीय रिनपोछे उपस्थित थे। उस संगोष्ठी में मुझे पता चला कि नवज्योति उन दिनों (आजकल भी) हैदराबाद के एक संस्थान में एक्ज़ेक्ट ह्यूमेनिटीज़ विभाग के अध्यक्ष और संस्थापक हैं। इस विभाग का नाम मुझे बड़ा दिलचस्प मालूम दिया। इसके बाद से हमारी भेंट होती रही हैं। मुझे नवज्योति एक ऐसे दार्शनिक जान पड़े जो अपनी परम्परा में गहरे पैठकर आधुनिक विश्व से बराबरी का संवाद करता है। वे न पश्चिम के विरोधी हैं और न भारत के भक्त। उनमें एक सच्चे दार्शनिक की सम्यक् दृष्टि है जो अपनी परम्परा की त्रुटियों को उतनी ही निर्ममता से देख पाती है जितनी निर्ममता से आधुनिक विश्व के प्रश्नों को। यही कारण है कि इस लम्बी बातचीत में एक ऐसा मानस उभरता है जो निरन्तर आधुनिक विश्व में भारतीय दृष्टियों की स्थिति और सम्भावना पर विचार कर रहा है। यह बातचीत पिछले वर्ष अगस्त महीने में हैदराबाद स्थित नवज्योति के निवास पर चार हिस्सों में सम्पन्न हुई थी। हमारी बातचीत के दौरान कई बार नवज्योति के शोध छात्र और सहयोगी भी मौन श्रोताओं की तरह उपस्थित रहते थे।

उदयनः– आधुनिक विश्व में पारम्परिक भारतीय दृष्टि की आपको क्या सम्भावनाएँ दिखायी देती हैं। पहली बात तो यह हो सकती है कि आधुनिक विश्व के बीच में हम एक टापू-सा भारतीय पारम्परिक दृष्टि के लिए बना लें। दूसरी यह कि हम आधुनिकता में अपनी शर्तों पर भागीदारी करने का प्रयत्न करें। क्या आप यह दूसरी सम्भावना देखते हैं ?

नवज्योतिः– कि आप जिस दूसरे विकल्प की बात कर रहे हैं, वह सम्भव है। अलग से अपने को एक दायरे में बाँधकर रहने का प्रयत्न करना चिरकालिक नहीं है, ऐसा सिर्फ़ आपात स्थिति में किया जाता है। वैसे भी नीलकण्ठ की तरह बाँधा सिर्फ़ ज़हर जाता है, जीवन नहीं। आपकी दृष्टि का प्रस्ताव सार्वभौमिक होना चाहिए। अगर परम्परा में उपलब्ध विचारों और आचरणों के प्रारूप को आगे भी बने रहना है तो यह कोई अलग से दायरा बनाकर नहीं हो सकता। जितना व्यापक जीवन है, इस दृष्टि को उतना ही व्यापक होना होगा। आधुनिकता में कई धाराएँ (वंशावलियाँ) हैं, उन धाराओं में से जो हमारी अपनी धारा है, उससे आधुनिकता की दिशा बनती है पर उस दिशा में इस दृष्टि को पूरी तरह से फैलना चाहिए। इसे हर स्तर पर हो सकना चाहिए : विचार के स्तर पर, जीवन शैली के स्तर पर और आचरण के स्तर पर।

उदयनः– आधुनिकता के बीच भारतीय पारम्परिक दृष्टि की धारा को आप किस रूप में देखते हैं?

नवज्योतिः– वह हममें उपस्थित तो है क्योंकि वह जीवन शैली में है। प्रश्न यह है कि इस उपस्थिति का भविष्य क्या है? आधुनिकता की स्थिति कुछ भूकम्प जैसी है, जिसमें सारे घर बिखर गये हैं; अब नये घर बनाने हैं। ये जो नये घर बनाने हैं, ये जो नये घर बनेंगे, उन्हें परम्परा की धारा की मदद से बनाना है। यह कार्य आधुनिकता में उपस्थित सभी धाराओं से संवाद करके ही हो सकेगा। आधुनिकता अपना बीज यूनान की दृष्टि में देखती है, इसलिए हमें उसकी समझ होनी चाहिए। हमारे यहाँ शास्त्रों के बीच वाद-विवाद चलता रहता है, पर अब इस वाद-विवाद के दायरे बदल गये हैं। अब यूनान के दार्शनिक विचार भी इन वाद-विवादों के घेरे में आ जाने चाहिए, इससे यह धारा आगे बढ़ सकती है। मैंने एक बार यह लिखा था कि हमारी परम्परा को सभी परम्पराओं की चकाचौंध में खड़ा होना होगा। यह काम अभी होना है क्योंकि आधुनिकता का भूकम्प पश्चिम से आया है। आधुनिकता में जितनी भी चीज़ें घुल मिल गयी हैं; पारम्परिक दृष्टि को उन सबसे संवाद करना होगा। उन सभी दृष्टियों को समझना होगा, उनकी कमियों और सम्भावनाओं को परखना होगा। परम्परा में उपस्थित नूतनता में इस संवाद का स्थान बन सकता है। अभी तो मुख्य धाराएँ यूनान और आधुनिक यूरोप की हैं जिनमें विधायक शक्ति है। ये धाराएँ हर जगह की व्यवहारिकी बन रही हैं, उनकी पोशाकों को तय कर रही हैं। उनका रहन-सहन परिवर्तित कर रही हैं। हमारी धारा में विधायक शक्ति का अभाव हो गया है। हमारे यहाँ पूरा वाङ्मय है, जीवन शैली है, पर विधायक शक्ति नहीं है, यह उसमें नया विधान नहीं कर पा रही। इस धारा में विधायक शक्ति कैसे लायी जाए? इसके लिए आवश्यक है कि यह धारा यूनान और आधुनिक यूरोप की दृष्टियों से संवाद करे।

उदयनः– भारतीय परम्पराओं की विधायक शक्ति का, आपकी दृष्टि में, लोप होना कब और किस सन्दर्भ में शुरू हुआ? मैं यह इसलिए पूछ रहा हूँ क्योंकि इस धारा ने न सिर्फ़ भारत में बल्कि पूर्वी एशिया के बड़े हिस्से में विधायक शक्ति के रूप में कार्य किया है।

नवज्योतिः– इस परम्परा की विधायक शक्ति चीन और पूर्वी एशिया में जापान तक दिखायी देती है, इसकी विधायक शक्ति मध्य एशिया में भी दिखायी देती है। किसी भी धारा की विधायक शक्ति के कमज़ोर होने का यह कारण नहीं है कि उसके भीतर कोई त्रुटि है। कई बार नयी-नयी चीज़ें घट जाती हैं जैसे भूकम्प आ गया हो। इस भूकम्प में, यूरोप का रेनेसाँ बड़ी विधायक शक्ति बन गया। इस विधायक शक्ति में अपनी ताकत थी। उसे रोक पाना सम्भव नहीं हो पाया। दुनिया के जितने भी समाज थे, वे उसके अनुरूप बनने शुरू हो गये। हमारा समाज भी उसके अनुरूप बनना शुरू हो गया। यह तरह-तरह की विधायक शक्तियों के बीच का युद्ध नहीं है। इसमें जो मूल्यवान है, उसे अपनाकर आगे का मार्ग निकालना है। उस विधायक शक्ति की कमज़ोरियों का समाधान यहाँ की पारम्परिक दृष्टियों में दिखना चाहिए। यह बड़ा काम है। कई सौ सालों में हुआ करता है। यूरोप की विधायक शक्ति को बनने मे क़रीब चार-सौ वर्ष लगे और यह हर जगह दिखायी देने लगी है। हमारे यहाँ जो यह क्षीणता आयी है, वह मुझे शक्ति ही लगती है। जैसे जब कोई भूकम्प आता है तो बड़े-बूढ़े बच्चों से कहते कि जाओ जाकर देखो कि क्या हुआ है। इसी तरह हमारे देश से बहुत सारे लोग पश्चिम की ओर गये। कुछ पढ़ने गये, कुछ व्यापार आदि करने। यह याद रहे कि सब स्वविवेक से गये थे। वे किसी भयवश वहाँ नहीं गये। ये अपनी इच्छा से वहाँ क्यूँ गये? क्योंकि वहाँ एक धमाका हुआ और उसे समझने यहाँ के लोगों ने मानो अपने बच्चों को भेजा ताकि वे उस धमाके को घरेलू बना सकें; जिससे वे अपना जीवन गुज़ार सकें। मेरे ख्याल से भारत में यूरोपीय धमाका सत्रहवीं सदी से ध्यान में आ गया था। बहुत सारे लोग इसे समझने और घरेलू बनाने को आतुर थे। बहुत सारे लोग सत्रहवीं सदी से लेकर आज तक कम से कम मानसिक स्तर पर समझने के लिए प्रवास पर हैं। जो पुरानी व्यवस्थाएँ चल रही थीं; उनके स्थान पर आधुनिक विधान में निर्वासित हो जाना आज तक चल रहा है। ये सब लोग किसी मुसीबत या तंगी के कारण गये हों; ऐसा नहीं है। ये लोग अपनी इच्छा से गये और भेजे गये हैं। इसके पीछे यह विचार रहा हो कि वहाँ से लौटने वाले ही यहाँ भविष्य का निर्माण करेंगे। वे लोग जो पश्चिम में जाकर उसका धरातल समझ गये हैं, वे परम्परा में नूतनत्व की स्थापना करेंगे। ये वे लौटे हुए लोग होंगे जो पश्चिम को घरेलू बनाएँगे। जिसका अर्थ यह है कि पश्चिम को अपने नज़रिये से बिठाएँगे।

उदयनः– क्या आप यह कह रहे हैं कि ये लोग पश्चिम में जाकर लौटने के बाद या न लौटने के बाद भी अपनी विश्वदृष्टि में पश्चिमी सभ्यता को बिठाने का प्रयत्न करेंगे, जैसा कि आज हम पश्चिम की विश्वदृष्टि में अवस्थित हैं ?

नवज्योतिः– यह कार्य बड़े रूप में चीन में हो रहा है। यहाँ भी होगा। यही काम अफ्रीका में भी हो रहा है। इन सभी ने पश्चिम को अपनी अस्मिता में बिठाने का प्रयत्न किया है।

उदयनः– इसका अर्थ यह हुआ कि आने वाले समय में हमारे पास स्वयं पश्चिमी सभ्यता की अनेक छवियाँ उपलब्ध हो पाएँगी। आज हमारे पास पश्चिमी सभ्यता की जो छवि है, वह मुख्यतः पश्चिम की दी हुई ही है। आप यह कह रहे हैं कि आज चीन में, अफ्रीका में और भारत में पश्चिमी सभ्यता को अपनी-अपनी दृष्टियों में अन्तरित करने का प्रयास हो रहा है।

नवज्योतिः– मैंने जो नीलकण्ठ का उदाहरण दिया उसे दूसरी तरह से देख सकते हैं। अगर कहीं ज़हर है तो ये मत कहो कि ज़हर ख़राब चीज़ है, उसे पिओ और उसे अपने कण्ठ में बाँध लो। पश्चिम की विधायक शक्ति भी कुछ ऐसी ही है। उसमें सर्व हित नहीं है। उसमें ज़हर है, उसे हमें पीना होगा और पीकर उसे कण्ठ में बाँधकर रखना होगा ताकि यह फैले नहीं। इसे ही मैं घरेलूकरण कह रहा हूँ, यही कार्य चल रहा है। पश्चिम तो पिछले दो-तीन सौ सालों में उठ खड़ा हुआ है पर अब आने वाले वर्षों में उसे बाँधना है, जैसे शिव ने विष को कण्ठ में बाँधा हुआ है। इस बाँधने से ही शक्ति की विभिन्न परम्पराएँ सक्रिय हो सकेंगी। आज निज की पहचान इस बाँधने में ही है।

उदयनः– आप नीलकण्ठ का जो यह दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं, ऐसा ही कुछ महात्मा गाँधी ने पश्चिम से लौटकर हिन्द स्वराज लिखकर किया था। पर चीन में यह अस्मिता को पकड़ने की सम्भावना कैसे बनी?

नवज्योतिः– चीन में भी कई लोगों ने, अन्य जगहों की तरह, अपनी बात की है, वह तमाम राष्ट्रीय आन्दोलनों और आधुनिक राज्य सत्ता निर्माण के भीतर मुखरित होती रही है। गाँधीजी के विचारों में भी यह बात रही है कि हमारी अस्मिता पश्चिम से किस तरह अलग है। यहाँ के कलाकारों में भी यह बात रही है जैसे कि टैगोर में। ऐसा ही चीन में भी रहा है। लेकिन जब नेहरू या चाऊ एन लाई जैसे लोग अपने देशों की आधुनिक राज्यसत्ता को चलाने में उलझ गये तब यह बात पीछे छूट गयी। यह परम्परा क्षीण कैसे हो गयी, यह सबको दिखता है। सबसे अन्याय की बात यह है कि श्रेष्ठता और कुशलता को सुनने-समझने वाला कोई न बचे। इससे बड़ा अन्याय कोई नहीं हैं। चूँकि परम्परा में श्रेष्ठता को समझने, उसे थामने, उसे आगे चलाने पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, परम्परा क्षीण होती चली गयी। परम्परा की क्षीणता का यह दुःख ही आगे कुछ करने की प्रेरणा दे सकता है। इस दुःख के कारण आप यह नहीं कह सकते कि पश्चिम से आयी आधुनिकता से दूर हो जाना है। इस दुःख को देखकर कई लोगों ने ऐसे निष्कर्ष निकाले कि हमें पश्चिम से आयी आधुनिकता से दूर रहना है। यह ज़रूरी नहीं है। जो लोग अपनी श्रेष्ठताओं को थामे रहे, वे इससे दूर हो गये। इसका यह अर्थ नहीं है कि आप अपनी परम्परा को व्यापक करने के लिये उसके मूल को त्याग दें या उसकी एकवाक्यता को छोड़ दें। और इसका यह भी मतलब नहीं है कि आप आधुनिक विधायक शक्ति से संवाद बन्द कर दें। यह समझ यहाँ थी, इसीलिए पश्चिमी सभ्यता को समझने के प्रयास यहाँ सत्रहवीं शती से होने लेगे थे। उस समय तो यहाँ से लोगों को पश्चिम में जाने के लिए प्रेरित किया गया था, बाद में गाँव-गाँव से लोगों ने अपने बच्चों को भेजना शुरू कर दिया, शहरों में भी और विदेशों में भी। यह थोड़ी विवादस्पद

बात है कि औपनिवेशीकरण स्वागत योग्य है। इसमें बहुत दुःख है और यह दिखता है क्योंकि यहाँ की श्रेष्ठता इस कारण क्षीण हो गयी, संकुचित हो गयी और इससे बड़ा कोई अन्याय नहीं है। औपनिवेशीकरण से जो अन्याय हुआ, वह बहुत बड़ा है। लेकिन यह अन्याय औपनिवेशीकरण के आधारों में ही निहित है। इसका कारण कोई अलग से किया गया षडयन्त्र नहीं है।

उदयनः– क्या आप यह कहना चाह रहे हैं कि उपनिवेशवाद के भारत में आने के कारण भारतीयों को आधुनिकता को समझने का अवसर मिला?

नवज्योतिः– अवसर भी और साथ ही उसके आने से यहाँ यह प्रतिज्ञा हो गयी कि हमें इसे समझना है। बहुत सारे लोगों ने यह निश्चय किया कि उन्हें यह काम करना है। इसलिए उपनिवेशवाद की स्थापना के पीछे की जटिलताओं को देखने पर लडाईयाँ भी दिखायी देती हैं और मैत्रियाँ भी। यह स्थापना इन सारे तत्त्वों से मिलकर हुई है। ऐसा नहीं है कि वे सिर्फ़ ज़ोर-ज़बरदस्ती से यहाँ काबिज़ हुई हों। दोनो ही तरह की चीज़ें हुई हैं। कई लोग इसके साथ रहे, कई इससे अलग, तभी जाकर यहाँ उपनिवेशवाद स्थापित हो सका। लेकिन कुल मिलाकर उसमें स्वागत का एक तत्त्व तो था ही।

उदयनः– जिसके पीछे आपके अनुसार यह कारण था कि हम पश्चिम में हुए आधुनिकता के धमाके को समझने की इच्छा रखते थे।

नवज्योतिः– यह इच्छा सत्रहवीं सदी में यहाँ बैठ गयी थी। यही नहीं चीन में भी यह इच्छा बैठ गयी कि भारत में क्या हुआ कपिलवस्तु में या राजगिरी में ? यह इच्छा इस सारे इलाके में बैठी थी, चीन में, जापान, थाईलैण्ड, कोरिया और वियतनाम आदि देशों में। यह जिज्ञासा जो किसी भी शास्त्र के मूल में होती है, इस सन्दर्भ में भी उतनी ही शुद्ध थी। एक बड़ी अच्छी कहानी है। बनारस में मीमाँसा के पण्डित थे, पट्टाभिराम शास्त्री। उनका घर दशाश्वमेध घाट से कुछ हटकर था। उनके घर तक आकर सड़क मुड़ गयी थी। उनके घर की बनावट कुछ ऐसी थी कि सामने से आधुनिक सड़क आती थी और एक ओर दरवाज़े से टकरा कर मुड़ जाती थी। दरवाज़ा बैठक में खुलता था और उसमें एक और छोटा-सा कमरा था। उस कमरे में एक खिड़की थी जिससे सड़क आती दिखती थी और बाएँ मुड़ जाती थी। उस मोड़ से पहले एक तीन मंज़िल इमारत थी। खिड़की के पास एक तखत लगी थी। तखत के ऊपर एक चौकी रखी रहती थी। वहीं कहीं स्याही की दवात, कलम और एकाध पोथी रखी रहती थी। उस खाट पर पट्टाभिराम शास्त्री बैठते थे, सोते थे। मैं उनसे मिलने गया था तब वे नब्बे वर्ष के आसपास के थे। यह तीन मंज़िला इमारत शास्त्री जी की पाठशाला हुआ करती थी जिसे कांची के परमाचार्य की आज्ञा से काशी के सेठों ने मीमाँसा अध्ययन के लिए बनवाया था। संस्कृत की सारी नौकरशाही उसी पाठशाला से निकली है। एक तरफ इनका घर था और बाजू में उनकी पाठशाला जिसमें छात्र रहते भी थे। कुछ वरिष्ठ विद्यार्थियों ने शास्त्री जी से कहा कि अब इस पाठशाला में चालीस-पचास विद्यार्थी हैं; आप तो वरिष्ठ विद्यार्थियों को पढ़ाइये, वे पाठशाला में अन्य विद्यार्थियों को पढ़ा दिया करेंगे। अब आपकी उम्र भी हो गयी है। इस तरह वरिष्ठ विद्यार्थियों ने पढ़ाना शुरू कर दिया और वे खुद शास्त्री

जी के घर आकर उनसे पोथियाँ आदि पढ़ते थे। जब शास्त्री जी का परिवार बढ़ा, उनके परिजनों ने उनसे कहा कि आप अपने अध्यापन की जगह तय कर लीजिए ताकि परिजनों को कठिनाई न हो क्योंकि परिवार बढ़ रहा है, बच्चों की शादियाँ हो गयी हैं; उनके बच्चे हो गये हैं। शास्त्री जी ने इसे स्वीकार कर लिया और इस तरह उनकी जगह और संकुचित होती चली गयी। थोड़े समय बाद बच्चों के भी बच्चे हो गये। परिवार और बढ़ गया और संकुचन का यह सिलसिला चलता गया। वे कुछ खास विद्यार्थियों से ही मिला करते थे। जब मैं उनसे मिला वे एक बहुत छोटे-से खिड़की वाले कमरे में थे जिसमें एक तखत ही आ सकता था। उन्होंने मुझसे कहा कि आसपास कोई मूढ़ा ढूँढ़कर बैठ जाओ। वे मुझसे बोले कि अब मेरे पास तुम्हारे जैसा कोई भूला-भटका ही आता है। जब मैं वहाँ बैठा था, उसी समय उनके बच्चों के बच्चों के बच्चे वहाँ आकर खेलते रहे, और वे बच्चे भी खाट पर चढ़ आते थे, इस तरह उस खाट का आधा हिस्सा बच्चों का हो गया। पट्टाभिराम शास्त्री खाट के बचे हुए हिस्से पर कुछ कलम, पोथियाँ और चौकी लिए बैठे रहते थे, साथ में चादर और तकिया। उनका बस इतना ही बच रहा था, बाकी सब चला गया था। यह पाण्डित्य के संकुचन का दृष्टान्त है। इस संकुचन में बहुत बड़ा अन्याय दिखता है। इसका कारण यह है कि आधुनिक विधान का दायरा बढ़ रहा है। जो पारम्परिक पाठशालाएँ थीं, वे स्कूल बन गये हैं। तिरूपति में संस्कृत का विश्वविद्यालय है, उसका पुस्तकालय पट्टाभिराम शास्त्री के नाम पर है, ये वे ही पट्टाभिराम शास्त्री हैं; जिनके स्थान का ऐसा संकुचन हुआ था। उनके शिष्य मण्डन मिश्र ने यह विश्वविद्यालय बनाया है। पारम्परिक पाठशालाओं और आधुनिक संस्थानों से निकले संस्कृत अध्येताओं के बीच पारस्परिक घर्षण है। कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी महाविद्यालय की बड़ी दिलचस्प कहानी है। नवदीप में कई पाठशालाएँ थीं; वहाँ टोल हुआ करते थे। टोल में चार पण्डित होते थे और उनके नीचे कुछ छात्र। उन टोलों में इतिहास पुराण पढ़ाते थे, दर्शन, न्याय और व्याकरण आदि। स्यालदा से नवदीप की ओर जाएँ तो मूलाजोड़ पड़ता है, वहाँ मैंने एक बहुत सुन्दर टोल देखी थी। वह टैगोर परिवार की थी। नदिया जिले के नवदीप में ऐसे सैकड़ों टोल हुआ करते थे; वहीं रघुनाथ न्याय शिरोमणि भी हुए हैं। वहाँ छात्र देश के अनेक क्षेत्रों से आते थे। अँग्रेज़ों ने भारत आकर जब राजस्व का सर्वेक्षण किया, उन्होंने पाया कि राजस्व के स्रोतों को ही रजवाड़े इन लोगों को दे दिया करते थे। उन्होंने यह व्यवस्था कर रखी थी कि जिस पाठशाला के लिए जितने इलाके का राजस्व उपयुक्त होगा, वह उसे दे दिया जाता था। अँग्रेज़ शासकों ने यह तय किया कि राजस्व तो हम एकत्र करेंगे और उसका एक हिस्सा इन टोलों को देंगे। अँग्रेज़ यह परिवर्तन लाये पूरी आर्थिक व्यवस्था में। यह अठारहवीं सदी में हुआ और बंगाल के अकाल का सम्बन्ध इसी से है। यहाँ यह व्यवस्था थी कि मान लीजिए कोई गाँव असम में था, वहाँ के लोग अपने राजस्व का एक हिस्सा किसी विशेष टोल को भेज देते थे। उस टोल में असम के छात्र पढ़ते थे और इस तरह टोल सक्रिय रहते थे। तरह-तरह के टोलों को अलग-अलग जगहों से राजस्व प्राप्त होता था। जब अँग्रेज़ों ने राजस्व को इकट्ठा करने की केन्द्रीयकृत व्यवस्था कर दी, हज़ारों छात्रों ने उनसे अपील की कि हमारी अध्येतावृत्ति को हमें दिया जाए। अध्येतावृत्ति का अर्थ था कि छात्रों को टोल में खाने-पीने-पहनने आदि की वस्तुएँ दी जाती थीं। जब अँग्रेज़ सरकार ने इन अपीलों पर विचार और

सर्वेक्षण के लिए एक व्यक्ति को नियुक्त किया, उसने कहा कि छात्रों की अध्येतावृत्ति को संचालित करने का काम किराने की दुकान वाले किया करेंगे। छात्र लोग उनकी दुकानों पर जाते थे और अपने लिए राशन ले आते थे। उनको कुछ पैसा भी मिल जाता था और वे आराम से रहते थे। इन चीज़ो की छानबीन करने वाले व्यक्ति ने अँग्रेज़ सरकार से कहा कि यह सच है कि छात्रों को अध्यतावृत्ति दी जाती है और सरकार को उसे जारी रखना चाहिए। नवदीप से चालीस किलोमीटर दूर एक स्थान है, तिरहूत, वहाँ अरबी और फारसी की शिक्षा मिलती थी। वहाँ भी अध्येतावृत्ति का प्रावधान था। उसके पास मुर्शीदाबाद का इलाका सुल्तानों का था। अँग्रेज़ों ने यह निर्णय लिया कि वे राजस्व का कुछ अंश छात्रों को संस्कृत अध्ययन के लिए देंगे पर उन्हें यह अध्येतावृत्ति नवदीप में नहीं, कलकत्ता में देंगे। इस तरह कलकत्ता में एक संस्कृत महाविद्यालय खोला गया जिसमें संस्कृत के पण्डित जाने के लिए तैयार नहीं थे। वे क्यूँ जाते ? उनकी एक व्यवस्था बनी हुई थी। वहाँ जाने वाले पण्डित को बुरा माना जाता था। यह माना जाता था कि वह अँग्रेज़ों का चापलूस है। अँग्रेज़ों ने इस तरह छात्रों की अध्येतावृत्ति को कलकत्ता के महाविद्यालय में डाल दिया। यह स्थानान्तरण आज तक दिखता है। एक तरफ संस्कृत विश्वविद्यालय बने, दूसरी तरफ पण्डित लोग रहे। यह जो तीन मंज़िली संरचनाएँ बनी उनमें पण्डित तो चलने वाले नहीं थे। इस तरह पाण्डित्य का संकुचन हुआ है। इसी संकुचन की नींव के ऊपर गाँधीजी एवं अन्य लोग आये हैं। इस तरह श्रेष्ठता के साथ अन्याय हुआ है। यह अन्याय आज भी है। अगर कोई किसान बहुत अच्छी तरह कपास उगा रहा है तो उसकी इस श्रेष्ठता को पहचानने वाला कोई नहीं है। हो सकता है उसके पास पानी न पहुँचे, उस तक खाना न पहुँचे, और उस परिस्थिति में वह आत्महत्या कर ले। यह अन्याय ही तो है। हर अन्याय के विषय में यह विचार किया जाता है कि यह अन्याय है भी या नहीं? इसीलिए उसकी जाँच की जाती है। यह जाँच महत्व की है। बिना इसके रोने-धोने का कोई अर्थ नहीं हैं। मातम मनाने की राजनीति में कोई दम नहीं है। दूसरी ओर चमक-धमक को ही आधुनिकता की पूरी सृष्टि मान लेना अर्थहीन है। आधुनिकता में नये नये विधान आते हैं और पुराने छोड़ दिये जाते हैं। इसी क्रम में टोलों से हटकर महाविद्यालय बनने के क़रीब दो सौ साल बाद भारत सरकार ने एक टोल प्रमोशन योजना चलायी, जिसके तहत हर टोल को चालीस रूपया महीने का प्रावधान किया। यह अभी तक चलता है। अब आधुनिक ढँग के संस्थानों में संस्कृत वाङ्मय की रक्षा का कार्य चला करता है, पर यह कमज़ोर परम्परा है। जो सबल परम्परा थी, उसका संकुचन हो गया है।

उदयनः– मेरा प्रश्न फिर से यही है कि आज भारत की भूमि और काल को यह पारम्परिक विवेक दोबारा कैसे आयत्त कर पाएगा ? मैं वापसी की बात नहीं कर रहा, अब पहले जैसा नहीं हो सकता, यह मैं भी जानता हूँ और आप भी। इसे पुनरायत्त करने की क्या युक्तियाँ रही हैं या हो सकती हैं?

नवज्योतिः– आधुनिक राजसत्ता भी इस दिशा में कार्य कर रही है पर यह कार्य बहुत ही कमज़ोर है। मैं समझता हूँ कि हमें इस नये परिप्रेक्ष्य में चिन्तन-मनन की गहन प्रक्रिया से गुज़रकर परम्परा का नूतनत्व खोजना चाहिए। इस कार्य के लिए तीस वर्ष पहले हम लोगों ने सोचा कि पश्चिमी आधुनिकता का सीधा-सीधा

सामना किया जाएः बैल को उसके सींगों से पकड़ने का प्रयत्न किया जाए। हमें लगा कि इसका सबसे सशक्त सींग विज्ञान है। उसी से नयी-नयी टेक्नोलॉजी और नयी जीवन शैलियाँ आ रही हैं। पश्चिम की सबसे सशक्त विधायक शक्ति विज्ञान और टेक्नालॉजी से आ रही है। प्रश्न यह बनता है कि विज्ञान टेक्नालॉजी और परम्परा का क्या सम्बन्ध बनता है। हमारी यह समझ बनी कि विज्ञान और टेक्नालॉजी कोई निरपेक्ष चीज़ें नहीं हैं, ये भी सामाजिक हैं। इनमें भी संस्कृति है। ये भी संस्कारों में डूबी हुई हैं। हमने विचार किया कि महत्वपूर्ण काम विज्ञान और टेक्नोलॉजी को घरेलू बनाने का है। इस प्रक्रिया के दो बिन्दु हैं; पहला यह कि ये संस्कारनिष्ठ हों; हमारी परम्परा के जो संस्कार आ रहे हैं; विज्ञान और टेक्नॉलाजी हमारे संस्कारों से बँधे हों। और दूसरा यह कि इससे जुड़ा जो उपनिवेशवादी अभिजात्य है, वह उससे मुक्त हो। वह लोकव्यापी हो। कोई भी ज्ञान हो, वह सभी के पास हो सके, यह लोकव्यापीकरण है। इसके लिए हम कुछ लोगों ने एक संस्था बनायी थी पी.पी.एस.टी. (पेट्रियॉटिक एण्ड पीपल ओरिएण्टेड साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी)। हमारे यहाँ पेट्रियॉटिक का अर्थ राष्ट्र से सम्बद्ध न होकर संस्कारनिष्ठता है। लोकव्यापीकरण का अर्थ है कि वही ज्ञान उचित है जो लोक में व्यापक हो पाये। इसमें बहुत सारे प्रश्न उठ खड़े होते हैं; विज्ञान और टेक्नोलॉजी मूल्य निरपेक्ष हैं या नहीं ? संस्कारनिष्ठता का क्या अर्थ है? ये प्रश्न आज तक चल रहे हैं। लेकिन इस संस्था की यह भंगिमा अवश्य थी कि इन्हें परम्परा में उपलब्ध संस्कारों से सम्बद्ध होना चाहिए। इन्हें हमारे उन संस्कारों से घिरा होना चाहिए।

उदयनः– इसका आशय यह हुआ कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी भले ही आधुनिकता में विकसित हुए हों पर वे हमारे संस्कारों में डूब जाएँ।

नवज्योतिः– फिर भले ही विज्ञान और टेक्नालॉजी बदल क्यूँ न जाएँ। यह विज्ञान आदि को घरेलू बनाना होगा। इसके कई अर्थ निकल गये। संस्कारनिष्ठ गणित अलग होगी और यहाँ जो पढायी जा रही है, वह अलग। हम सब इन मुद्दों से जूझे। दूसरी बात यह आयी कि शास्त्रों में विज्ञान और टेक्नोलॉजी से जुड़ी क्या बाते हैं? इसमें आयुर्वेद आ जाता है, गणित, व्याकरण आदि की परम्पराएँ। तो हम व्याकरण गणितकरण का शास्त्र और न्याय और अन्य तर्क शास्त्र और मन के शास्त्र को ले आये। ये चारों यानि मैथेमेटिक्स, लिंग्विस्टिक्स, लॉजिक और कॉगनीटिव सांइस हमारी परम्परा में हैं। शास्त्रों में बहुत मिलते हैं। ये परम्परा में हैं पर इनका मॉडर्न मेथेमेटिक्स, मॉडर्न लॉजिक आदि से क्या सम्बन्ध है? यह काम १९८८ में शुरू हुआ था। यह परियोजना दस-बारह संस्थाओं में चला करती थी। यह खुली परियोजना थी। इसमें यह नहीं था कि इसे तीन साल या पाँच साल में पूरा करना है। इन कामों में तीसियों बरस लग जाते हैं। इसके साथ ही विज्ञान और टेक्नोलॉजी से जुड़ी अपनी परम्पराओं का एक आधुनिक मंच भी तैयार किया गया : काँग्रेस ऑफ ट्रेडीशनल साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी। पहली काँग्रेस मुम्बई आई.आई.टी में हुई। ऐसी पाँच काँग्रेस अलग-अलग जगहों पर हुईं। इसकी अपनी कहानी है। इससे यह हुआ कि मॉडर्न लॉजिक और पारम्परिक तर्कशास्त्र में फ़र्क की समझ बन गयी। इन दोनों के दार्शनिक आधारों में बहुत बुनियादी अन्तर है। लेकिन इनकी नियति

क्या होगी, यह बात अभी भी अस्पष्ट है। यह अभी स्पष्ट नहीं है कि इस फ़र्क का भविष्य क्या है। इन फ़र्कों के आधार पर तो समूची सभ्यताएँ बन जाया करती हैं। इस काम को करने में शताब्दियाँ लग जाती हैं। हम यह समझ गये कि आज के तर्क-वितर्क और गणित आदि की विधायक शक्ति और हमारी अपनी तर्क पद्धतियों के बीच अन्तर क्या है। पर प्रश्न यह है कि हमारी तर्क पद्धतियों में विधायक शक्ति कैसे आये। यह आगे का काम है। दूसरी तरफ संस्कारनिष्ठता पर विचार किया। जैसे श्रीनिवास रामानुजन के पास पारम्परिक गणितीय तर्क और संस्कार थे। इसी से जुड़ा हुआ लोकव्यापीकरण का प्रश्न है। कारीगरों आदि के जीवन में तरह-तरह के विधान उपस्थित हैं, तरह-तरह की पारम्परिक तकनीकें हैं। उदाहरण के लिए औषधि ज्ञान का बहुत लोकव्यापीकरण है। परम्परा की इस लोकव्यापी शक्ति को भी प्रकट करने की आवश्यकता है, इसके लिए हमने पारम्परिक विज्ञान और तकनीकि का मंच बनाया। इन दोनों ही कामों की कई कहानियाँ हैं, अब तीस साल पुरानी इन बातों को कहानियाँ ही कहना होगा। जब हमने मुम्बई में इस तरह के सम्मेलन का मंच तैयार किया, उसमें सब आना चाहते थे। उसका उद्घाटन प्रधानमन्त्री पी.वी. नरसिंहाराव करना चाहते थे। पर हमें यह स्वीकार नहीं हुआ। उस सम्मेलन में चार सौ आलेख दो-ढाई सौ प्रदर्शन हुए। जैसे अगड़ियों के लोहा बनाने की पद्धति का प्रदर्शन हुआ। पाँच-सात अगड़िया आये और उन्होंने लोहे के अयस्क से लोहा बनाया। उस सम्मेलन के सन्दर्भ में यह आक्षेप आया कि आप लोग परम्परा के नाम पर बात कर रहे हैं पर इस सम्मेलन में पारम्परिक लोग नहीं हैं। ये कहा गया कि इस पूरी काँग्रेस (सम्मेलन) में जो दो-ढाई हज़ार लोग आये हैं, वे परम्परा के कन्धे पर रखकर बन्दूक चलाने वाले लोग हैं। पर इनमें पारम्परिक लोग कहाँ हैं? उस कांग्रेस में जो लोग आये थे, उन्होंने परम्परा के आधार पर अनेक कार्य किये। कई ने जैविक खाद तैयार करने का रास्ता लिया, कई ने जैविक खेती की आदि-आदि। उस कांग्रेस में, जैसे अनेक मन्त्रालय होते हैं, वैसे ही कई विभाग थे : जन व्यवस्थापन, स्वास्थ्य व्यवस्थापन, सिंचाई आदि। इसके विषय में सभी लोग यह बता रहे थे कि हमारे यहाँ चीज़ें ऐसे हुआ करती थी। इस पर भी यह आक्षेप आया कि इन सब व्यवस्थाओं से आधुनिक लोग तो अपना काम निकाल लेंगे, पर पारम्परिक लोगों का क्या होगा? उन लोगों की भलाई के लिए इस कांग्रेस से क्या निकल रहा है? हमें लगा कि यह आक्षेप उचित है, इसके लिए कुछ किया जाना चाहिए। हमने अगली कांग्रेस के लिए विभिन्न कलाओं में संलग्न लोगों के संगठनों से सम्पर्क किया। उदाहरण के लिए धनवन्तरियों के संगठनों से, विश्वकर्मा संगठनों से, पद्मशाली संगठनों से, प्रजापति संगठनों से। हमने चैन्नई में हुई इस दूसरी कांग्रेस के लिए इन संगठनों से दो साल तक सम्पर्क किया। इस तरह हमने प्रजापतियों, स्थपतियों आदि को कांग्रेस में बुलाने का प्रयत्न किया। ये सारे लोग चैन्नई कांग्रेस में आये। इनके आने से एक नयी बात निकली, वह भी एक आक्षेप था। यह कहा गया कि इन कारीगरों के संगठन कारीगरी की श्रेष्ठता की बातें अवश्य करते हैं लेकिन इनकी अपने पेशों के प्रति कोई प्रतिबद्धता नहीं है। इनके नेतृत्व से 'मैरिज ब्यूरो' जैसी चीज़ें खुली हुई हैं। इनका मुद्दा यह है कि इनका कोई प्रतिनिधि संसद में नहीं है या इनके सम्प्रदाय को आरक्षण मिलना चाहिए या इनके लोग बैंकों के संचालक मण्डल में होना चाहिए। ये लोग इस बात से चिन्तित थे कि सार्वजनिक क्षेत्रों में

इनकी उपस्थिति कम है। यह बात सच भी थी। इसका कारण यह था कि कारीगर लोग बिखरे हुए हैं और इसीलिए इनका कोई नुमाइंदा संसद आदि जगहों में नहीं है। इसका अपवाद ज्ञानी जेल सिंह थे। वे तर्खान थे। ये लोग लकड़ी का काम करने वाले एक तरह के विश्वकर्मा हैं। ये तक्ष से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। मैंने एक बार कोयम्बटूर में ज्ञानी जेल सिंह की मूर्ति देखी। मैंने सोचा यह यहाँ कैसे आ गये। बाद में यह पता लगा कि नयी दिल्ली स्टेशन पर विश्वकर्मा मन्दिर है, जिन लोगों ने नयी दिल्ली स्टेशन बनाया उन्हें अपना मन्दिर बनाने का भी अवसर दिया गया। इसी तरह अपने समुदाय के सदस्य की प्रतिष्ठा के लिए कोयम्बटूर में ज्ञानी जी की प्रतिमा स्थापित हुई। हमारे देश में कारीगरों की संख्या बहुत है। सन् १९०० तक ये लोग १८ से २४ प्रतिशत थे। आप चाहें तो इन्हें औद्योगिक जन कह सकते हैं या यह भी कह सकते हैं कि ये वे लोग हैं जो न कृषि से संलग्न हैं और न सेवा क्षेत्र में। पर ये कारीगर लोग बिखरे हुए हैं, इनका प्रतिनिधित्व कहीं नहीं है। इसीलिए इनका नेतृत्व तरह-तरह के आरक्षण पाने की कोशिश में लगा था। वे इस बारे में चिन्तित थे कि उनका आदमी संसद में कैसे आये। जेल सिंह इस सबका अपवाद थे इसीलिए विश्वकर्माओं में उनका बहुत नाम था, पूरे देश में उनका नाम था। आन्ध्रप्रदेश के चिराला क्षेत्र से एक जुलाहा सांसद बनता था। हम अपनी कांग्रेस के लिए उससे मिले थे। पर अब वह भी नहीं है। जुलाहों की समस्या समझने वाला कोई नहीं है। जुलाहों को धागे हैंक में चाहिए होते हैं। उनका काम स्पिण्डलों से नहीं चलता। जबकि बड़ी मिलों को कपड़ा बनाने के लिए स्पिण्डलों में ही धागा चाहिए होता है। इसलिए एक ऐसा कानून बना जिसमें कहा गया कि धागे को इन दोनों रूपों में आधा-आधा उपलब्ध कराया जाये। पर इस कानून का कभी पालन नहीं हुआ। धागा स्पिण्डलों में ही उपलब्ध होता रहा इसलिए जुलाहों को कपड़ा बनाने के लिए कच्चा माल उपलब्ध होना सीमित हो गया। जब इनके नेता हमारी कांग्रेस में आये, उन्होंने अपने पेशों में कोई रुचि नहीं ली। उनमें सिर्फ़ सामुदायिक कल्याण की बात होती थी कि शादी ब्याह ठीक से होना चाहिए और राजनीतिक प्रतिनिधित्व होना चाहिए वगैरह। हमने अपनी कांग्रेस में एक ऐसा अनुष्ठान परिकल्पित किया जिसे विश्वकर्माओं के अपने ब्राह्मण, विश्व ब्राह्मण ने सम्पन्न किया था। इसमें इन लोगों ने तरह-तरह के देवताओं का आह्वान कर यह शपथ ली कि सभी कारीगर समुदाय एक-दूसरे के निकट आ जायें और साथ ही इन्हें सम्मान मिले। इन दोनों प्रतिज्ञाओं में कठिनाईयाँ थीं। उदाहरण के लिए चर्मकार और विश्वकर्मा साथ आने को तैयार नहीं थे। चैन्नई में भारतीय तकनीकी संस्थान के निकट गाँधी मण्डप है। यह स्थान गाँधीजी की मृत्यु पर राजगोपालाचार्य की प्रेरणा से वहाँ के स्थपतियों ने बनाया था। लोक निर्माण विभाग और केन्द्रीय लोक निर्माण विभाग आदि के अधिकारियों ने इसका यह कहकर विरोध किया था कि स्थपतियों को मण्डप बनाने का अवसर नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि इन लोगों के पास उचित योग्यता नहीं है, ये लोग सिर्फ़ मन्दिर आदि बना सकते हैं लेकिन तब भी सी. राजगोपालाचार्य ने एक प्रमुख स्थपति को यह कार्य सौंपा। तब भारत नया-नया स्वतन्त्र हुआ था और यह हो सका था। इस तरह यूनानी एम्फीथियेटर के जैसा बड़ा-सा स्थायी मण्डप तैयार हुआ। हमने अपनी कांग्रेस का शुभारम्भ वहीं से किया और उसके वास्तूपुरुष का आह्वान किया। तब आक्षेप आया था कि हम लोगों की दिलचस्पी इन समुदायों के नेतृत्व की दिलचस्पी से

अलग है। इससे यह निष्कर्ष निकला था कि इनका राष्ट्रीय नेतृत्व अपनी श्रेष्ठता को छोड़ चुका है और हमें सीधे कारीगरों से सम्पर्क करना चाहिए। इस कांग्रेस में भी पहली कांग्रेस की तरह ही परम्परा के नाम पर काम करने वाले दो-ढाई हज़ार लोग आ गये और दो-तीन सौ कारीगर अपने संगठक के साथ भी आये। फिर भी बात वही रही, तब यह तय किया गया कि किसी विशेष अंचल में ऐसी कांग्रेस (सम्मेलन) की जाये और वहाँ के कारीगरों को ही इसमें शामिल किया जाये। इस तरह तीसरी कांग्रेस काशी में की गयी जिसमें स्थानीय कारीगरी को प्रमुखता दी गयी। वहाँ एक बाज़ार लगाया गया जिसमें पारम्परिक वस्तुएँ लायी गयीं जो आसपास के इलाकों में बनती थी। प्रश्न यह था कि इनका स्थानीय बाज़ार कैसे बने कि वे चीज़ें वहीं बनकर कैसे वहीं उपयोग में लायी जायें। इसके पीछे यह विश्वास था कि इस रास्ते इन कार्यों की श्रेष्ठता, प्रमुखता आदि रेखांकित हो सकेगी। यह कांग्रेस काशी में राजघाट पर गाँधी संस्थान में हुई थी। इसमें भी वही दो-ढाई हज़ार लोग आ गये। दिल्ली, मुम्बई, चैन्नई आदि शहरों से। इस कांग्रेस में कई अच्छी बातें भी निकलीं जैसे कि यह बर्फ़ कैसे बनती थी, यह प्रदर्शित किया गया। कलमें कैसे लगायी जाती थीं, इस कांग्रेस में यह भी बताया गया था कि जानवरों की बीमारी की किस तरह व्यवस्था की जाती थी। पर यह सब अधिकतर आधुनिक किस्म के आलेखों में बताया गया। इस कांग्रेस में भी चार सौ शोध पत्र पढ़े गये थे। वहाँ जो बाज़ार लगा, वह भी 'दिल्ली हाट' की तरह ही प्रायोजित था। इस तरह अंचलों में कोई विधायक शक्ति नहीं दिखी, सम्प्रदायों में भी विधायक शक्ति नहीं दिखी। परम्परा से जुड़े ढेरों व्यक्तियों में भी कोई विधायक शक्ति हो, ऐसा नहीं दिखा। फिर यह तय हुआ कि स्थानीय लोगों को आलेख आदि पढ़ने चाहिए। बाहर से यानी दिल्ली बम्बई से आकर लोग आलेख न पढ़ें। इस प्रतिज्ञा के साथ ओरछा में चौथी कांग्रेस हुई। इसमें यह तय किया गया कि यहाँ केवल बुन्देलखण्ड के लोग आएँगे। हमने इसके लिए ओरछा नरेश को पकड़ा और रामलला के मन्दिर में पण्डाल लगाकर यह कांग्रेस की। इसमें भी वही सब हुआ जो बाकी जगह हुआ करता था : तीन-चार सौ आलेख, कुछ प्रदर्शन आदि। आलेख वाचकों में सिंचाई विभाग के लोग, विद्यालयों के अध्यापक आदि आधुनिक लोग ही थे पर वे सब बुन्देलखण्ड के ही थे। वहाँ स्वतन्त्र बुन्देलखण्ड राज्य की माँग उठने लगी। हमने पूरे भारत को सौ-सवा सौ अंचलों में विभाजित कर रखा था। बुन्देलखण्ड उसमें सबसे बड़ा था जिसकी क़रीब तीन करोड़ आबादी थी। हमने उसके नक़्शे भी बनाये थे। ओरछा की उस कांग्रेस में यह प्रश्न उठा कि आप लोग कांग्रेस करके गायब हो जाते हैं। इसके बाद का कार्य उस क्षेत्र में कैसे हो सकेगा। हम लोग कोई भी प्रोजेक्ट नहीं लेते थे। बुन्देलखण्ड में हुई कांग्रेस में शामिल अधिकतर लोगों की दिलचस्पी विज्ञान और टेक्नालॉजी से ज़्यादा स्वतन्त्र राज्य में हो गयी थी। उस समय समाजवादी विचारक अरूण कुमार ने एक दिलचस्प बात कही थी कि अगर नेहरू देश के प्रधानमन्त्री बनने के स्थान पर इलाहबाद के मेयर बनते, भारत की स्थिति कहीं बेहतर होती। चन्देरी और आसपास के बुनकरों की स्थिति बहुत खराब थी। वहाँ पावर लूम्स आ गये थे और इस कारण बुनकरों की स्थिति और बिगड़ गयी थी। ये लगा कि संगठित कारीगरों को पकड़ना चाहिए क्योंकि इनमें अपनी कला में रुचि होगी और इसीलिए हमने अगली पांचवी कांग्रेस चिराला आन्ध्रप्रदेश में की। करीब सत्तर वर्षों से वहाँ बुनकरों के संगठन हैं। इन संगठनों के सहारे कांग्रेस

करने में यह लाभ होगा कि इनकी अपनी दिलचस्पी सामने आ जायेगी। साथ ही इनका संगठित समाज भी दिखायी देगा। पारम्परिक टेक्नालॉजी के वाहक लोगों का भरोसा भी इस तरह सामने आयेगा। ओरछा कांग्रेस में यह नहीं हो पाया था क्योंकि वहाँ लोग बुन्देलखण्ड को स्वतन्त्र राज्य का दर्जा दिये जाने के विषय में अधिक गम्भीर थे। चिराला कांग्रेस में हमने नक्सलियों के साथ बैठकर उनसे भी इज़ाजत ली थी। कांग्रेस में गदर भी आया था। उसने वहाँ गाना भी गाया था। कांग्रेस में हमने चार किलोमीटर लम्बा जुलूस भी निकाला था। आन्ध्रप्रदेश में काम करने वालों को कारुवृत्ति कहा जाता है। वहाँ यह बातें हुई कि ऐसे सम्मेलनों में विशेष पेशों के जानकार लोगों को सम्मिलित किया जाना चाहिए। वहाँ मछुआरों और चर्मकारों आदि के समुदाय के नेता भी आये पर कुछ हुआ नहीं। इन सम्प्रदायों के कुछ लोग रईस हो गये हैं, कुछ विदेश भी चले गये हैं। वहाँ के जुलाहों का संगठन ट्रेड यूनियन जैसा था। तब इनकी समस्याओं का भी पता चला। यह पता चला कि मास्टर वीवर (प्रमुख जुलाहा) बहुत शोषक संस्था है। इस सबमें मुझे यह समझ में आया कि अगर आपको कानूनन आर्थिक भूमिका अपनानी है तो या तो आपको 'सोसायटी' बनानी होगी या ट्रस्ट या कम्पनी। ये तीनों ही कानूनी व्यक्ति हैं। एक मानव की तरह आप स्वतन्त्र आर्थिक भूमिका निभा नहीं सकते। एक कारीगर अपने उत्पाद की ज़िम्मेदारी नहीं ले सकता। इसके लिए आपको किसी समूह का सदस्य होना होगा। सभी जुलाहों को सहकारी समूहों में संयोजित किया जाना चाहिए। सभी पारम्परिक कारीगरों को अगर आधुनिक अर्थव्यवस्था में कोई भूमिका निभाने की स्थिति में आना है तो उन्हें सहकारी संस्थाओं में नियोजित किया जाना चाहिए। उनके संगठनों की एक भीतरी संरचना है जिसमें 'प्रमुख जुलाहा' है, उनमें अध्यक्ष होते हैं, कुल मिलाकर इन संगठनों की संरचना फैक्ट्री जैसी ही है। यही धीरे-धीरे विकसित हुआ है। अगर आप पोचमपल्ली की बुनाई के क्षेत्र में जाएँगे या मध्यप्रदेश में चन्देरी की बुनाई के क्षेत्र में, आपको यही संरचनाएँ मिलेंगी। इसका कारण यह है कि इनमें काम में आने वाली कच्ची सामग्री नियन्त्रित है, बैंकों से मिलने वाले ऋण नियन्त्रित हैं और बाज़ार भी ऐसा ही है। सभी कुछ ऋण पर चलता है, नियन्त्रक लोग जुलाहों को कुछ मात्रा में धागे देते हैं और उनसे अपेक्षा करते हैं कि वे तयशुदा कपड़ा तैयार कर उन्हें वापस कर दें। यह एक प्रकार की उप-अनुबन्ध प्रणाली है। यह आधुनिक शोषणात्मक सम्बन्ध ही है। इस तरह का सम्बन्ध परम्परा में अनुपस्थित था। इस सम्बन्ध में परम्परा के संस्कार नहीं है। हमें उस कांग्रेस में ऐसे लोग मिले जो कह रहे थे 'लूम' की सबसे अच्छी बुनावट पारम्परिक है। उसमें इतनी तरह के नियन्त्रक होते हैं कि उसमें अमूमन बहुत परिष्कृत कपड़ा बनकर तैयार होता है। आधुनिक लूमों से ऐसा नहीं होता। इनसे कुछ ही तरह का कपड़ा तैयार हो सकता है। लोकव्यापी संस्कारनिष्ठ मंच तैयार करने की कहानी यहाँ आकर समाप्त हो गयी। लोग थक गये। जो दूसरा कार्य था गणित, तर्क और भाषा विज्ञान आदि में वह आज भी चल रहा है। इसका कारण यह है कि यह कार्य वैचारिक है।

उदयनः– आप लोगों ने विज्ञान और टेक्नॉलाजी सम्मेलन (कांग्रेस) का जो व्यापक प्रयोग किया था, उसके विफल हो जाने के क्या सैद्धान्तिक कारण आपको लगते हैं?

नवज्योतिः– हमें अपने इन प्रयोगों के दौरान यह समझ में आया कि जातियाँ आधुनिक विधान की देन है। धर्मपाल जी बताते थे कि जब पंजाब नया-नया बना, वहाँ हुई जनगणना में एक लाख बीस हज़ार जातियों की सूची बनी थी, यह घटना सन् १८७१ से पहले की है। इस समय जब बिहार-बंगाल में जनगणना हुई तो लगभग डेढ़ लाख जातियों के नामों की सूची बनकर तैयार हुई। इस सर्वेक्षण में सर्वेक्षणकर्ताओं ने जातियों के साथ-साथ व्यवसाय भी पूछा था। बाद में अंग्रेज़ों और उनके भारतीय सहयोगियों ने जातियों के नामों को व्यवसायों के साथ जोड़ दिया। मान लीजिए कुछ समुदाय गौ-सेवा से सम्बन्धित है। इस कार्य में हो सकता था कि करीब २५० जातियाँ लगी हों। पर उन्हें जोड़कर एक बड़ी जाति का नाम दे दिया गया। दरअसल हमारे यहाँ जाति का अर्थ कुल के अधिक क़रीब था। आज जिसे कुल कहते हैं जो किन्हीं सदस्यों की चिन्ता का क्षेत्र होता है जिसमें दो सौ या सवा दो सौ से अधिक लोग नहीं आते, उसे जाति कहा जाता था। यह ऐसे लोगों का समुदाय था जिनके विषय में उस समुदाय के बुजुर्ग तरह-तरह की चिन्ताएँ कर सकते थे। उदाहरण के लिए उस समुदाय के दादा या दादी समुदाय के बच्चों या वयस्कों की शिक्षा, विवाह और इसी तरह की अन्य बातों की चिन्ता कर सकते थे। इस चिन्ता का विस्तार दो सौ या सवा दो सौ लोगों से अधिक नहीं होता था। इसी से जुड़े हुए गोत्र होते थे। ये जातियाँ अपने को अलग-अलग नामों से बुलाती थी। पर जब जनगणना के बाद इन जातियों को विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध कर दिया गया, तब ये देखा गया कि इन तमाम जातियों में सबसे बड़ी जाति कौन-सी है। तब एक व्यवसाय से जुड़ी सभी जातियों को उसी जाति का नाम दे दिया। जैसे गौ-सेवा से सम्बद्ध सभी जातियों को एक जगह लाने के बाद जब यह देखा गया कि इनमें सबसे बड़ी संख्या में 'यादव' हैं, इन सभी जातियों को यादव नाम से सूचीबद्ध (शिड्यूल्ड) कर दिया गया। यह भारत की समूची जनसंख्या को सरल कोटियों में बाँधने की चेष्टा के कारण हुआ। कह सकते हैं कि भारत में जाति प्रथा यहाँ की जनगणना से उत्पन्न हुई है। जिस तरह 'मेगा डेम' (बड़े बाँध) बने वैसे ही मेगा कास्ट (बड़ी जातियाँ) बनी। इस तरह व्यवसायों के आधार पर करीब ४००० जातियों की सूची (शिड्यूल्ड) बनायी गयी। अंग्रेज़ों के समय उसी सूची पर बहुत सारे विवाद उठे थे। किसी ने कहा कि हम तो राजपूत हैं, और हम गाय का काम करते हैं, पर हम यादव नहीं हैं। उन जाति सर्वेक्षणों (जनगणना) में इस किस्म के सवाल भी पूछे गये कि आपके हाथ का पानी ब्राह्मण पीता है या नहीं। इस तरह आधुनिक भारतीय जाति व्यवस्था कोलकाता के फोर्ड विलियम में बैठकर तैयार हुई है। यह बात कि यह व्यवस्था बड़ी 'वैज्ञानिक' है और व्यवसायों से जुड़ी है दरअसल आधुनिक बात है। इस सबमें ब्रिटेन की 'रायल सोसायटी ऑफ साइंस' ने दिलचस्पी ली थी, उन्होंने सन् १६०१ के सर्वेक्षण के प्रारूप तैयार किये थे। इस तरह की जनगणना जिसमें जातियों का ज़िक्र होता था, सन् १६३१ तक होती रही। उसके बाद स्थिति बिगड़ गयी और यह रुक गयी। सन् १६६१ में जब जनगणना दोबारा हुई, जाति का सन्दर्भ नहीं रहा। इस तरह आधुनिक विधान के अन्तर्गत 'मेगाकास्ट' (महाजातियाँ) अस्तित्व में आयीं और फिर वे राजनैतिक वास्तविकताओं में परिवर्तित हो गयीं। इन्हें सूचीबद्ध (शिड्यूल्ड) किया गया। शिड्यूल्ड कास्ट वगैरह इसी तरह उत्पन्न हुई और फिर वह संविधान का भाग बन गयीं। इसे देखने पर हमें कहना होगा कि जिन अनेक चीज़ों को हम पारम्परिक

मानते हैं, वे दरअसल आधुनिकता का परिणाम हैं।

उदयनः– इसीलिए जब आप लोगों ने जाति के आधार पर जुलाहों आदि को एकत्र किया था, आप लोग आधुनिक कोटियों का उपयोग कर रहे थे ...

नवज्योतिः– इस तरह आधुनिक विधान को चुनौती देने के स्थान पर हमारे अधिकांश प्रयास आधुनिकता से ही परिसीमित हो जाते हैं।

उदयनः– तब फिर आधुनिक विधान को प्रश्नांकित करने का रास्ता क्या हो सकता है ?

नवज्योतिः– इन सब कांग्रेसों को करने के बाद यह लगा कि आधुनिक विधान को घरेलू बनाने का काम बड़े स्तर पर किया जाना है और यह सबसे पहले वैचारिक धरातल पर करना होगा। इस प्रयोग से मुझे भी कुछ सोचने का अवसर मिला। इन कांग्रेसों के कारण हम अनेकों जगहों पर गये और हज़ारों लोगों से मिले। मैं भारत और भारत के लोगों का रंग देख सका। पर इसमें मुझे लगा कि हम परम्परा में विज्ञान और टेक्नॉलाजी क्यों खोज रहे हैं। यह एक दोष था। हम यह खोज छोड़कर मानव-शास्त्र की ओर आ गये।

उदयनः– आपकी दृष्टि में वैकल्पिक आधुनिकता की क्या कोई सम्भावना है? अगर है तो उसका स्वरूप क्या हो सकता है ?

नवज्योतिः– आधुनिकता के विकल्प की मान्यता वैचारिक है। यह अभी तक देखने की बात है कि उसकी विधायक शक्ति कितनी है। उसकी वैचारिक सम्भावना तो वैध है पर वह सक्रिय हो सकेगा, यह देखा जाना बाकी है। आप गाँधी आश्रमों के हाल देखिए। उनकी आज क्या स्थिति है।

उदयनः– उन आश्रमों को पर्यटन स्थल बनाया जा रहा है। सेवाग्राम के साथ यही हो रहा है।

नवज्योतिः– सेवाग्राम में जुड़ी एक कहानी सुनाता हूँ। अधिकतर लोगों के साथ यह हुआ कि वे वैचारिक स्तर पर तो पारम्परिक दृष्टि में जुड़ना चाहते थे पर उनकी जीवन शैली पश्चिमी ही थी। वैचारिक स्तर पर यह करना एक तरह की बात है पर कुछ युवाओं ने यह तय किया कि वे सेवाग्राम जाकर खेती करेंगे, अपनी जीवन शैली भी बदलेंगे। ये लोग गाँधीजी से प्रेरित थे। ये चाहते थे कि गाँव में रहे और बच्चों को पढ़ाएँ। यह सब हमारी पीढ़ी के लोग नहीं कर सकते थे। वे गाँव में जाकर रहने को तैयार थे। उनमें से कुछ अमरीका रह आये थे। किसी ने कोई गाँव पकड़ लिया और झोपड़ी बनाकर रहने लगे। एक युवक और युवती आधुनिकता को धिक्कार कर हरिजन टालों में १५ साल बैठे रहे, बच्ची बड़ी हो गयी और उसके दबाव में उन्हे चैन्नई जाना पड़ा। ऐसे बहुत लोग थे। कोई कर्नाटक गया, कोई और कहीं। कोई तिब्बती भिक्षु बन गया। उन लोगों ने जीवनशैली के विषय में पहले निर्णय लिया, फिर विकल्प के बारे में सोचा। ये इस तरह के युवक-युवतियाँ थे। ये सेवाग्राम में बसना चाहते थे। उन

दिनों सिद्धराज ढड्ढा सेवाग्राम से सम्बद्ध थे और यवतमाल का जिलाधीश भी बेहतर आदमी था। वह भी वर्धा के अफ़सरों से मिलकर इस विचार का समर्थन कर रहा था। हमने कहा कि सेवाग्राम को विश्वविद्यालय बना दो। उसमें इन युवकों को बसा लो। वहाँ सेवाग्राम के पास कई सौ एकड़ ज़मीन है। हमने सिर्फ़ कुछ एकड़ ज़मीन इन युवकों के लिए माँगी, उसका भी मालिकाना अधिकार नहीं माँगा। हमने कहा, वहाँ ये लोग खेती करेंगे और साथ में पढ़ाई-लिखायी और जीवन निर्वाह। यह एक ऐसा विश्वविद्यालय हो सकता था जिसमें लोग जीवनशैली विषयक निर्णय ले सकते थे और सीखने-सिखाने का कार्य कर सकते थे। ऐसा विश्वविद्यालय बनाने का हमने प्रस्ताव रखा जहाँ ये युवक बैठ जाएँ। दिल्ली के भारतीय तकनीकी संस्थान की एक लड़की भी उस दल की सदस्य थी। वह वहाँ पाँच एकड़ ज़मीन में पूरे वर्धा शहर के कचरे को कम्पोस्ट खाद में बदलने की व्यवस्था कर सकती थी। उसने कहा कि जितना भी वानस्पतिक कचरा मण्डी आदि से आ रहा है, उसे खाद में बदला जाएगा। इस बात से वर्धा के प्रशासक भी खुश थे। इसके लिए आई.आई.टी. मुम्बई की जैविक टेक्नोलोजी भी तैयार थी। इस विषय पर सेवाग्राम में एक बैठक हुई, जिसमें सिद्धराज ढ़ड्ढ़ा थे, जो राजस्थान बनने के बाद उसके उद्योगमन्त्री रह चुके थे। बैठक में मैं भी था। सदस्यों से मैंने कहा कि इन युवकों ने इस कार्य के लिए अपना समूचा जीवन देने का निश्चय किया है। यह कहा गया कि आप इसके लिए जगह दे दीजिए। उन खेतों पर ठेके पर मजदूर लगे हुए थे। यह कहा गया कि इनके स्थान पर ये युवक खेती करेंगे और साथ में पढ़ाई-लिखाई करेंगे। ये लोग समझदार हैं, इन्होंने दुनिया देखी है। ये गाँधीजी से प्रेरित हैं। इनके माध्यम से यहाँ नवीन विचार-विमर्श हो सकेगा। सिद्धराज आदि लोगों ने निर्णय लिया कि ऐसा नहीं हो सकता। मैंने कहा कि यहाँ इस आश्रम को संरक्षित करने जापानी आ जाएँगे और तब यह एयरकन्डिशण्ड संग्रहालय में तब्दील हो जाएगा। पर वे नहीं माने। तब हमें समझ में आया कि इन सारी जगहों पर किस क़िस्म का नियन्त्रण है। तब यह भी पता चला कि गाँधीजी के नाम पर देश में लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति है। यहाँ हैदराबाद में भी उनकी लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति है। इन्हें कौन नियन्त्रित करता है? हमें यह समझ में आया कि इस नियन्त्रण के भीतर किस तरह की कल्पना सक्रिय है। वे स्वयं सिद्धराज ढड्ढ़ा बैठकों में चरखा चलाया करते थे। इस तरह के प्रतीकात्मक कार्य ही इन संस्थाओं में बाकी हैं। मैं एक कहानी सुनाता हूँ। गाँधीजी जब भारत लौटकर आए, उन्होंने यहाँ की स्थिति का अध्ययन किया, उन्होंने पाया कि ब्रितानी अर्थव्यवस्था ने कपड़ा उद्योग को पकड़ रखा है इसलिए यहाँ की बुनकरी डूब रही है। पर कृषि तो भारतीयों के हाथों में है, कपास तो हम लोग ही उगाते हैं, बुनकार भी हम लोग हैं इसलिए कपड़ा भी यहाँ बन सकता है। कपड़ा बनाने की प्रक्रिया में अंग्रेज़ों ने धागा बनाना पकड़ रखा था। वे किसानों से रूई लेकर धागा तैयार कर बुनकरों या मिलों को देते थे। गाँधीजी ने सोचा कि अगर हम उनके हाथ से यह कार्य ले लें, ब्रितानी अर्थव्यवस्था गिर सकती है। फिर यह खोज हुई कि यह कैसे किया जाए? चरखा दृश्य में आया, यह पता लगाया गया कि चरखा कहाँ होता है। कई तरह के चरखे खोजे गये। यह तीन साल की योजना थी, गाँधीजी को स्वयं पता नहीं था कि चरखा कैसा होता है। कई चरखे आये। उनमें से कुछ को उन्होंने स्वयं चलाकर देखा। फिर उन्होंने स्त्रियों से आग्रह किया कि वे उसे उठाएँ। फिर यह तय हुआ कि इसे सभी को करना

चाहिए। फिर काँग्रेस ने एक अध्यादेश पारित कर दिया कि अगर आपको काँग्रेस पार्टी का सदस्य बनना है तो आपको एक विशेष मात्रा में सूत कातकर देना होगा। उसमें कहा गया कि कुछ सेर सूत देने पर ही आपकी सदस्यता कायम रहेगी। कुछ ने इसे स्वीकारा, कुछ ने नहीं। पर इससे ब्रितानी अर्थव्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। फिर यह कहा गया कि चरखा साधना है, इससे चित्त शुद्धि होती है। यह भी कहा गया कि इसे राजाओं को भी चलाना चाहिए, रानियों को भी। सभी लोगों को यह चलाना चाहिए। यह सारा प्रयास सन् १९२८ तक चलता रहा। टैगोर ने एक चिट्ठी में लिखा कि चरखे से तो डल (फीका) मानस ही विकसित होता है। गाँधीजी ने इसका बहुत सुन्दर जबाव दिया। उन्होंने शुरू में कहा कि मेरे और आपके कथन में कोई अन्तर नहीं है। आप कलाकार हैं, आपके चारों ओर गोपियाँ हैं, आप जो भी काम करते हैं, बड़ा काम होता है। पर मेरा काम आपके काम से अलग है, मेरे पास टूटी-फूटी चीज़ें हैं, चप्पलें हैं, चरखा है, पर मैं इनसे राष्ट्र की रचना कर रहा हूँ। मेरा काम भी ठीक है, आपका भी। चरखा पूरी तरह राजनैतिक हथियार था। ब्रितानी अर्थव्यवस्था को गिराना था चरखे को लेकर। गाँधीजी जी चरखे के विषय में इसके पहले तक कुछ जानते नहीं थे, यह राजनीति से निकलकर आया है। गाँधीजी ने चिराला में उतरकर जुलाहों से कहा कि आप चरखा चलाओ और धागा भी बनाओ सिर्फ़ कपड़ा ही नहीं। अगर आप ऐसा करते हैं तो ब्रितानी अर्थव्यवस्था गिर जाएगी। जुलाहों ने कहा कि आप हमें धागा दिलवा दीजिए फिर हम चरखा चला सकते हैं। तब उनसे यह कहा गया कि आपकी औरतें बुनकरी में चरखा चलाकर धागा बनाएँ। इस पर जुलाहों ने जबाव दिया कि हमारी औरतें बहुत व्यस्त रहती हैं, वे यह नहीं कर पाएँगी। वे हमारा काम करती हैं, उनके बिना हमारी बुनकरी खत्म हो जाएगी। तब गाँधीजी ने यह वक्तव्य दे दिया कि जुलाहे अपने मुनाफ़े की सोचते हैं। उनमें देश के प्रति बलिदान की भावना नहीं है। उनके यह कहते ही वहाँ तहलका मच गया। उनके लोगों ने जैसे मगनलाल आदि ने कहा कि आपने यह कैसे कह दिया ? जुलाहों ने कहा कि बुनकरी करना हमारा व्यवसाय है। अगर हम इसे छोड़ेंगे, हम डूब जाएँगे। आप वह काम किसी और तरह से कराइये। हम अपना काम दूसरों के लिए करते हैं। अगर हम साड़ी बना रहे हैं तो किसी दूसरे को पहना रहे हैं। सबसे अच्छा काम अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए हुआ करता है। गाँधीजी का कहना यह था कि आप जो भी काम करो, उससे पहले अपनी आवश्यकता की पूर्ति करो, चूँकि आपकी आवश्यकताएँ कम हैं, बाकी का काम दूसरों के हिस्से आएगा। उनका इस क़िस्म का 'सामी' विचार था। यहाँ दो तरह की विचार भंगिमाओं में टकराव था। माँ पहले बच्चों को खिलाएगी फिर खुद खाएगी। उसी तरह मिस्त्री सबसे बढ़िया घर अपना नहीं, दूसरों का बनाएगा। इसी तरह बुनकर बढ़िया कपड़ा यजमान को बेचेगा। अगर वह सबसे अच्छा कपड़ा खुद पहनने लगा, उसकी कला खत्म हो जाएगी, उसका शास्त्र खत्म हो जाएगा। पर गाँधीजी का कहना था कि पहले अपने लिए करो फिर जो बच जाए उससे दूसरे का। इस विवाद की पृष्ठभूमि में कई लोगों ने गाँधीजी पर दबाव डाला। बुनकरों ने उन्हें सलाह दी कि चूँकि आपको लोग नहीं मिल रहे, इसलिए आप कपास लगाने वाले गाँवों में मशीनें लगा लो और वहीं धागा बनाओ। उसके बाद एक प्रतियोगिता आयोजित की गयी जिसमें ऐसे चरखों के मॉडल्स को आमन्त्रित किया गया जिनमें कपास के गोले डालने पर

धागा बनकर निकलता। यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता थी और इसमें श्रेष्ठ चरखे को एक लाख रूपये का पुरस्कार घोषित किया गया। गाँधीजी बड़ी मुश्किल से इसके लिए राज़ी हुए। वह शायद दुनिया की पहली टेक्नालॉजी डिज़ाईन की प्रतियोगिता थी। सी. राजगोपालचारी इसके मन्त्री बने और गाँधीजी अध्यक्ष। उसमें कुछ शर्तें भी थीं कि एक स्त्री उसमें कुछ खास मात्रा में बिना थके सूत बना पाए और उसकी मरम्मत में कुछ निर्धारित पैसों से अधिक खर्च न आये। इस प्रतियोगिता में ये सभी शर्तें रखी गयीं। इसे 'हरिजन' में विज्ञापित किया गया। किसी ने कहा कि ऐसी मशीनें अमरीका में बनी हुई हैं। बहुत सारे ड़िजाइन्स आये, पर हरेक में त्रुटि निकाल दी गयी। किसी को भी स्वीकार और पुरस्कृत नहीं किया गया। अगर ऐसी कोई मशीन मिल गयी होती, हिन्दुस्तान का इतिहास कुछ और होता। जैसे अगर नेहरू प्रधानमन्त्री होने के स्थान पर इलाहबाद के मेयर होते तो भारत का इतिहास कुछ दूसरा होता। अगर इस मशीन को बनाने के लिए कुछ अधिक समय दिया गया होता तो हो सकता था कि गाँव-गाँव में धागे तैयार होने लगते। उससे जुलाहों का समाज भी बना रहता और औद्योगिक भारत भी बनता। तब औद्योगिक भारत की परिकल्पना नहीं थी।

उदयनः– गाँधीजी के पास ...

नवज्योतिः– हाँ, गाँधीजी के पास। इसलिए बड़ी संख्या में कारीगर और पण्डित स्वतन्त्रता आन्दोलन से दूर रहे आये। यह सच है कि पण्डित मदनमोहन मालवीय जैसे पण्डित राष्ट्रीय आन्दोलन में थे पर उदाहरण के लिए कोई मीमांसक या इस क़िस्म का कोई आचार्य उसमें नहीं था, न ही कोई कारीगर थे। सन् १९४२ तक गाँधीजी ने तीन-चार बार खीजकर कपड़ा जलाने का कार्यक्रम बनाया। टैगोर ने उस पर आपत्ति ली। जले कपड़े पर हिन्दुस्तान कैसे खड़ा होगा !

उदयनः– उनका एक पूरा उपन्यास 'घरे बाहिरे' इसी विषय पर आधारित है।

नवज्योतिः– पर सन् १९४२ के बाद यह पूरा देश जले हुए कपड़े पर ही खड़ा है। अगर जले हुए कपड़े पर भारत खड़ा होगा तो उसका क्या विधान बनेगा ?

उदयनः– क्या आप यह कह रहे हैं कि गाँधीजी के मन में तमाम विवरणों के साथ पारम्परिक भारत का चित्र नहीं था ?

नवज्योतिः– नहीं, वह था। गाँधीजी तमाम राजनीति को अपना शरीर मानते थे। अगर कहीं आग लगी है तो उनके शरीर में किसी स्थान पर दर्द हो जाता था। उनकी यह मान्यता थी। इस सबके बीच वे चाहते थे कि ग्राम स्वराज बने। पर ग्राम स्वराज में एक पेशेवर कारीगर की क्या भूमिका होगी, यह वे निर्धारित नहीं कर पाये क्योंकि उनके नैतिक सिद्धान्त पेशों के नैतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध जा रहे थे। आपको काम किसके लिए करना है, वह तो दूसरों के लिए होता है, जजमानों के लिये पर गाँधीजी कह रहे थे कि पहले अपने लिए करो। वे कह रहे थे कि पाखाना उठाने का क्यूँ व्यवसायीकरण किया जाए ? आप

अपना पाखाना खुद साफ़ करें। गाँधीजी यह सोचते थे कि इससे पाखाना साफ़ करने वाले का तिरस्कार रुकेगा। वे इसी तिरस्कार के पीछे चल रहे थे। गाँधीजी की आधुनिकता इसी बात में है कि हरिजन का सम्मान इस बात में है कि आप अपना कार्य स्वयं करें और आपकी ज़रूरतें कम है इसलिए आप अधिक चीज़ें बनाएँगे, ये जितनी अधिक चीज़ें बनायी जाएँगी, दान के लिए होंगी, आप अपना कार्य खुद कर रहे हैं, इसलिए आपको किसी से कुछ नहीं चाहिए। इस समाज में इस क़िस्म का दान होगा, आप देश के लिए बलिदान देंगे। राष्ट्रीय बलिदानी मानस यहीं से आता है। गाँधीजी के मन में साथ रहने की बड़ी प्रतिष्ठा थी, जो उन्होंने अपने घर में देखा था, अपनी माँ में देखा था और उन जैन मुनि में देखा था जिनके प्रवचन सुनने उनकी माँ जाया करती थी। यह जो वैष्णव क़िस्म का बन्धन है, बड़ा पारम्परिक है। गाँधीजी भक्ति परम्परा से आते हैं। एक तरफ ये और दूसरी तरफ सामुदायिकता के पश्चिम में तैयार हुए विचार, जो उन्होंने रस्किन आदि की पुस्तकों में पढ़े थे और 'शाकाहारी समूह' आदि का उन पर असर हुआ। यह सामुदायिक रूप से जीवन बिताने का विचार यूरोपीय है, यह कुछ-कुछ मठ में रहने जैसा है। गाँधीजी के लिए गाँव ही मठ का रूप ले लेता है। पश्चिम और परम्परा का सशक्त मिश्रण गाँधीजी ने बनाया और यह मिश्रण राजनैतिक रूप से अत्यन्त बलशाली था। ऐसा मिश्रण भारत में बन सकता था पर यह आधुनिक है। यह भारतीय आधुनिकता का रूप है।

उदयनः– पर इस व्यवस्था में पारम्परिक कारीगरों और अध्येताओं का अलगाव अनिवार्य है...

नवज्योतिः– हाँ, यहाँ उनके साथ अन्याय होगा।

उदयनः– क्या यह करने से यह नहीं हुआ कि समाज की बौद्धिक और व्यवहारिक शक्तियों के बीच अलगाव हो गया ?

नवज्योतिः– यह उसका परिणाम था पर ऐसी नीयत नहीं थी। गाँधीजी तो यह कह रहे थे कि ग्राम स्वराज हो और उसमें सब शामिल हों। उसमें हथकरघा आदि सब बने और पहले खुद की आवश्यकता की पूर्ति हो, फिर बाहर कुछ भेजा जाए। उन्होंने तो गाँव को इसी तरह परिकल्पित किया और इस परिकल्पना में कारीगर आपके सहयोगी नहीं है, आपके सहयोगी पण्डित और अध्येता नहीं हैं।

उदयनः– इसका क्या परिणाम निकला ?

नवज्योतिः– यहाँ इन लोगों के साथ अन्याय हुआ पर तब भी यह दृष्टि आधुनिकता और परम्परा का सम्मिश्रण है और इसीमें से रास्ता खुलना है। इसमें एक बात मुझे लगती है, जो गाँधीजी को स्वीकार्य होगी, वह यह है कि आप न्याय देने के अधिकार का विकेन्द्रीकरण करें, वह केवल सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय आदि के पास न रह जाकर गाँव तक पहुँच जाए। इससे शुरू में हो सकता है कुछ हिंसा हो पर बाद में यह नहीं होगा। अभी सारे विवाद इकट्ठा होते जा रहे हैं, इससे समाज में निष्क्रियता बढ़

रही है। आप अमरीका को देखिए, वहाँ बहुत थोड़े से मुकदमे सर्वोच्च न्यायालय तक पहुँचते हैं। वहाँ ज़्यूरी की व्यवस्था है। वह एक तरह की अस्थायी पंचायत है, उसके पास न्याय देने का अधिकार है। यह गाँधीजी को स्वीकार्य होता। पर गाँधीजी ने कहा नहीं। स्वतन्त्रता आन्दोलन के अधिकतर नेता अंग्रेज़ी ढंग के वकील थे। गाँधीजी में भी न्याय की परिकल्पना बहुत केन्द्रीकृत है। न्याय को मुझ पर आकर रुकना चाहिए, यह नहीं कि वह स्थानीय स्तर पर सम्भव हो पाये।

उदयनः– इस केन्द्रीकृत न्याय व्यवस्था का उत्स कहाँ है ?

नवज्योतिः– वह रोम से अधिक रेनेसाँ और इनलाइटनमेंट में है। न्याय और अर्थव्यवस्था का केन्द्रीयकरण वहीं है और इसका भी उत्स रोम से अधिक यूनान में है। यूनान में नागरिकों और अन्यों के बीच विभाजन किया गया। नागरिक नगर की सीमा के भीतर रहते थे और उनकी न्याय व्यवस्था केन्द्रीकृत और लोकतान्त्रिक थी पर अन्यों की न्याय व्यवस्था यूनानी विमर्श से बाहर थी। प्लेटो के एक इयूथीफ्रो संवाद में यह प्रश्न उठाता है कि अन्यों की न्याय व्यवस्था कैसी हो ? उन्हें प्रकृति के भरोसे छोड़ दिया। आप कुछ लोगों के प्रयासों को ही समर्थन दे सकते हैं, सभी लोगों के प्रयासों को समर्थन देना सम्भव नहीं। इसी विचार से नगर का जन्म हुआ। कलियुग में यह बात आयी कि हरेक को लेकर यह युग नहीं चलेगा, आप सभी के प्रयत्नों को समर्थन नहीं दे सकते, केवल कुछ विशेष लोगों के साथ ऐसा कर सकते हैं और तब बाकी लोग इन प्रयत्नों को पूरा करने की आधार सामग्री में परिवर्तित हो जाएँगे। मतलब वे उन विशेषों के लिए कार्य करेंगे। उदाहरण के लिए नगर का खाना नगर के बाहर से आता है। बाहर के लोग ही उसकी व्यवस्था करें और नगर के लोग दार्शनिक विचार करें, कला का सृजन करें आदि। एक दूसरा विचार यह आया कि शिष्ट व्यक्तियों का बाकी लोग दामन थाम लें, उसको छोड़ना नहीं है, ये पैगम्बर वाले लोग हैं। तीसरा विकल्प यह था कि आप शिष्ट लोगों की स्मृतियों को थामे रहें, उसे भ्रष्ट न होने दें, यह सनातन रास्ता है। इन तीनों रास्तों से ही कलियुग में धर्म चलेगा। पहला रास्ता यूनानी नगर का है, दूसरा सामी सभ्यताओं का और तीसरा हमारी सनातनी व्यवस्था। हमारे यहाँ इन्द्र को 'पुरन्दर' कहते हैं, वह नगरों को तोड़ता है, बाँधों को तोड़ता है, पानी को बहने देता है। जैसे वृत्रासुर ने सारा पानी पी लिया था और इससे त्राही त्राही मच गयी थी, तब इन्द्र ने उसका वध कर पानी को मुक्त किया। सनातनी सभ्यता स्मृति मूलक और असुरों से देवताओं के संघर्ष को लेकर बनी है। यूनानी सभ्यता का आधार नगर है। आजकल दुनिया का नगरीकरण या शहरीकरण हो रहा है, आधुनिकता का विधान शहर है। भारत में भी यही हो रहा है। यहाँ ये प्रश्न है कि कौन-सी ज़मीन बेचना है, किसका विवाह कहाँ होना है, किसे कौन से शिक्षा संस्थान में जाना है, इलाज के लिए किसको कहाँ भेजना है। इन सारी बातों के निर्णय दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता, चैन्नई की बैठकों में होते हैं, सारे देश के लिए। यह बात कि भारत गाँव में रहता है और हम कृषि प्रधान देश हैं, एक मिथक है। भारत को कृषि प्रधान कहना एक तरह की निर्मिति थी। भारत चिरकाल से औद्योगिक देश रहा है। कृषि यहाँ का दूसरे नम्बर का पेशा रहा है। यहाँ बहुत कृषि नहीं थी। हम औद्योगिक और पेशेवर समाज रहे हैं। यहाँ सारे कार्य-कौशल थे, व्यवसाय थे। यह देश कृषि प्रधान औपनिवेशिक होने

के बाद बना है।

उदयनः– क्योंकि अंग्रेज़ों ने भारत की कारीगरी को क्षति पहुँचायी है ?

नवज्योतिः– सारे कारीगर कृषि पर गिर पड़े। जब सारा राजस्व केन्द्रीकत हो गया, स्थानीय राजस्व समाप्त हो गया, यजमानी व्यवस्था टूटने लगी और उसके टूटने के साथ ही सारे कारीगर कृषि पर निर्भर हो गये। वही कारीगर लोग आज दलित बने हुए हैं। उस अवधि में हड़पने की जो चालाकी शुरू हुई, वही आज के भ्रष्टाचार का मूल है।

उदयनः– क्या आप सोचते हैं कि इस व्यापक शहरीकरण के फलस्वरूप हमारी पेशेवर होने की सम्भावना दोबारा चरितार्थ हो सकेगी ?

नवज्योतिः– हिन्दुस्तान का कारीगर सड़क पर आ गया है। यह आठवें दशक तक हो गया था। जो कोई कारीगर चार सौ पाँच सौ कमा लेता है, तकनीकि सम्पन्न मानस था, वह सड़क पर आ गया था। उसने गाँव छोड़ दिया था। जो लोग गाँव नहीं छोड़ पाये, जो मिट्टी का काम करते थे, मसलन कुँआ खोदने वाले आदि वे खेती में चले गये। भारत में खेती कभी भी मुख्य कार्य नहीं रहा। यह तो अधिकतर झल्ले किया करते थे। कृषि प्रधानता इस देश में इसके विनष्ट होने के बाद प्रमुख हुई। यजमानी टूटने पर ऐसा हुआ और फिर अंग्रेज़ों की तैयार की गयी जातिप्रथा जनगणना के कारण अस्तित्व में आयी। उन्हें तो दफ्तरों में बैठकर तैयार किया गया था। सूचियाँ (शिड्यूल) बनायी गयी, उससे आज की जाति व्यवस्था स्थापित हो गयी। इस सबमें आधुनिक विधायक शक्ति दिखायी देती है और इससे जुड़ी कहानियों में यह भी दिखायी देता है कि परम्परा इससे किस तरह जूझ रही है। क्या ये नगर अगले हज़ार साल तक चल सकेंगे। इस सवाल पर इन शहरों में परम्पराओं की सम्भावना का भविष्य निहित है। एक और बात ध्यान देने योग्य है कि शहरीकरण का विपरीत कृषि नहीं है। अब तो १२० मंजिली इमारतों में खेती हो सकती है। न्यूयॉर्क में हो रही है, वहाँ वे जो सब्ज़ियाँ उगाते हैं, वे अधिक महँगी होती हैं, उनमें कीटनाशक दवाईयाँ नहीं होतीं। हमारे देश के अनेक वनवासियों के यहाँ गाँव को लेकर अनेक कहानियाँ और गीत हैं। जिनमें कहा जाता है कि गाँव में लोग चूटियाँ काटते हैं और चुगलियाँ करते हैं और इससे तंग आकर उन लोगों ने वन में रहना तय किया। वनवासियों ने प्रतिज्ञा करके वन को थामा है। ऐसा नहीं कि विकास के क्रम में वे पीछे छूट गये हों। लोगों ने सजग रूप से जंगल को पकड़ा है। भारत का समाज कृषिप्रधान न होकर सेवा-प्रधान रहा है। यहाँ के अधिकतर लोग सर्विस सेक्टर में रहे हैं। तीस प्रतिशत निर्माण कार्य में संलग्न थे। सारी दुनिया भारत को निर्मिति प्रधान (मेनुफेक्चरिंग) देश के रूप में जानती थी। अब इसे कृषि प्रधान कहा जाने लगा है। क्या होगा जब नगर की सीमाएँ टूट जाएँगी। क्या कुछ लोगों को विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए अन्य लोगों को आधार बनाना आवश्यक है, या यह आवश्यक नहीं। एक झाड़ के नीचे बैठकर मनुष्य श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर सकता है, अकेला, बिना किसी अधिसंरचना के। दूसरी दृष्टि यह है कि श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए उसे अन्य लोगों को आधार बनाना आवश्यक है। हम सब बहुत-सा काम करते हैं ताकि हमारी

संस्थाओं के प्रमुख प्रकाशित हो सकें, यही नगर का विचार है। क्या कोई ऐसी समाज नीति हो सकती है जहाँ बिना लोगों को आधार बनाए, श्रेष्ठता का उत्सव मनाया जा सके। अगर आपको कोई मन्दिर बनाना है या श्राद्ध करना है, कई लोगों को साथ आना ही होगा पर ये सारे इन्फ्रास्ट्रक्चर अस्थायी होंगे। जैसे लम्बे समय तक भारत में सेनाएँ भी अस्थायी थीं, युद्ध के अवसर पर लोग इकट्ठा हो जाते थे। मूलतः बात यह है कि एक अकेला व्यक्ति अपने आप में श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है।

उदयनः– यह सनातन दृष्टि है।

नवज्योतिः– इसे कुछ लोग आसामाजिक कह रहे हैं, पर ऐसा है नहीं। भविष्य में ऐसी व्यवस्था बनेगी ...

उदयनः– यह सम्भावना सनातन दृष्टि के कारण बनेगी।

नवज्योतिः– मुझे इस सन्दर्भ में गन्धार के इलाके का अध्ययन बेहद महत्वपूर्ण जान पड़ता है। ऐसा करना एक बड़ी योजना हो सकती है। अफ़गानिस्तान, ईरान, ईराक, तुर्की, यूनान आदि के अध्ययन में ही इस प्रश्न की गुत्थी सुलझेगी। चीन की अभिव्यक्ति के विषय में कुछ स्पष्टतः पता नहीं है। यह पता नहीं चलता कि यह नया उभरता हुआ चीन दुनिया से क्या कहना चाहता है। पश्चिम के बारे में हम जानते हैं कि वह क्या कहना चाह रहा है। भारत के बारे में भी यह सच है पर चीन के विषय में अस्पष्टता है। वह तेज़ी से बढ़ रहा है और यह कहता लग रहा है कि हम आपका लोटा बनाएँगे, आपका फ़्रिज, टूथपेस्ट आदि बनाएँगे, ये सब हम देंगे। पर यह 'हम देंगे' की बात तो गाँधीवादी है। पर यह तो विश्व को देने लायक कोई सन्देश नहीं है। बात यह है कि आप अपनी कला में क्या कर रहे हैं और अन्य अनुशासनों में विश्व से क्या कह रहे हैं, यह स्पष्ट नहीं हो पाता।

उदयनः– आप यूनान और तुर्की आदि के अध्ययन में दुनिया की गुत्थी की बात क्यों कर रहे हैं ...

नवज्योतिः– यूनान का सम्बन्ध गन्धार से है, यह तक्षशिला से सम्बन्धित है। मेरे विचार से जिसे कला कहते हैं, उसका जन्म ही यहाँ हुआ है और कला में ही बिना किसी अधिसंरचना के सृजनात्मकता सम्भव है। आधुनिक विज्ञान में, तकनीकि में अधिसंरचना का होना आवश्यक है। ऐसी कलाएँ जो भविष्य के लिए अपने चिन्ह छोड़ती है जैसे चित्रकला और शिल्प उनका उद्गम स्थल गन्धार अंचल ही है। प्रदर्शनकारी कलाएँ अपने चिन्ह नहीं छोड़तीं, वे पीढ़ियों के सहारे चलती हैं। गन्धार संस्कृति सिन्ध और पंजाब तक फैली थी। इस इलाके में भी युनानी भाषा प्रचलित थी। अगर यूनानी को देवनागरी में लिखेंगे, अपनी-सी लगेगी। पंजाबी का 'तरखाण' शब्द और यूनानी का 'टेक्ने' शब्द एक ही जगह से निकले हैं। ये वैदिक शब्द 'तक्ष' से बने हैं। 'तक्ष' का आशय 'टेक्ने' है जिससे 'टेक्नालॉजी' शब्द बना है। आजकल तरखाण और टेक्नोलाजिस्ट के बीच बड़ा अन्तराल आ गया है, अब लोग मानने लगे हैं कि तरखाण मूर्ख होता है, ज्ञानवान तो टेक्नोलॉजिस्ट होता है। पर वैचारिक रूप में असल में ये दोनों एक ही हैं। पर अब इन्हें अलगा दिया गया है। तरखाण को नगर के बाहर कर दिया गया है। वह शहर भ्रमण के लिए आता है हर दिन और लौट जाता है। टेक्नोलॉजिस्ट नगर में रहता है और उसका निजी

जीवन सार्वजनिक है क्योंकि उसकी निजताओं का सार्वजनिक परीक्षण होता है। जबकि तरखाण अपने घर पर क्या करता है, इससे किसी को कुछ लेना-देना नहीं है, उसकी निजता नियमों द्वारा संरक्षित होती है। यह आधुनिक व्यवस्था है। नगरों का यह जो विचार उत्पन्न हुआ जिसके अन्तर्गत नगर-राज्य बने और संविधान की व्यवस्था हुई, ये सब तरफ थे, उन्हें कई बार तोड़ा गया है, पर्सी पोलिस को मेसिडोनियायी लोगों, सिकन्दर ने तोड़ा। आज हमें नगर तोड़ने की आवश्यकता है, इसका अर्थ यह नहीं कि उन पर बम गिरा दिये जाएँ पर कोई रास्ता खोजना होगा। गन्धार को समझने से ही भविष्य की गुत्थी सुलझेगी।

उदयनः– क्या आप यह कह रहे हैं कि अधिसंरचना पर निर्भर श्रेष्ठता प्राप्त करने की जो व्यवस्था है, अगर वह टूट जाए, नगर टूट जाएँगे।

नवज्योतिः– यूनान का यह विचार था। उस समय एक ऐसा विवाद हुआ था। ये यूनानी और बौद्ध के बीच गन्धार अंचल में बहस हुई है। उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता पर यह सचमुच हुई है, मुझे इस पर इतना विश्वास है कि मुझे लगता है कि मैं भी उस बहस में शामिल था। उस बहस में यह हुआ कि राजा संघ के अन्दर होगा या उसके बाहर। यूनान ने कहा कि वह संघ के अन्दर होगा, संघ का अर्थ वे लोग हैं जो श्रेष्ठता प्राप्त करने के प्रयास में लगे हैं। संघ का विचार ही नगर का विचार है। अगर राजा संघ के भीतर है तब संविधान अस्तित्व में आ जाता है, नगर-राज्य बनते हैं जैसे आधुनिक भारत में बने हैं। अगर राजा संघ के बाहर है, तब आपको बौद्ध व्यवस्था मिलेगी, जैसी चीन में, कोरिया में, जापान आदि में रही। तिब्बत की स्थिति थोड़ी अलग है, वहाँ राजा सांघिक है। पंजाब में भी स्थिति विचित्र थी। वहाँ मीरी और पीरी को एक करने का विचार आया था। वहाँ के आतंकवाद का यही कारण है। तिब्बत इससे अलग है क्योंकि वहाँ दलाई लामा के अनुसार आतंकवाद उत्पन्न नहीं हो सकता। वहाँ के लोग आत्मदाह करते हैं। एक दिन दलाई लामा टेलीविज़न पर कह रहे थे कि वे आत्मदाह करने वाले लोगों का कुछ नहीं कर सकते। पर चीन शक्तिशाली है। तिब्बत मीरी और पीरी को जोड़ने में लगा रहा। सिक्खों में भी ऐसा ही था। बौद्धों के मानस में यह विचार बहुत पहले से स्पष्ट था कि राजा को संघ के बाहर होना चाहिए। अशोक ने संघ के बाहर रहकर उसे प्रोत्साहित किया था। भविष्य की राजसत्ता में केन्द्रीय सत्ता श्रेष्ठता का प्रयास करने वालों के दायरे से बाहर स्थित होगी। श्रेष्ठता को प्रोत्साहन राज्य सत्ता के बाहर से मिलेगा जैसा कि पहले हुआ करता था और उपनिवेशवाद ने इसे बदल दिया और श्रेष्ठता को आश्रय देने का कार्य राज्य ने अपने ऊपर ले लिया। वह राजस्व के बँटवारे पर आ गया। बौद्ध विचार यह है कि राजस्व के स्रोत के स्थान पर साधारण लोग श्रेष्ठता को आश्रय दें। बौद्ध भिक्षु भिक्षा के लिए जाते थे, यानि यह वह व्यवस्था है जो भिक्षा वृत्ति पर चलती है। नाचने-गाने वाले लोग भिक्षा वृत्ति वाले ही हैं, उन्हें राजसत्ता आश्रय नहीं देती केवल प्रोत्साहन देती है। भिक्षु संघ वाले ही हैं, उन्हें राजसत्ता आश्रय नहीं देती। राजसत्ता संघ के बाहर रहेगी, इस विषय में जो बहस हुई है, उसका प्रमाण नहीं मिलता। कोई इस पर नाटक कर सकता है। मुझे अक्सर लगता है कि नाटक वास्तविकता से अधिक वास्तविक है। अगर उस बहस पर नाटक किया जाए तो

वह कहीं अधिक वास्तविक लगेगा। उससे जुड़ी सामग्री मिलती नहीं है पर अगर बीच-पच्चीस लोग उसमें जुट जाएँ तो मिल जाएगी। आधुनिक समय में भी कुछ ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें यह मुद्दा आया है। इसका उदाहरण मैं इन्दिरा गाँधी की हत्या की साजिश के मामले की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा की गयी विवेचना में देता हूँ। एक लड़का सतवन्त सिंह और एक चालीस वर्षीय बेअन्त सिंह, जो श्रीमती गाँधीजी के रक्षक थे, ने उन्हें गोली मार दी। यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं थी। यह बहुत बड़ा काण्ड था। उन्हें तो लोग दुर्गा कहते थे। इस साजिश को समझने बहुत लोग लगे, सारी खुफिया एजंसिया वगैरह। सतवन्त सिंह इन्दिरा गाँधी के घर और दफ़्तर के बीच तैनात हुआ करता था। वहाँ उसने एक बाज को आकर बैठता देखा। इस पर सतवन्त सिंह का ध्यान गया और उसने बेअन्त सिंह से इसका आशय पूछा। बेअन्त सिंह धार्मिक व्यक्ति था, उसे लगा यह गुरू गोविन्द सिंह जी का बाज है और वह हमें कुछ कह रहा है। तब तक ऑपरेशन 'ब्लू स्टार' हो चुका था। बेअन्त सिंह का चाचा था, केहर सिंह। केहर सिंह बेअन्त सिंह को लेकर अमृतसर के हरमन्दर साहब गया था। वहाँ एक अनुष्ठान सम्पन्न कराया, जिसे 'अमृत छकना' कहते हैं। इसमें हरमन्दर साहब की दो-चार पानी की बूँदे मुँह में डाली जाती हैं। इस समय आप यह शपथ लेते हैं कि अब से मैं अपने शरीर की चिन्ता नहीं करूँगा। इस तरह आप अमर हो गये। साजिश यह पायी कि केहर सिंह ने बेअन्त सिंह से यह अनुष्ठान कराया इसलिए उसने राजसत्ता का एक सम्भावित शत्रु उत्पन्न कर दिया क्योंकि अगर आप अपने शरीर की चिन्ता नहीं करते, आपको दण्ड नहीं दिया जा सकता। सारा दण्ड विधान और पद्धतियाँ यहाँ आकर विफल हो जाएँगी। चूँकि केहर सिंह ने बेअन्त सिंह से यह अनुष्ठान कराया था, वह साजिशकर्त्ता था, उसने राजसत्ता का एक ऐसा शत्रु सचमुच उत्पन्न कर दिया, जो इन्दिरा गाँधीजी का रक्षक था। इसलिए केहर सिंह को फाँसी दी गयी। यह बहुत प्रसिद्ध मुकदमा है। वकीलों ने इसके विरूद्ध यह तर्क दिया था कि अगर न्यायालय ऐसा दृष्टिकोण अपनाएगा कि ऐसी शपथ लेने से राजसत्ता का भात्रु निर्मित होता है तब आपको देश की बड़ी जनसंख्या को मताधिकार से वंचित करना होगा क्योंकि कई जैन, बौद्ध, इस्लाम, सनातन आदि अनुष्ठानों में ऐसी शपथ ली जाती है। तब वे सभी राजसत्ता के सम्भावित शत्रु हो जाएँगे। उन्होंने कहा, ऐसा करना संविधान के विरूद्ध होगा। दूसरा तर्क यह था कि उसने भले ही यह शपथ ली हो पर वह अपने शरीर की देखभाल तो करता रहा था, साँस लेता रहा था, पानी पीता रहा था, इसलिए इस शपथ को गम्भीरता से नहीं लिया जाना चाहिए। यह महज एक धार्मिक अनुष्ठान है और इससे राजसत्ता का शत्रु उत्पन्न नहीं होता। इस किस्म के तर्क दिये गये थे पर न्यायालय ने यह कहा कि शरीर का बलिदान नगर-राज्य के विरूद्ध है क्योंकि इस स्थिति में कोई भी राजनैतिक व्यवस्था चल नहीं सकती। तब आप कानून को अपने हाथ में ले सकते हैं। इस शपथ के साथ आतंकवाद जुड़ जाएगा। ओसामा बिन लादेन जैसे लोगों ने ऐसी शपथ ली हुई है। ये लोग नागरिक नहीं है। इसीलिए आधुनिक व्यवस्था आतंकवादियों को सबसे बड़ा शत्रु मानती है।

xx xx xx

उदयनः– आप संविधान लेखन में नन्दलाल बोस के चित्रों की उपस्थिति के विषय में बात कर रहे थे और साथ ही उनका अभिप्राय भी बता रहे थे। हमें आज की बातचीत उसी से शुरू करनी चाहिए।

नवज्योतिः– संविधान के सभी बाईस अध्यायों की शुरूआत में एक चित्र है। कुछ दो-तीन और चित्र भी हैं। संविधान का पहला लेखन रामपुर के किन्हीं लोगों द्वारा किया गया था। वह हस्तलिखित था। उसके हर पृष्ठ को उन्हीं लोगों ने सजाया था। उन्हीं पृष्ठों पर ये चित्र बने हैं। संविधान की इन्हीं हस्तलिखित प्रतियों के नीचे सभी संविधान निर्माताओं के हस्ताक्षर हैं। लेकिन जब संविधान मुद्रित हुआ, उसमें ये चित्र नहीं थे। उसमें सिर्फ़ अशोक की लाट के शेर भर चित्रित हैं। वह तो भारतीय संविधान का प्रतीक चिह्न हो गया है। उसे संविधान के हर मुद्रित संस्करण में छापना होता है। बाकी चित्र संविधान के मुद्रित संस्करण में प्रकाशित नहीं होते। इसके दो पहलू हैं : पहला यह कि ये चित्र आये कहाँ से हैं और उनकी संविधान में क्या हैसियत है। संविधान में एक-एक शब्द पर बहस हुई होती है। इसलिए संविधान में किसी भी चीज़ का प्रवेश आसान नहीं है। मुझे इन चित्रों के संविधान में आने के पीछे जो कहानी लगती है, वो सुनाता हूँ। जब संविधान सभा बनी, उसके समक्ष जवाहरलाल नेहरू ने एक वस्तुनिष्ठ प्रस्ताव रखा, जिसमें We, the people of India... आदि था, यही बाद में चलकर संविधान की प्रस्तावना बन गयी। इस प्रस्ताव पर जब बातचीत चल रही थी, महात्मा गाँधी की मृत्यु हो गयी। यह सबको स्तब्ध करने वाली घटना थी। इसके बाद उपर्युक्त प्रस्ताव में कई संशोधन लाये गये। किसी ने कहा We, the people of India in the name of God...। वह स्वीकृत नहीं हुआ। संविधान सभा के एक अन्य सदस्य ने एक और संशोधन प्रस्तावित किया, वह था, We, the people of India in the name of father of nation Mahatma Gandhi... इसे लेकर अजीब स्थिति बन गयी। इसे लिया जाए या न लिया जाए। गाँधीजी जी की मृत्यु तभी हुई थी और पूरे वातावरण में उनसे जुड़ी स्मृतियाँ थीं। मुझे लगता है कि राजेन्द्र प्रसाद आदि को यह पसन्द नहीं आया होगा। यह अटपटा-सा था भी। तब सचमुच क्या हुआ होगा, कहना कठिन है पर हम तो उसकी कहानी-सी बना रहे हैं। फिर यह निर्णय हुआ होगा कि संविधान में इसके स्थान पर उनका एक रेखांकन शामिल किया जाए। बाईस अध्यायों में ऐसा एक रेखांकन है भी। जिसके नीचे बापू और १२.४.१९३० लिखा है। दरअसल हुआ यह था कि जब महात्मा गाँधी शान्ति निकेतन गये, नन्दलाल बोस को उनकी देखरेख के लिए नियुक्त किया गया था। नन्दलाल बोस ने तब उनका वह प्रसिद्ध रेखांकन बनाया था जिसमें वे डण्डा लेकर एक पाँव आगे बढ़ा रहे हैं और इसीलिए मुझे लगा कि संविधान सभा में यह बात हुई होगी कि हम महात्मा गाँधी का एक रेखांकन संविधान में रखें। गाँधीजी को राष्ट्रपिता सुभाषचन्द्र बोस ने कहा था। संविधान में बाईसवाँ रेखांकन सुभाषचन्द्र बोस का है। उस रेखांकन पर अंकित है : Mahatamaji, father of our nation, in this holy war for India's liberation we ask for your blessings and good wishes. ये सुभाषचन्द्र बोस के शब्द हैं। उस समय का वातावरण देखने पर यह समझ में नहीं आता कि सुभाष बाबू का रेखांकन संविधान में कैसे आ गया। इसका सूक्ष्म विवरण संविधान सभा की अन्यान्य उपसमितियों की कार्यवाही पढ़ने से ही पता चलेगा पर मेरा अन्दाज़ ये है कि नेहरू ने कहा होगा कि जब गाँधीजी का रेखांकन संविधान में जा ही रहा है तो सभी

अध्यायों की शुरूआत में रेखांकन दिये जा सकते हैं और इसके लिए 'भारत की खोज' को रेखांकित करना चाहिए। ये सारे रेखांकन तीन मूर्ति भवन में बने हैं, नेहरू के दफ़्तर में। वहीं रामपुर के लोग संविधान को हस्तलिपिबद्ध कर रहे थे। वहीं नन्दलाल बोस और उनके तीन-चार छात्रों को यह काम दिया गया था। संविधान में उनके हस्ताक्षर भी हैं। इन रेखांकनों को शामिल करने की बात को संविधान सभा ने हल्के ढँग से मानकर स्वीकृति दे दी होगी। राजेन्द्र बाबू ने संविधान की प्रस्तावना में राष्ट्रपिता का नाम रखने वाले प्रस्तावक सदस्य को कहा कि अब आप अपना प्रस्ताव वापस ले लीजिए, हम संविधान में गाँधीजी का रेखांकन और उसके नीचे उन्हें राष्ट्रपिता कहती हुई इबारत शामिल कर रहे हैं। वह प्रस्ताव वापस ले लिया गया क्योंकि अगर इस प्रस्ताव पर मतदान होता, काफ़ी गड़बड़ हो जाती। नन्दलाल बोस को रेखांकनों के लिए चुनने के पीछे हरिपुरा काँग्रेस थी। हरिपुरा में गाँधीजी ने नन्दलाल बोस से कहा कि आप भारत के लोगों को चित्रित करो। नन्दलाल बोस ने ये सारे चित्र पण्डालों पर बनाये। उनकी मदद उनके छात्रों ने की थी। बहुत खूबसूरत चित्र थे। उस सम्मेलन में सुभाष चन्द्र बोस को काँग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया था। गाँधीजी जी की इच्छा के विरूद्ध। वहाँ से ही नन्दलाल बोस की छवि राष्ट्रीय चित्रकार के जैसी हो गयी थी। इसीलिए जब संविधान में रेखांकनों को शामिल करने का प्रश्न उठा, उन्हें आमन्त्रित किया गया। अगर हम इस घटना पर नाटक लिखेंगे तो हमें नन्दलाल बोस और उनके छात्रों के रेखांकन की मेज़ को तीन मूर्ति भवन में नेहरू की मेज़ के बगल में रखना होगा। वह सब काम बहुत जल्दी में किया जा रहा था। आख़िरी क्षणों में यह कार्य सम्पन्न कर संविधान को संसद में हस्ताक्षरों के लिए ले जाया गया। पर जब संविधान का मुद्रण हुआ, उसमें रेखांकनों को शामिल नहीं किया गया। मैंने लोगों से पूछा, ऐसा क्यों हुआ। कुछ लोगों का कहना था कि शायद मुद्रित करना मुश्किल था पर यह सच नहीं है। उस समय चीज़ों के रेखांकनों को हटाया गया था, न्यायपालिका तक को इसके बारे में पता नहीं था। पर तब भी यह मूल प्रश्न उठता है कि इन रेखांकनों की हैसियत क्या है? इसे समझने के दो रास्ते है। अगर आप यूनान में संविधान का सिद्धान्त देखे, आप पाएँगे कि वहाँ यह स्वीकार है कि समाज में ऐसे नियम होने चाहिए जिन्हें मानने पर श्रेष्ठता खुद व खुद बाहर निकल आएगी। दूसरी बात ये है कि वहाँ जिम्नाज़ियम के वर्णन में यह आता है कि यह वह स्थान है, जहाँ बच्चा अपने देवताओं को पहचाने यानि वह यह जान ले कि उसे जीवन में क्या करना है। इन्हीं श्रेष्ठजनों के आधार पर संविधान में भी नगर राज्य का चरित्र बनता है। अधुनिक समय में इसी चरित्र को राष्ट्रवाद कहा जाता है। इस तरह संविधान में दोनो ही चीज़े आनी चाहिये, नागरिकों का चरित्र और शासन पद्धतियाँ या शासन के नियम-कायदे। भारतीय संविधान में शामिल वे रेखांकन भारत का चरित्र है। भारतीय संविधान दुनिया का अकेला संविधान है, जहाँ राष्ट्रवाद को चित्रित किया गया है। यहाँ राष्ट्र को विशेषीकृत किया गया है, अन्य संविधानों में राष्ट्र की भौगोलिक सीमाएँ आदि ही इंगित हैं। अन्य संविधानों में राष्ट्र क्या है, परिभाषित करने का कार्य लोगों पर छोड़ दिया जाता है। इन रेखांकनों में हड़प्पा से शुरू होकर वैदिक आश्रमों-शाखाओं से होता हुआ रामायण, महाभारत काल, महावीर, बुद्ध आदि को लेते हुए भारतीयों का चरित्र रेखांकित किया गया है। इन रेखांकनों में अकबर भी है। उनकी पृष्ठभूमि में फतेहपुर सीकरी का काम चल रहा

है। उसमें गुरु गोविन्दसिंह, टीपू सुल्तान, महारानी लक्ष्मीबाई आदि भी हैं। गाँधीजी दो-तीन जगहों पर हैं। उसमें सुभाष चन्द्र बोस भी हैं। आज यह लगता है कि जब यह पता लगा होगा कि उसमें सुभाष चन्द्र बोस भी हैं, तब यह सोचा गया होगा कि ये यहाँ कैसे आ गये ? उनको नन्दलाल बाबू लाये होंगे और चूंकि सब काम आनन-फानन में हो रहा था, इसलिए उन्हें हटाया नहीं जा सका होगा। पर इसीलिए उन चित्रों को सज्जात्मक बता कर उन्हें संविधान से खुफिया तरह से हटा लिया गया होगा। इन भारतीयों का चरित्र इन रेखांकनों में प्रकट होता है। इन रेखांकनों में नालन्दा है, महाबलिपुरम् है, भागीरथी का अवतरण आदि है। नन्दलाल बोस अपने जीवन में अनेक जगहों पर जाते रहे थे। जैसे अजन्ता के कई सारे रेखांकन उन्होंने किये हैं। इन रेखांकनों में एक हर्षवर्धन की राजसभा का भी है। इस राजसभा में मनुष्यों के अलावा हिरण भी खड़े हैं। जैसे संविधान में प्रस्तावना होती है, उसी तरह इन रेखांकनों की भी हैसियत है। प्रस्तावना को आप प्रश्नांकित नहीं कर सकते, उसी तरह ये रेखांकन हैं। आप प्रस्तावना को संशोधित कर सकते हैं जैसा कि इन्दिरा गाँधी ने संसद की सहायता से किया था। एक विवादस्पद निर्णय हुआ था, जिसमें इन रेखांकनों की भूमिका थी। हम उसे देने वाले न्यायाधीश से भी मिले थे। उन्होंने बाबरी मस्जिद विवाद पर निर्णय दिया था।

उदयनः– क्या ये इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश थे, जो अब सेवानिवृत्त हैं ?

नवज्योतिः– जब बाबरी मस्जिद गिरी, न्यायालय में अवकाश चल रहा था। उन दिनों इन्हें न्यायालय में बैठने को कहा गया। इनके सामने यह अभियोग रखा गया कि किन्ही लोगों ने बाबरी मस्जिद का ढाँचा तो तोड़ दिया है (उस पर कई मुकदमें अलग से चल रहे हैं) पर उन लोगों ने वहाँ एक अस्थायी तम्बू आदि लगाकर गैर कानूनी ढाँचा भी खड़ा कर दिया था। उसे हटाने की अपील की गयी थी। वहाँ एक अस्थायी किस्म का मन्दिर रामलला को बिठाकर बना दिया गया था। उसे हटाने की अपील की गयी थी। इन न्यायाधीश ने लगभग बीस दिनों में इस पर निर्णय दिया था। इस निर्णय में उन्होंने कहा कि मुझे भारत के संविधान की मूल प्रति देखने का सौभाग्य प्राप्त है। उसके पृष्ठ छः पर श्रीराम का लक्ष्मण के साथ पूर्वी एशियायी शैली में एक ऐसा चित्र है, जिसमें वे उड़ते हुए से रथ पर सीता को लेकर लंका से लौट रहे हैं। इसलिए श्रीराम सांविधानिक चरित्र हैं और संविधान में बने ये रेखांकन संविधान के आदर्श, धर्मनिरपेक्षता और शान्ति आदि की प्रेरणा हैं। यह शासन का दायित्व है कि वह श्रीराम की मूर्ति की सुरक्षा करे। भारत के नागरिकों को यह अधिकार है कि वे उस मूर्ति को देख सकें। दरअसल वह मूर्ति उस ढाँचे में पहले से थी, ढाँचा टूटने के पहले उसे बाहर निकाल लिया गया था और दोबारा अस्थायी ढाँचे में स्थापित कर दिया गया था। भारत के लोगों को यह अधिकार है कि वे उस मन्दिर में जा सकें। यह सम्भव करने शासन को चाहिए कि वे इस अस्थायी मन्दिर के चारों ओर की भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दें। उसे इसके चारों ओर तीन सीमाएँ बनानी होंगी, सबसे भीतरी सरहद के अन्दर रामलला की मूर्ति होगी। वहाँ सुबह एक पुरोहित पुलिस अधीक्षक के साथ जाएगा। वह मन्दिर खोलेगा, पूजा करेगा और वापस हो जाएगा। इन न्यायाधीश ने यह पूरी योजना अपने निर्णय में दी। इस निर्णय के आधार पर ०७ जनवरी को शासन ने उस भूमि का राष्ट्रीयकरण कर

दिया। यह इसलिए किया ताकि रामलला की मूर्ति की सुरक्षा हो सके। इसके बाद आरोपी सर्वोच्च न्यायालय गये पर वहाँ यह प्रकरण ही दाखिल नहीं हुआ। इस निर्णय को फिर, मेरे ख़्याल से, फरवरी में कभी, संसद ने भी सर्वसम्मति से स्वीकृति दे दी। अगर आप काँग्रेस पार्टी का घोषणा पत्र देखें, उसमें लिखा होता है कि वे अयोध्या के उस स्थान की स्थिति को वैसा ही बनाए रखेंगे, जैसी वह ०७ जनवरी १९९३ को थी।

उदयनः– क्या इन रेखांकनों का उपयोग केवल एक ही न्यायिक निर्णय में हुआ है ?

नवज्योतिः– इस फैसले की भी एक कहानी है। ये न्यायाधीश (जिनका हम उल्लेख कर रहे हैं) पहले इलाहाबाद में वकील थे। इलाहाबाद के आनन्द भवन में नेहरू के परिवार के लोग रहे थे। वहाँ एक मुसलमान व्यक्ति रहा करता था, जो काँग्रेस का सदस्य था। उसका कोई मुकदमा इनके पास था। वह व्यक्ति इनको पारिश्रमिक तो नहीं दे पाता था पर किसी और तरह से इनकी मदद करना चाहता था। उसी ने संविधान की एक मूल प्रति, जो आनन्द भवन में रखी थी, इन्हें दिखायी। इस तरह इन्हें पता लगा कि उस प्रति में रेखांकन हैं। अब तो यह इण्टरनेट पर उपलब्ध है। इसकी एक प्रति ब्रिटेन के पास थी। उसकी फोटो को अमरीकी लाईब्रेरी काँग्रेस ने सार्वजनिक कर दिया।

उदयनः– आपकी इस कहानी से तो यह बात निकल रही है कि बिना रेखांकनों के जो संविधान प्रकाशित किया गया था, वह अधूरा था।

नवज्योतिः– मैं भी उसे खण्डित संविधान मानता हूँ। उस खण्डित संविधान से न्याय व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा है। मैंने अपने कुछ मित्रों से पूछा कि अगर संविधान में इन रेखांकनों का संशोधन किया जाना है तो वह कैसे होगा ? कुछेक का कहना था कि इसमें गौ माता के रेखांकन को शामिल करना चाहिए। एक सुझाव यह आया कि अपने माता-पिता को तमाम तीर्थ को ले जाते श्रवणकुमार का रेखांकन भी होना चाहिए, इससे भी हमारा राष्ट्रीय चरित्र उद्घाटित होगा। इस तरह की कई बातें सोची जा सकती हैं जिससे हमारे राष्ट्रीय चरित्र की श्रेष्ठता का रेखांकन हो सके। संविधान के सिद्धान्त में इस तरह एक नया आयाम जुड़ा है कि उसमें शब्द ही काफी नहीं हैं, बल्कि उसमें चित्र भी शामिल हो सकें। यह बात उदाहरण के लिए अमरीका के लिए सही नहीं है। अमरीकी चरित्र को दर्शाने अनेक उपन्यास लिखे गये, कहानियाँ, निबन्ध। पर हमारे यहाँ उसे चित्रांकित भी कर दिया गया है। एक विचित्र बात मैं आपको बताता हूँ कि भारत की स्वतन्त्रता का कोई महान स्मारक नहीं बनाया गया है। इसके बरक्स अगर आप फ्राँसीसी क्रान्ति को देखें, आप पाएँगे कि समूचे पेरिस में वह उत्कीर्ण है, यही कुछ अमरीकी स्वतन्त्रता के साथ भी है, वह वाशिंगटन के हर अंग पर अंकित है। इन दोनों उदाहरणों में उत्कर्ष को प्राप्त हुई भावना का स्मारकों में रूपंकरण किया गया है। अगर आप किसी मेहमान को दिल्ली दिखाते हैं, उसमें कुतुब मीनार आदि के अलावा है क्या दिखाने लायक। वहाँ आधुनिक स्मारक के नाम पर केवल ब्रितानी स्थापत्य है, चाहे वह संसद भवन हो या इण्डिया गेट। आधुनिक स्वतन्त्र भारत का कोई स्मारक नहीं है। आप पूरी दिल्ली का सर्वेक्षण कीजिए, आपको ले देकर दो-तीन

आधुनिक चीज़ें मिलेंगी, एक रिजर्व बैंक के सामने रामकिंकर बैज का रख्खारख्खी (यक्ष-यक्षिणी), दूसरा राष्ट्रपति भवन के पीछे गाँधीजी की दाण्डी यात्रा का शिल्प। इसके अलावा वहाँ ऐसा कुछ नहीं है जो कि भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में उत्कर्ष प्राप्त दृष्टि का रूपंकरण हो। इसके अलावा आपको लोटस मन्दिर दिखता है और चरित्रहीन आकाशचुम्बी इमारतें। दिल्ली में सारी कारीगरी घरों के फाटकों और ग्रिल्स को बनाने में लगी रही। दिल्ली में अनेक तरह के फाटक घरों के सामने लगे हैं। एक बार इन फाटकों की एक कुंजी मिली, उसमें एक हज़ार क़िस्म के फाटकों का वर्णन है। इसे लोहे में काम करने वाले लोग ले जाते हैं और फाटक बनाते हैं। इस सबका कारण भी राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष नहीं है। तब वह भावना कहाँ अवस्थित है, आप चाहे संग्रहालय ले लें या मन्त्रालय, सारी की सारी अंग्रेज़ी ढंग की संरचनाएँ हैं।

उदयनः– आपकी दृष्टि में ऐसा क्यूँ है ?

नवज्योतिः– हमारे जितने प्राचीन मन्दिर हैं, वे संविधान का स्वरूप हैं। वे अपने अंचल को परिभाषित करते हैं। ये अपने अंचल के चरित्र को, भावनाओं को और उत्कर्ष को रूपंकृत करते हैं। ये उनके स्मारक हैं। वैसा स्वतन्त्र भारत में क्यूँ नहीं हुआ? इसका एक कारण तो यह है कि भारत की स्वतन्त्रता दुःख में डूबी हुई आयी थी, उसमें शर्म थी, शर्म इसलिए कि लाखों लोग पंजाब और बंगाल में मारे गये थे। इस कारण हमारी रूह काँप गयी। स्वतन्त्रता का उत्सव ठीक से नहीं हो पाया। भारतीय स्वतन्त्रता प्राप्ति में कोई उत्सव था ही नहीं कहना मोटी बात है। इसे रवि बाबू ने भी यह कहकर रेखांकित किया था कि आप जले हुए कपड़े पर अगर स्वतन्त्रता की नींव रखेंगे तो उत्सव कहाँ से होगा। बंगाल और पंजाब में तो लोग मारे जा रहे थे और लोग घरों आदि को लूट रहे थे पर अन्यत्र तो ऐसा नहीं हुआ था। पर वहाँ भी इस उत्कर्ष प्राप्त चेतना की कोई अभिव्यक्ति नहीं हुई। यह इसलिए क्योंकि भारत की स्वतन्त्रता एक पंगु अवसर था, इसने कोई नये मानस की रचना नहीं की। इसलिए अगर भारतीय स्वतन्त्रता की उत्कर्षकामी भावना का कोई स्मारक हो सकता है तो वह भारत का संविधान है। यह दृश्य-श्रव्य ग्रन्थ है। हमारे देश की नाट्य परम्परा में सबसे बड़ी दृश्य-श्रव्य अभिव्यक्ति ही है। जैसे नृत्य आदि को दृश्य-श्रव्य और मन्दिरों में उत्कीर्ण शिल्पों आदि को दृश्य माना जाता था।

उदयनः– आपके कथनानुसार भारतीय स्वतन्त्रता ने संविधान में अपना स्मारक पाया पर उसके रेखांकनों को तो त्याग दिया, तब इसे अधूरा स्मारक ही कहा जा सकेगा।

नवज्योतिः– आधुनिक भारतीयों में शर्म भरी हुई है। शर्म का अर्थ है छुपना और छुपाना। शर्म के दो अर्थ हैं - एक अर्थ शर्मिन्दा होने वाला है पर यहाँ एक दूसरा अर्थ है, शर्म के सहारे छिपाना।

उदयनः– यह आपके अनुसार विभाजन से आयी है ?

नवज्योतिः– विभाजन उसका एक कारण है। यहाँ यह हुआ कि संविधान के रेखांकनों को मुद्रित नहीं करना है, उन्हें छुपा लेना है। यहाँ अधिकतर काम लुका-छिपी में हुआ करते हैं। हम परम्परा के प्रति शर्मिन्दा हैं।

हमारे घरों में खाना कैसे खाया जाता है, यह तथ्य आपको सार्वजनिक करते हुए शर्म आती है। हमारी माताएँ कैसे कपड़े पहनती हैं, वे लगभग सभी एक ही तरह से कपड़े पहनती हैं, पर फिर भी उनके विषय में एक-दूसरे को बताने में यहाँ के बच्चों को शर्म आती है। हमारे आधुनिक देश की यह एक महत्वपूर्ण संघटना है।

उदयनः– इसके और क्या कारण हो सकते हैं ?

नवज्योतिः– हमारा स्वतन्त्रता आन्दोलन समावेशी नहीं था, वह सबको लेकर नहीं चला। उसमें कारीगरों और पारम्परिक अध्येताओं यानि पण्डितों का अभाव रहा। यहाँ भी आधुनिकता ने परम्परा को कमज़ोर विचार में अनुकूलित किया। ऐसा ही यूरोप में भी हुआ था। हमारे यहाँ गाँधीजी या नेहरू ने परम्परा को कमज़ोर विचार में ही ग्रहण किया। इस कमज़ोर विचार से अन्याय हुआ। इसके फलस्वरूप यहाँ की अध्येतावृत्ति समाप्त हो गयी। यहाँ श्रेष्ठता का सम्मान नहीं है। जिस समाज व्यवस्था में यह विवेक न हो कि किस चीज़ का सम्मान करना है, जिसमें छुपाने के लिए शर्म का उपयोग होता हो, वह कैसे चलेगी। यह विवेक टूट गया है। यह टूटन राष्ट्रीय आन्दोलन से आयी है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि आधुनिकता को स्थापित करने के लिए परम्परा का अपमान करो। यह पक्ष राजनैतिक विमर्श में भी आ गया है, अध्येताओं में भी है, विश्वविद्यालयों में भी। यहाँ यह मान्यता है कि आप अपमान करके कुछ बचा सकते हैं। यह कुछ ऐसा ही है कि मैं जिसका ऋणी हूँ उसी का अपमान करूँ। इसी तरह आधुनिक भारत पश्चिम का ऋणी है, उसकी एक-एक चीज़ का, कपड़ा, चप्पल, कुर्सियाँ, घर आदि सबका ऋणी है। हमारा यह दायित्व बनता है कि इस ऋण को हम चुकाएँ। हमें उन्हें कोई ऐसी चीज़ देना है, जिससे यह ऋण चुके। वो न करके हम पश्चिम के प्रति गाली-गलौज करते हैं। हमारी यह प्रवृत्ति है। एक और परम्परा का और दूसरी ओर पश्चिम का अपमान करना, ये हमारी कुरीतियाँ हैं। यह शिष्टता का अभाव है। इसलिए शिष्टता पर खड़ी होने वाली चीज़ हो नहीं पाती। श्रेष्ठता शिष्टता पर खड़ी होती है, वह हो नहीं पाती। इसका कारण सम्भवतः यह है कि इस व्यवस्था में अपनी अस्मिता की पहचान नहीं है।

उदयनः– लेकिन इसकी जड़ें स्वतन्त्रता आन्दोलन के भी पहले से रही होंगी ?

नवज्योतिः– इसमें कौन-कौन सी चीज़ें कहाँ-कहाँ से आयी हैं, इसे जानने बहुत दूर तक जाना होगा। अब कुछ लोग कह रहे हैं कि भारत में मुसलमान आ गये, इससे हम कमज़ोर पड़ गये। पर यह गलत बात है। हमारी कर्मठता तो इससे बढ़ी ही है। यह ठीक है कि इस आगमन के भीतर कुछ अपमान रहे हैं और उनका निराकरण करना होगा पर इसका मतलब यह नहीं कि आपकी कर्मठता या कौशल समाप्त हो जाएँ। इसका मुसलमानों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ का जो तबका निर्माण या उद्योग कार्य में लगा था, वह क़रीब चौबीस प्रतिशत था, मुसलमानों में यह कहीं अधिक है। यह तो आगे बढ़ना ही हुआ। आपको चीज़ें बनानी हैं, घर सजाना है, रास्ते सजाना हैं, उद्यान बनाने हैं, यह सब नहीं हो पाया। यूरोप में भी यह दृष्टि रही है कि अगर कोई अल्पसंख्यक समुदाय चार प्रतिशत से अधिक होता है तो

राष्ट्र अस्थिर हो जाता है। यह यूरोप की व्यावहारिक व्यवस्था है। तमाम प्रवासी नियम और जनसंख्या को रोकने की नीतियाँ इसी पर आधारित हैं। इसीलिए जर्मनी में तुर्की अल्पसंख्यक चार प्रतिशत नहीं हैं। यह ध्यान रखा जाता है कि कोई भी अल्पसंख्यक समुदाय चार प्रतिशत से अधिक न हो। भारत में यह प्रतिशत लगभग अठ्ठारह से बीस है पर तब भी सबकुछ अच्छी तरह से चलता है। इसीलिए यह कहना कि वह शर्म इससे सम्बन्धित है, ग़लत है। कुछ अपमान का तत्व इस सम्बन्ध में अवश्य है। जब मुसलमान भारत आए, यहाँ बहुत तोड़-फोड़ हुई थी। तब एक दौलत सम्बन्धी सिद्धान्त था 'दौला'। दौला से ही दौलत शब्द बना है। यह फारसी राजनैतिक विचार है। इसके अनुसार कुछ परिवारों पर कुछ ऐसी कृपा हुआ करती है कि वे लोगों पर शासन कर पाते हैं। जैसे शिराजुउद्दौला है। इसका अर्थ हुआ कि ये शख़्स दौलत सम्भाल सकते हैं। दौलत से यहाँ आशय समृद्धि और लोग हैं। इस सिद्धान्त के कारण कई अतियाँ भी हुई हैं। अगर कोई कहे कि मन्दिर नहीं तोड़े गये या सोना नहीं लूटा गया, यह ग़लत होगा। यह सब हुआ है। पर इसके साथ ही यहाँ की कारुवृत्ति को प्रोत्साहन भी मिला है। सूफ़ियों में एक अदब का सिद्धान्त है। यह माना गया कि मज़हब का एक उत्पाद अदबी मनुष्य है। अदब का अर्थ दोहरावपूर्ण कर्म है, जिसे नित्यकर्म भी कहा जाता है। नये कर्म नहीं बल्कि वे कर्म जो आप बार-बार करते हैं। जैसे किसी को देखकर नमस्ते करना। इन कर्मों के परिष्कार को ही अदब कहते हैं। कारीगर जो काम करता है, वह भी दोहरावपूर्ण है, इसका परिष्कार अदब है। तमाम कौशल अदब का विषय है। शिष्टाचार अदब है। उदाहरण के लिए बड़ों से कैसा व्यवहार करना आदि अदब का भाग है। दोहरावपूर्ण कर्म को तब तर्क मिला जब कारीगर कुछ कर रहा है। वह कुछ बार-बार कर रहा है। इसमें क्या है ? दोहरावपूर्ण कर्म में ही खुदाई है। इसी से शिष्टता उत्पन्न होती है। इस तरह दोहरावपूर्ण कर्म में संलग्न कारीगरों के जीवन का तर्क बड़े ही ऊँचे स्तर पर निकलता है। दोहरावपूर्ण काम में लगे लोग, वे पत्थर को ठक-ठक कर रहे हों, या लकड़ी पर काम कर रहे हों, या रफ़ू कर रहे हों, या बुनायी कर रहे हों, उनके जीवन की वैधता का विचार अदब के सिद्धान्त से आया है। बहुत सारे बुनकरों ने इस्लाम अपनाया। उन को ज़बरदस्ती मुसलमान नहीं बनाया गया। कुछ को बनाया होगा पर कुछ अपने आप हुए। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि भारत की अकर्मण्यता का कारण इस्लाम है। इसका क्या कारण हो सकता है, इसे जानने की कोशिश करना चाहिए। इस सन्दर्भ में एक ओर बात पर ध्यान देना होगा जो परम्परा में नहीं है, इस्लामिक या सनातनी। हमारे यहाँ निजी और सार्वजनिक क्षेत्र में बहुत बड़ा अन्तर आ गया है। घर तो हम झाड़ू वगैरह लगाकर साफ़ रखते हैं पर कचरा बाहर सड़क पर फेंक देते हैं। पुलिस वाला घर पर बहुत नैतिक बना रहता है पर बाहर जाकर वही पुलिस वाला पानवाले को पान खाकर पैसा नहीं देता।

उदयनः– क्या इसका कारण यह नहीं है कि भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान सार्वजनिक स्थलों में सामान्य नागरिकों की हिस्सेदारी मुश्किल हो गयी थी, इसलिए सम्भवतः लोगों ने सार्वजनिक क्षेत्र को औपनिवेशिक क्षेत्र मान रखा है ?

नवज्योतिः– वह तो ठीक है पर इसके चलते लोगों में चालाकी आ गयी है जैसे बच्चे लोग धक्का देकर आगे निकल

जाते हैं। जब राजस्व का केन्द्रीयकरण हो गया, उसका बँटवारा करने में चालाकी ही चालाकी होती है। चालाकी का यह जो तन्त्र बना है, आगे जाकर शर्म में ही फँस सकता था। चालाकी में मुँह छुपाना हुआ करता है। इधर कुछ कहो, उधर कुछ रहो। इधर मुँह छुपाओ और उधर मुँह दिखाओ। हमारे चरित्र में यह आ गया है कि हम छुप-छुपकर रहते हैं। यह बात आपको यूरोप में नहीं मिलेगी। जिन शिष्ट व्यक्तियों से समाज टिका हुआ है, उनका अपमान किया जाता है। यहाँ जो लिखा है, नहीं है, उसमें चालाकी है। ऐसे ही वकील हैं, यहाँ न्याय भी चालाकी पर टिका हुआ है। मैं कुछ कर दूँ, तब भी मैं अपनी रक्षा के लिए सक्षम हूँ, इसे ही राक्षस कहा जाता है। हमारे यहाँ शरणागत की रक्षा करना कर्तव्य माना गया है, पर अपनी रक्षा दूसरों पर छोड़नी है। अगर मैं यह सोचूँ कि मैं केवल अपनी रक्षा कर लूँ, यह राक्षस प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति यहाँ चल रही है, इसके लिए हम पश्चिम को ज़िम्मेदार कैसे ठहरा सकते हैं। इसमें शक नहीं कि इसका सम्बन्ध आधुनिकता के नाम के भूकम्प से है। उस भूकम्प से जिससे यहाँ के तमाम तन्त्र हिले, उस हिलने का घरेलूपन नहीं हो सका। उस कम्पन को हम जीवन में ढाल नहीं पाये। यह बड़ा काम है, जो होना है। हमारी आधुनिकता में अन्धकार है। उत्तर आधुनिक विचारकों और काण्टीनेण्टल दार्शनिक ने भी यह कहना आरम्भ किया है कि ज्ञानादेय भी रेनेसाँ के बाद की आधुनिकता के 'लोगोसेण्ट्रिक' होने की वजह से अनुभवच्युत हैं। उसमें अन्धकार है, पर वह अलग क़िस्म का अन्धकार है। पश्चिम का अन्धकार चकाचौंध में नाक के नीचे का अन्धकार है जिसका ज़िक्र उत्तर आधुनिकों के लिए हाईडेगर जैसे लोगों ने किया है। वे उस दृश्य को दर्शन में लाने का प्रयास कर रहे हैं। साठ के दशक के वैचारिक आन्दोलन जिसमें मिशेल फूको जैसे लोग शामिल थे, इसीलिए हुए थे। मेरे विचार से नक्सलवाद उसी से प्रेरित था। पी.पी.एस.टी. का आन्दोलन भी साठ के दशक के छात्र आन्दोलन से ही निकला था। ज्ञानोदय के अन्धकार-बोध से ही साठ के दशक में विद्रोही की छवि निकली थी। भारतीय आधुनिकता का अन्धकार यह नहीं है। अगर आप प्रकाश के स्रोत को बदल देते हैं, तब एक विचित्र क़िस्म का अन्धकार आ जाता है। तब आपका इतिहास और परम्पराएँ अन्धकार में चले जाते हैं। यह स्थान बदलने के कारण आया अन्धकार है, यह विस्थापन का अन्धकार है। यह स्थिति से उत्पन्न अन्धकार है। भारतीय आधुनिकता में लोग यह कहते मिलते हैं, 'मेरा यह विश्वास है', 'मेरा वह विश्वास है' इसमें सारी स्मृतियाँ भी, परम्पराएँ भी, अन्धकार में आ जाती हैं। पर आत्मरक्षा हर जगह चला करती है। यह सभी प्राणियों में है। इसलिए इस अन्धकार में भी आत्मरक्षा की प्रक्रिया चल रही है।

उदयनः– कैसे ?

नवज्योतिः– उदाहरण के लिए पुनरुत्थानवाद। परम्परा को पुनरुत्थानवादी ढंग से देखना। यह आत्मरक्षा का ही ढँग है। जैसे तिलक ने गणेश उत्सव की स्थापना की। उन्होंने एक परिपाटी को दोबारा जीवन्त कर दिया। उसे आधुनिक कर दिया। पुनरुत्थानवाद आधुनिकता है। यहाँ दो क़िस्म की आधुनिकताएँ हैं, एक पारम्परिक आधुनिकतावाद और दूसरा आधुनिक परम्परावाद जैसे प्रद्योत कुमार मुखोपाध्याय जी कहते हैं। हमारी परम्परा की पुनर्प्राप्ति अधूरी है। इसमें परम्परा पर अतार्किक विश्वास है। एक

छोटी-सी चीज़ में पूरी सृष्टि को डाला गया है, यह एक त्रुटि है। यह सिर्फ़ एक तरह के सवर्णों में ही नहीं हुआ दलितों में भी यही कुछ है। उन्होंने भी 'हमारा हमेशा अपमान हुआ है' जैसी बातों को लेकर पुनरुत्थानवादी ढँग से अपनी अस्मिता गढ़ ली है। अब यह हुआ हो या न हुआ हो, यह बात अलग छूट जाती है। आधुनिक भारत में इसी क़िस्म की चीज़ें बन रही हैं। इसी तरह महाजातियाँ बनी, जैसे यादव। यह परम्परा का एक दिशा में ठहर जाना है। इनका कोई भविष्य नहीं है। यह नहीं सोचा जा सकता कि यादव जाति अगले पाँच सौ साल तक बची रहेगी। अगले चार-पाँच सौ साल में दलित जैसी कोटियाँ नहीं रहने वाली हैं। इन कोटियों में विधायक शक्ति क्या होगी? आगे चलकर दलित या यादव या ब्राम्हण क्या करने वाले हैं ? इनमें कोई विधायक शक्ति नहीं है। बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में लगभग साथ-साथ जिस भारतीय पुनर्जागरण या आधुनिकता की शुरूआत हुई थी, उसमें अवश्य ब्राम्हणों का योगदान था। उसमें ये विचार हुआ कि हम 'तर्कणा' (रेशनेलिटी) पश्चिम से ले लेंगे और 'ब्रह्मन्' का विचार पश्चिम को दे देंगे। भारतीय आधुनिकता इस गठबन्धन पर टिकी हुई है। इस गठबन्धन की कोई सन्तान नहीं है। इसका उत्पाद क्या है? कुछ नहीं। अगर आप राजा राममोहन राय या दयानन्द सरस्वती या ब्रह्मो समाज या आर्य समाज या साधु समाज की दार्शनिक पीठिका का अध्ययन करेंगे, आप पाएँगे यह द्वैतवाद की विशुद्ध 'कारतेसियन' पीठिका है। पदार्थ हम पश्चिम से लेंगे और आत्मा हमारी होगी। इस क़िस्म का यह गठबन्धन है, इसी में दलित अपना आधार देखते हैं और अन्य सवर्ण समूह भी। यह एक ऐसी ठोस अवस्थिति है, जिसकी शपथ खाये बिना भारत का राष्ट्रपति भी नहीं चल सकता। प्रेसिडेण्ट अब्दुल कलाम भी जब आये, उन्होंने भी यही कहा कि सभी धर्मों की आत्मा एक ही है। यह बात वही कर सकता है जो पश्चिमी पदार्थवाद के भारतीय आध्यात्म से गठबन्धन को मानता हो। ऐसी स्थिति में व्यक्ति धर्म को महज़ आध्यात्मिकता मानता है, वह यह नहीं मानता कि वह व्यवहारिक है, आनुष्ठानिक है, वह सिर्फ़ जीवन की सच्चाई नहीं है, कार्य भी है। वह यह मानता है कि धर्म महज ध्यान लगाने का काम है। चाहे वह इस्लाम या ईसाईयत या हिन्दू। गाँधीजी जी भी यही कहते थे। कर्मकाण्ड को दबाकर रखने की कोशिश होती है, मुसलमानों में जो कारीगर हैं, उनमें अदब को दबाकर रखने की कोशिश होती है, शिष्टता को दबाकर रखने की।

उदयनः– इस तरह हमारे पास लोकव्यवहार का कोई आधार नहीं बच पाता।

नवज्योतिः– लोकव्यापी शिष्ट लोकव्यवहार का अभाव हो गया है। हमारा व्यवहार अभिजात्य हो गया है। आधुनिक विधान में भद्रलोग एक-दूसरे का आदर-सत्कार कर सकते हैं पर साधारण लोगों में इसकी सम्भावना नहीं देखी जाती है। उदारवाद में यही बात है कि तरह-तरह के लोग साथ में काम कर सकते हैं। जैसे यह मान्यता कि सभी धर्मों की आध्यात्मिकता एक-सी है। सभी को एक-सा सम्मान देना है, इस अर्थ में भारतीय सेक्यूलरिज़्म पश्चिमी सेक्यूलरिज़्म से अलग नहीं है। इनके बीच की व्यवहारिक एकता का आधार अंग्रेज़ी भाषा के इर्दगिर्द विकसित दृष्टि है। वह अभिजात्य है, उसमें कुछ भंगिमाएँ हैं, वह यहाँ विकसित नहीं हुई है। उसे यहाँ स्वीकार कर लिया गया है। ये सब टोडी बच्चों जैसा हाल है। पंजाब में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले जो लोग अंग्रेज़ों के पिछलग्गू थे, उन्हें भगतसिंह जैसे अनेक लोग टोडी

बच्चा कहते थे। ये वे लोग होते हैं, जो किसी और के बताये मार्ग पर तत्पर चला करते हैं। आपको शिष्ट होने के लिए अभिजात्य होना आवश्यक हो गया है। मानों आप साधारण रहकर शिष्ट नहीं हो सकते हों। आप हो सकते होंगे पर वैसा होने का कोई भविष्य नहीं है जबकि आभिजात्य शिष्टता का भविष्य है। इन सबमें अन्याय नज़र आता है पर उसका निदान आरोप लगाने में नहीं, कुछ नया रचने में है। हमारी आलोचना में रचना का कोई रूप नज़र नहीं आता। आलोचना मनुष्य की प्रवृत्ति है, वह की जाती रहेगी पर उसमें कुछ रचना होनी चाहिए।

उदयनः– परम्परा के भीतर से ....

नवज्योतिः– उसमें से कोई विधायक शक्ति उत्पन्न होना चाहिए।

उदयनः– क्या स्वयं आपका बौद्धिक कार्य उसी दिशा में है ? उदाहरण के लिए आपका 'इतिहास' और 'हिस्ट्री' के अन्तर को रेखांकित करने वाले निबन्ध में यह विचार है कि 'इतिहास' की प्रेरक शक्ति में न्याय का स्थान अधिक बुनियादी है न कि अन्याय का, जैसा कि यूरोप में 'हिस्ट्री' के कारण हुआ है?

नवज्योतिः– जब भी कोई अन्याय का दावा करता है, यह प्रश्न उठ ही जाता है कि क्या ऐसा सचमुच हुआ है, कहीं यह दावा ग़लत तो नहीं इसलिए इसकी जाँच करनी पड़ती है, यह पूछना पड़ता है कि यह अन्याय कब हुआ, किस जगह आदि। इसके लिए साक्षी चाहिए होते हैं। आप तरह-तरह के अन्वेषण करते हैं। अन्याय के दावे की जाँच की एक तरह की पद्धति हुआ करती है। न्याय के दावे की जाँच की पद्धति दूसरी होती है। इन दोनों ही स्थितियों में दो अलग तरह से विचरण और विचार किया जाता है। जिन अपरिहार्यताओं के बीच विचार घूमेगा, वह न्याय में अलग है, अन्याय में अलग। जब अन्याय का दावा होता है आप देश-काल का क्रम देखते हैं, (आप कहाँ थे ? वो कहाँ था? ये कबकी बात है? यह कैसे हुआ? किस जगह हुआ? क्या वहाँ कोई और भी था?) आप अन्याय को देश-काल में अवस्थित करते हैं। जब न्याय का दावा होता है (यह कितना शिष्ट व्यक्ति है ! उसका चरित्र ऐसा उजला है !) तब उसका केवल नैतिक परीक्षण होता है। इसमें साक्ष्य आधारित परीक्षण नहीं होता, आप यहाँ देश-काल क्रम नहीं देखते। आप यह नहीं देखते कि वह कितने बजे सोकर उठता है। इस तरह न्याय और अन्याय के परीक्षण में विचरण का स्वरूप भिन्न है। न्याय की स्मृति 'इतिहास' है। अन्याय की स्मृति 'हिस्ट्री' है। हिस्ट्री का विचार अठारहवीं सदी में आया है। इसका जो औपनिवेशिक उपयोग हुआ, उसमें आरोप लगाना मुख्य था। वे यह देखते थे कि वे जिस चीज़ या संघटना का अध्ययन कर रहे थे, उसमें कमी क्या है। वे यह देखते कि यहाँ अन्याय कहाँ है? कौन-से प्रश्न अनुत्तरित हैं? इसी रास्ते उस चीज़ को समझते हैं। इस तरह 'हिस्ट्री' एक अन्याय से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में कूदकर जाती है। हिस्ट्री अन्यायों की टूटी फूटी कहानी है। मार्क्स और हेगल ने यही किया है। 'इतिहास' में उदाहरण के लिए, जब यह प्रश्न आता है कि एकलव्य के साथ न्याय हुआ या नहीं, उसमें देश-काल के साक्ष्य का प्रश्न नहीं उठता। कोई कहेगा हुआ है, कोई कहेगा नहीं हुआ है। यहाँ न्याय के दावे से जुड़ी विचरण की पद्धति चलती है। इस पद्धति को 'इतिहास' कहते हैं। अन्याय को ढूँढना, उसे

असमाधेय मानना और उसको दोषी ठहराना हिस्ट्री है। जैसे अंग्रेज़ों ने जातिप्रथा पर बात करते हुए यह कहा कि ये लोग दलितों पर अन्याय करते हैं और यह अन्याय इनके द्वारा दुरूस्त नहीं किया जा सकता। इसे हम (अंग्रेज़) दुरूस्त करेंगे। इसीलिए हिस्ट्री शक्तिशाली विजेताओं की होती है। जबकि इतिहास सबका होता है। हिस्ट्री वाले का यह दावा होता है कि यहाँ कुछ असमाधेय है, उसका समाधान मैं करूँगा। जैसे वो भारत आकर कहता है कि यहाँ जाति व्यवस्था बनी हुई है, इसे मैं तोड़ूँगा, तभी यहाँ स्वतन्त्रता आएगी। हिस्ट्री लेखन में चतुराई है, यहाँ आप कुछ चीज़ों को असमाधेय बनाकर तिरस्कृत करते हैं और लोगों से इसके लिए अपनी अधीनता स्वीकार कराते हैं। हिस्ट्री मृत्युओं की कथा है, इतिहास जीवन की। हिस्ट्री में शव बिखरते हैं। वह यह रेखांकित करती है कि कौन-कब-कहाँ मरा जबकि वह पीछे छूट गया होता है और उसकी जीवन शक्ति वर्तमान तक आकर स्मृति में स्थान पा लेती है, वहीं उसकी आत्मा बसेरा करती है। हिस्ट्री मुड़-मुड़कर शवों को देखती है, इतिहास भविष्य को देखता है। इतिहास एक नैतिक विमर्श है जो चलता रहता है। मैं तो यह मानता हूँ कि सत्य एक कहानी है, इसी को ऐतेय प्रमाण कहते हैं। हम लोगों के मनन चिन्तन और विचारों में दुनिया की चीज़ों को संक्षिप्त करके कहानी कह दिया करते हैं, पर कहानी में सच कहाँ से आता है? पहले हो चुकी चीज़ के आख्यान में सत्य कैसे आता है ! यह अनुमान नहीं हो सकता, आखिर आप अनुमान को कितना खीचेंगे। तो क्या यह शब्द से होगा? शब्द से वर्तमान की अन्तरदृष्टि आएगी। एकलव्य के साथ ठीक हुआ या नहीं, यह शब्द से आ जाएगा। पर सचमुच हुआ क्या था, यह शब्द से नहीं आएगा। अलग-अलग व्याख्याएँ हो सकती हैं। अमिताभ बच्चन की एकलव्य को लेकर एक फ़िल्म है। इसमें उसने एकलव्य की लोकप्रिय छवि को उलट दिया है। वह यह कह रहा है कि उसने अपनी इच्छा से अपना अँगूठा काटा था, अगर आप एकलव्य की स्थिति पर प्रश्न उठायेंगे, आप दरअसल उसके बोध को प्रश्नांकित कर रहे हैं और अगर आप एकलव्य के बोध को प्रश्नांकित करते हैं, आप उसका अपमान कर रहे हैं और इस तरह उसमें जो निष्ठा का अपमान हो रहा है, वह बहुत बड़ा अन्याय है। ये सारी बातें नैतिक विमर्श में इस दृष्टान्त को कई कोणों से देखने पर आ जाएँगी। स्मृति दो प्रकार की है। एक अन्याय की स्मृति है, जैसे यह कि मुसलमानों ने आकर हिन्दुओं के मन्दिरों को तोड़ा। राजनीति में अन्याय के बहुत से दावे होते हैं। राज्य का यह दायित्व होता है कि वह इन अन्यायों का समाधान करे इसलिए राजा को इतिहास पकड़ना पड़ेगा, उसका हिस्ट्री से काम नहीं चलेगा। अगर अन्याय हुआ है तो आप उसके बदले में अन्याय नहीं कर सकते, उसके समाधान के लिए इतिहास को देखना पड़ेगा। यही कारण है कि लोग गाथा कहते हैं, यह हरेक कर सकता है। एक गंगू तैली भी मर्यादा पुरूष राजा की त्रुटि निकाल सकता है। इतिहास स्वतन्त्रतादायी है। हिस्ट्री देश-काल में बाँध देती है। पश्चिम में एक हेडन व्हाईट नाम का विचारक हुआ है। उसने आख्यान और साक्ष्यमूलक हिस्ट्री के अन्तर को देखा। उसने कहा हिस्ट्री वाले दो-चार साक्ष्यों को पकड़कर रोमिला थापर की तरह कई कहानियाँ बनाते हैं। ये लोग इस तरह व्यवहार करते हैं मानो साक्ष्य आख्यानों से कहीं ऊपर हो जबकि साक्ष्य अनिश्चित होते हैं इसलिए यह त्रुटि है जबकि नैतिक परीक्षण (जैसा कि इतिहास में होता है) हमेशा ही कम निर्धारित निर्णय लेता चलता है। वह लगातार

चलता रहता है, उसमें हमेशा ही कुछ शेष रहा आता है। यहाँ एक दिन आपको यह लग सकता है कि एकलव्य की निष्ठा जिसके कारण वह धर्नुविद्या सीख पाया ही उसका धर्म है पर बाद में आप यह सोच सकते हैं कि वह धर्म तो है पर उसमें त्रुटि है। आप उसे अलग-अलग समय पर अलग-अलग तरह से देख सकते हैं। नैतिक परीक्षण अपने शेष के साथ अन्तहीन है। यह एक क़िस्म का प्रवृत्तिमूलक यथार्थवाद रहा है। इसमें प्रवृत्तियों की शक्तियों को यथार्थ माना जाता है। इन शक्तियों के साथ घर्षण करते हुए जो परिस्थितियाँ बनती हैं, उनको जस का तस कहा जाता है। यहाँ यथातथ्यता का स्रोत प्रवृत्तिमूलकता है। कुछ लोगों ने इस प्रमाण को शब्द में डाला, आप इसे ऐतेय में डाल सकते हैं। इस विमर्श में यथार्थ कहानी में समाधेय हो जाता है। इस समाधेयता में सत्य की ओर एक झुकाव है, वह झुकाव ही प्रमाण है। कथा के भीतर भी प्रथा-करण है, ऐसा नहीं कि वहाँ आप कुछ भी बोल सकें, क्योंकि उसे परीक्षण के सहारे उचित स्थान पर अवस्थित किया जा सकता है। इसलिए कथा से सत्य की ओर जाता मार्ग फूटता है। मैं मानता हूँ कि जो बात संविधान के विषय में हम कर रहे थे, उस पर या चिराला में गाँधीजी की घटना पर नाटक करना चाहिए। तब इस कथा से आप कुछ नैतिक दृष्टि पा सकते हैं। असलियत कहानी है पर उसे अचूक (यथावत्) होना चाहिए। कहानी का चलन ही उसकी यथावतता है। इतिहास का यही अर्थ है कि जैसा हुआ है वैसा कहो और यह केवल कहानी हो सकती है, साक्ष्यमूलकता नहीं।

उदयनः– आपके तमाम लेखन में विशेषकर आपकी अन्तःकरण पर लिखी पुस्तक में आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में जाकर आप पारम्परिक भारतीय चिन्तन और उसमें भी वैशेषिक दर्शन की बात उठाते हैं। आपके विमर्श में वैशेषिक दर्शन के चुनाव का क्या आधार है?

नवज्योतिः– वैशेषिकों का पदार्थ शास्त्र सबसे अधिक चिरकालिक है। उन्होंने बहुत सूक्ष्मता से पदार्थो को कोटिबद्ध किया है। अगर यूनानी और आधुनिक विमर्श पर ध्यान दे, आप पाएँगे कि सत्य का भार भाषा पर डाल दिया गया है। जैसे तर्क भाषा है। भाषा के विन्यास और वास्तविकता की आवश्यकता के बीच एक सशक्त अन्तर स्थापित कर दिया गया है। यह अन्तराल हमारे यहाँ नहीं मिलता। संयोग से पश्चिम में ऐसे कई अन्तराल हैं; जो हमारे यहाँ नहीं मिलते। पश्चिम में कॉज़ (कारण) और बीकॉज़ (क्योंकि) में अन्तराल है। 'कॉज़' पदार्थ में मिलता है और 'बिकॉज़' भाषा में। हमारे यहाँ यह नही हैं। यहाँ आप भाषा या मानस की बात करते हुए भी कार्य-कारण की बात कर सकते हैं; यही कार्य-कारण भाव आप पदार्थ के सन्दर्भ में भी देख सकते हैं। हमारे विमर्श में ईश्वर भी कार्य-कारण भाव के अधीन रहता है। वैशेषिकों के पदार्थ शास्त्र में जो पदार्थ हैं वे भौतिक भी हैं, मानसिक भी। वे हरेक में कार्य-कारण भाव लगाते हैं। इस दर्शन की यह विशेषता इसे भविष्य के लिए अधिक उपयुक्त बनाती है। जबकि पश्चिम में इनके बीच अन्तराल होने के कारण दो अलग तन्त्र बन गये हैं। एक मानव शास्त्र का तन्त्र और एक विज्ञान का। एक ऐसी कल्पना बनी कि पदार्थ के भीतर ही उसकी कारणता अवस्थित है। अगर आपको उनकी कारणता देखना है, आपको उसके बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है, आपको उसकी व्याख्या उसी के भीतर मिल जाएगी। इसमें त्रुटि है, इसमें यह समझना

मुश्किल है कि मेरे संकल्प से मेरा हाथ कैसे हिल उठता है। पदार्थ के रूपान्तरण संकल्पों या इच्छाओं से हो जाते हैं, जिसमें पदार्थ भी सक्रिय होता है। इस सबकों समझने वैशेषिक दर्शन की ओर इसलिए मुड़ना पड़ा क्योंकि उसमें कोटियों की व्यवस्था है। दुनिया की पूरी व्यवस्था इस दर्शन में बनी हुई है। मेरा इस विषय में कुछ अलग सोच है। पश्चिम में रूप और कथ्य (form and content) के बीच में अन्तराल मिलता है। प्लेटों में यह बहुत साफ़-साफ़ नहीं है पर फिर भी है। आधुनिक समय में तो यह मिलता ही है। ऐसा बताते हैं कि यह फ़र्क हमारे यहाँ नहीं था। गीता में कहा गया है कि एक क्षर पुरूष है जिसमें जीवन उत्पन्न होता है, और गलता है जिसे पुद्गल कहते हैं। एक अक्षर पुरूष होता है। इन दोनों के अलावा एक और पुरूष होता है, उत्तम, जिसे आधुनिक समय में ब्रह्मन कहते हैं। अक्षर पुरूष का क्या आशय है? गीता में इसे कूटस्थ कहा है। शंकराचार्य ने इसे मायाबीज कहा है। बिना अक्षर के क्षर पुरूष नहीं होता। क्षर पुरूष माया है। अक्षर ब्रह्मन (उत्तम पुरूष) से भिन्न कैसे है? दोनों ही चिरकालिक हैं। भारतीय आधुनिकता में ब्रह्मन और अक्षर को एक कर दिया गया है। इनके बरक्स क्षर पुरूष को रखा गया है। यह अद्वैत की आधुनिक दुर्व्याख्या है। इसी कारण इसका देकार्त के द्वैत से सम्बन्ध बनता है, पदार्थ और मानस के बीच का अन्तराल उत्पन्न होता है। ब्रह्मन् अविभेदित है। उसमें जब विभेद उत्पन्न होता है, दो वस्तुएँ बन जाती हैं। ब्रह्मन में जो विभाजक है, वह अक्षर है। वह रूप है, पदार्थ नहीं बल्कि शून्य है। उदाहरण के लिए जब आप साँस ले रहे हैं साँस लेने और छोड़ने के बीच जो अन्तराल है, जो 'स्विच' है, वह साँस नहीं है, रूप है। कार्य और कारण के बीच अन्तराल एक रूप है, जो एक किस्म का विवेक है, इन दो वस्तुओं को अलग अलग करता है और जोड़ता है, पर वह कोई वस्तु नहीं है। वह दरअसल सत्तावत् शून्य है। आवाज़ों और शब्दों के बीच तरह-तरह के विराम आते हैं, पूर्व और अपर के बीच अलगाव भर हैं। यह रूप किसी तथ्य पर काबिज होता है। बिना कथ्य के यह होता नहीं है। जहाँ भी विवेक आया वहाँ यह रूप आ जाता है। मेरे विचार से समाधि में एक मूल रूप होता है, समाधि अविभाज्य नहीं होती। समाधि में कथ्य होता है और रूप होता है। कणाद की समाधि में एक रूप था आधार और आधेय का। सारे ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है किसी न किसी पर आधारित है, जितने भी पदार्थ हैं, वे आधार और आधेय के बीच के विराम से सुनियोजित है। अगर ऐसी वस्तु मिल जाए जो अनाश्रित है, जो किसी पर आश्रित न हो बल्कि जिस पर सब कुछ आश्रित हो, उसको हम आधार या ग्राउण्ड कहते हैं। ऐसी कौन सी वस्तुएँ हैं। जो किसी पर आश्रित नहीं; देश, काल, आत्मा इत्यादि। इन पर सारी चीज़ें आश्रित हैं। कुछ ऐसी वस्तुएँ भी हैं, जिन पर कोई वस्तु आश्रित नहीं हैं। अगर हम आधार अधेय के सिद्धान्त को ध्यान में रखें, आपको एक तल मिल जाएगा और एक छत मिल जाएगी। छत वह है जिसे हम जातियाँ या सामान्य कहते हैं, जो अनेक वस्तुओं पर आधारित होती है, पर जिन पर कुछ आधारित नहीं होता। इन रूपाकारों से न्याय वैशेषिक पदार्थ निकलते हैं। ये मुझे सन् २००० तक समझ में आ गयी। इन बातों को अगर आगे बढाएँ तो पाएँगे कि इनमें अन्तःकरण के रूपाकार मिल जाते हैं। मूल पदार्थो को देखने के बाद आप उनमें गुण देखेंगे। गुणों में कुछ ऐसे हैं, जो आत्मा के गुण हैं। आत्मा के दो प्रकार के गुण होते हैं; दृष्ट और अदृष्ट जो अनुभूत और अननुभूत गुण है। अनुभूत गुण पाँच प्रकार के होते हैं। ज्ञान

इत्यादि जिनमें आकार होते हैं, जिनसे बुद्धि बनती है, फिर इच्छाएँ, फिर प्रयत्न, उसके बाद सुख-दुख होता है। जितनी भी प्रक्रियाएँ हैं, इन रूपाकारों से निकल आती हैं। मेरा यह सोचना है कि हम लोगों को भारतीय परम्पराओं में अन्तर्निहित तर्कों की गहरी समझ नहीं है। हर दर्शन के पीछे बहुत सशक्त तर्क हैं। वे इतने सशक्त हैं कि उन्हें हिलाना मुश्किल है। वे तर्क अक्षर पर टिके हैं। ये इतने सारे अक्षर ही हैं। अक्षर को हम अँग्रेज़ी के पंक्चुएशन, जिसे प्वॉइण्ट कहा जाता है, से समझते हैं। उसकी मूल धातु पुङ्क्त है, जिसमें प्वाइण्ट, डिसअप्वाइण्ट, पंक्चुएशन, पंक्चुअल आदि बनते हैं। उसी से हमारे यहाँ पंगत या पंक्तियाँ या प्रपंच (फैलाव) या पाँच (पहले दस को पाँच कहते थे, धीरे-धीरे पाँच अलग हो गया इसलिए प्रपंच का अर्थ सम्पूर्ण फैलाव है)। फैलाव ठोस नहीं हैं। रूपाकार ठोस हैं। अगर फैलाव ठोस हो गया, रूपाकार कुटिल हो जाएँगे। अगर मात्राओं के बीच का अन्तराल नहीं होगा, वाक्य नहीं बनेगा, यह अन्तराल उन्हें फैलाकर रखता है। फैलाव का यह कारण माया का बीज माना गया है। पंक्ति एक अलग रेखा है, वह टेढ़ी-मेढ़ी भले ही हो पर वह अलग है। पंगत भी यही है। इसके मुख्य उदाहरणों में प्रथम वाणी है जहाँ मात्राओं की पंक्ति बनती है। दूसरा उदाहरण मति है। मति में भी एक के बाद दूसरी अवस्थाएँ आती रहती हैं। तीसरा जन्म और पुनर्जन्म का दोहराव भी पंक्ति है। ये कई उदाहरण है और इनका बहुत गहरायी से अध्ययन किया गया, इसकी व्याकृति यानि व्याकरण यानि भाषा के फैलाव का अध्ययन किया गया। यह भी अन्तःकरण की एक धारा है। इसी तरह इस पंक्ति का कर्म सिद्धान्त आदि में बहुत अध्ययन किया गया। पश्चिम में अटूट पंक्ति (continous line) का अध्ययन हुआ। मैं छिंदित पंक्ति को डिस्क्रीट (अक्षरित) और अटूट पंक्ति को कन्टीव्यूअस लाईन (अनक्षरित) इसलिए कहता हूँ क्योंकि हमारे ये विचार इस आधुनिक शब्दावली में भी ठीक से बैठ जाते हैं। वास्तविकता डिस्क्रीट है। कन्टीनुअम या अटूटता आधुनिक मिथक है। इसका अर्थ यह है कि आपने देश-काल की अटूटता का एक ढाँचा वास्तविकता पर डाल दिया है। उस अटूटता पर पदार्थ तो बैठ जाता है, पर आदमी नहीं बैठ पाता क्योंकि वहाँ शरीर और मति के अन्तराल की समस्या उठ जाती है पर अगर आप पंक्ति को डिस्क्रीट मानेंगे सब बैठ जाता है। हमारे यहाँ डिस्क्रीट की समझ थी और इसके लिए अक्षर होना आवश्यक है। पश्चिम में सीमाओं को बन्द माना गया है। जैसे कुर्सी का आकार है और उसकी एक सीमा है। यह सीमा उनके हिसाब से बन्द है, इसी तरह ब्रह्माण्ड की सीमा भी बन्द है। यूनान में यह विडम्बना चला करती है कि अगर आपने एक भाला फेंका तो सीमा पर उसका क्या होगा, टकराएगा, गिरेगा या वापस आएगा। ब्रह्माण्ड की सीमा मान लिया। इससे परिसीमित क्षेत्र बने, जैसे सेट। सेट अपने सदस्यों की सीमा रेखा तय करता है, प्रोपोजिशन वस्तुओं और उनके गुणों की सीमा रेखा है। उसमें एक आकार छुपा है। पश्चिम ने इन बन्द सीमांकनों को लेकर अपने सिद्धान्त विकसित किये। हमारे यहाँ सीमाएँ खुली हुई हैं जैसे अक्षर (पंक्चुएशन) अपने दो ही कथ्यों को धारण करता। ये कथ्य उसे धारण करते हैं और इन कथ्यों का अस्तित्व बना रहता है। अक्षर (पंक्चुएशन) से वास्तविकता का रूप बनता है, और बन्द सीमाओं से भाषा के तर्क की संरचना तैयार होती हैं। पश्चिम में वह हुआ है। इसीलिए वहाँ यथार्थ की कोई सत्ता मीमांसा नहीं है, वह तर्क को तोड़ता मरोड़ता रहता है। वहाँ यथार्थ सिद्धान्तों को तोड़ता-फोड़ता रहता

है और नये सिद्धान्त बनते रहते हैं। वहाँ यथार्थ के प्रति पूजा भाव है। भारत की तर्क पद्धति डिस्क्लोज़र की है, पश्चिम की एनक्लोज़र की। वे मानते हैं कि पहले सीमाओं को बन्द कर लो फिर देखो उसमें कौन-सा तर्क चल सकता हैं। यहाँ वह सीमा खुली हुई है, इसलिए यहाँ का तर्क वर्णनात्मक होता है। यहाँ यह प्रश्न है कि क्या है और इससे कथाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। वहाँ जो लोग ठीक से सीमांकन कर लेते है, वे तर्क को थाम लेते हैं, और बाकी दुनिया टेढी-मेढी चलती रहती है। एक आईडॉस है, दूसरा डॉक्सा। इस अराजक स्थिति से भद्रलोक चिन्तित होता रहता है और क्रान्तिकारी प्रसन्न रहता है। इस सन्दर्भ में सबसे पहले मैंने व्याकरण को देखा तो पाया कि वहाँ सारा प्रारूपण और प्रक्रियाएँ अक्षर (पंक्चुएशन) से निकल आती हैं। पर वह व्याकरण तक सीमित नहीं है। पदार्थ शास्त्र का भी पूरा प्रारूपण इससे निकल आता है। एक अक्षर बोध से जो कणाद की समाधि है, पदार्थ शास्त्र निकल आता है। हर दर्शन में एक समाधि बैठी हुई है। समाधि में जो अनुभव था, उसमें कुछ रूपाकार थे। यह रूपाकार ही समाधि बोध है। कणाद की समाधि में आधार-आधेय भाव (रूपाकार) है। बौद्धों या अद्वैत की माने तो उसमें ग्राहय-ग्राही भाव है। एक चीज़ दूसरे को निगल जाती है। वहाँ ग्रहण करने का भाव है। सांख्य में प्राकृत-विकृत भाव है। एक प्रकृति है, दूसरा उसका विकार है। ब्रह्मन विकृत में खुलता है, और प्राकृत में संकुचित हो जाता है। ये तरह-तरह के रूपाकारों की स्वप्रेरणाएँ हैं, जिनसे अनेक प्रस्थान बने हैं। आजकल मैं कल्पना पर सोच रहा हूँ, कल्प, विकल्प (जिसका आशय ज्ञान है) कल्पना से संकल्प होता है, जिससे कर्म होता है। संकल्प का आशय कर्म है। मैं यह सोच रहा हूँ कि कल्पना में क्या प्रारूपण और प्रक्रियाएँ हैं। फ़िल्मों में क्या प्रक्रियाएँ हैं, संगीत में, चित्रकला आदि में। यह सब वैशेषिक दर्शन के साथ संयोजित होता जा रहा है। जैसे न्याय-वैशेषिक दर्शन है, वैसे ही जैन-वैशेषिक हुआ है, मीमांसा-वैशेषिक, बौद्ध-वैशेषिक हुआ है। इसी तरह योग दर्शन है। सांख्य-योग है, जैन-योग भी है, बौद्ध-योग भी है और तन्त्र योग भी है। वैशेषिकों का पदार्थ शास्त्र आपको जैनियों में भी मिलेगा, बौद्धों में भी, मीमांसकों में भी। इन तीनों-चारों प्रास्थानों में कुछ-कुछ अन्तर है। बौद्धों ने यह माना कि जीवन की धारा चित्त सन्तति एकमात्र पंक्ति है। हम जितने भी विभेद क्यूँ न करें, वे सभी उसी पंक्ति पर होंगे। पंक्ति अनादि है पर सान्त है। निर्वाण पर उनका अन्त है। उसी के ऊपर चित्त बना है। उससे चैतसिक बना है, फिर रूप बना है, ये सब उसी एक पंक्ति पर बने है। ऐसी अनेक लोगों की अनेक समान्तर पंक्तियाँ हैं। वहाँ धर्म-धर्मी के बीच जो सम्बन्ध है, वह आधार अधेय भाव न होकर ग्राहय-ग्राही भाव है। चित्त चैतसिकों का ग्रहण कर लेता है और रूपों को ग्रहण कर लेता है। चित्त के साथ कई रूप के पुद्गल चिपके हुए हैं, चित्त ने उन्हें ग्रहण किया हुआ है। शैवों में शैया-शयी भाव है। तन्त्र ने इसे मूल माना है। ऐसे कई प्रस्थान बने हैं। किसी ने कहा जो एक से दो हुआ, वह आधार-आधेय पर हुआ, किसी ने कहा वह ग्राह्य-ग्राही पर हुआ, किसी ने कहा इनमें व्यंग्य-व्यंग्यी भाव है। व्याकरण ने कहा यह प्रकृति-प्रत्यय भाव है। व्याकरण में यह था कि कोई मूल चीज़ है, और उसमें कुछ आकर जुड़ गया। इस तरह शिव शक्ति की कल्पना में भी अक्षर की ही बात है। सारी कलाएँ इससे निकली हैं। पहला सृजन कम्पन और फिर उसमें अवरोध यही शिव-शक्ति है और प्रथम रूकावट है। इसको लेकर बाकी

रूपाकार बनते हैं, जो शिव और शक्ति के बीच की लीला है। ऐसे ही रूपाकार वैष्णवों ने भी प्रस्तावित किये। ऐसे ही अनेक प्रस्थान हैं, तन्त्र हैं और वहीं से अनेक सम्प्रदाय बने। इसलिए यह देश बहुतन्त्रवादी रहा। इनमें से हरेक प्रस्थान का अपना महत्व है, हरेक पर आधारित जीवन की सृष्टि हो जाती है। उसी से सम्प्रदाय बनते हैं और एक तरह का रहन-सहन प्रारम्भ हो जाता है। यह विधान एक हद तक चलता है। फिर कोई दूसरा आ जाता है। हमारे यहाँ कई सम्प्रदाय और कई तन्त्र हैं पर कई मत नहीं है। यहाँ सृष्टि की एक पकड़ होती है, उस पर जीवन का विधान होता है और सम्प्रदाय बन जाते हैं। इनके बीच वाद-विवाद से लेकर वितण्डा और लडाईयाँ भी हुई हैं। पश्चिम से भिन्न डिस्क्लोज़र की अन्तर्दृष्टि केवल वैशेषिकों तक सीमित नहीं है। वह सभी दर्शनों में मिलती है। पर वैशैषिकों ने बड़ी स्पष्टता से पदार्थ विभाजन किया है। और उसमें जड़ और चेतना को एक ही तरह से और एक-सी स्पष्टता से पकड़ा गया है। तीसरी बात यह है कि वैशेषिक शास्त्र अभी पूरा नहीं हुआ है, उसकी समाधि की एकवाक्यता भले ही पकड़ ली गयी हो पर अभी तक उसकी व्याख्या खुली हुई हैं। मुझे वैशेषिक मीमांसा पसन्द है। इसी वैशेषिक का विस्तार समाज और विधि तक हो जाता है। दूसरी ओर उसी वैशेषिक का एक विस्तार नाट्यशास्त्र में मिलता है। नाट्यशास्त्र की प्रमुख चार धारणाएँ हैं। ये व्याख्याएँ रस निष्पत्ति पर विचार करते हुए की गयी हैं। इनमें भट्टलोल्लक आदि विचारकों की व्याख्याएँ हैं। एक व्याख्या नैयायिकों की है अनुमानवाद, एक वैशेषिकों की है कार्य कारणवाद ; बाद में एक आयी भाषावादियों की और एक ध्वनिवादियों की व्याख्या है। वैशेषिक की एक धारा अद्वैत के साथ भी जाती है, जिसे भास्कर अद्वैत कहते हैं। इसी तरह वैशेषिकों की नाट्यशास्त्र की व्याख्या भी है; मैं उस पर काम कर रहा हूँ। उससे आप अनेक रूपाकार देखते हैं; जैसे कि फ़िल्म में छः तरह के पदार्थ होते हैं। सिनेमा के बारे यह सब किसी भी ग्रन्थ में नहीं लिखा है। पर अगर वैशेषिकों की एकवाक्यता को पकड़ लिया जाए, उसमें से ये सारी चीज़ें निकल आएँगी। उसी में से विधिशास्त्र भी निकल आएगा।

उदयनः– क्या आप यह कह रहे हैं कि वैशेषिक दर्शन के सहारे आप आधुनिक विज्ञान के मूलभूत अन्तर्विरोधों को सामने रख सकते हैं?

नवज्योतिः– इस रास्ते विज्ञान का उद्धार होगा। हम आधुनिक विज्ञान के ऋणी है। उस ऋण की हमें पूर्ति करना है। वह जिस समस्या में फँसी हुई हैं, उसे सुलझाना हैं। वैशेषिक के सहारे वह बाहर निकल जाएगी और उसे शर्मिन्दा भी नहीं होना पड़ेगा। विज्ञान में बहुत-से अदृष्ट है। उसे दृश्य में लाना है। दर्शन का आरम्भ में प्रयोजन अदृष्ट को दृश्य करना माना गया था। दर्शन का अर्थ ही यह है कि जो प्रक्रियाएँ पीछे-पीछे अदृश्य रूप से चल रही हैं, उन्हें दृश्य बनाया जाए। पश्चिमी विज्ञान ने भी उदाहरण के लिए अदृश्य इलेक्टोमेग्नेटिक तरंगों को दृश्य कर दिया है। यह उनके प्रति हमारा ऋण है। बिजली के लिए हम उनके ऋणी हैं। उसकी पूर्ति कैसे की जाएगी। उन्होंने जो अदृश्य को दृष्ट किया है पर यह सब एक हठ के अधीन किया है। हठ यह थी कि जितने भी जड़ पदार्थ हैं उनकी कार्य कारण प्रक्रियाएँ जड़ात्मक है, जड़ के भीतर ही है। (बिना हठ के शक्ति प्राप्त नहीं होती। तन्त्र में भी

यही कहते है कि बिना व्रत लिए शक्ति प्राप्त नहीं होती) उन्होंने भी यह व्रत ले लिया और वे इसी हठ पर डटे रहे। एक मन और दृष्टि से। अगर किसी ने इस पर कोई प्रश्न उठाया, वे उससे लड़े-झगड़े। इसका परिणाम यह हुआ कि कई अदृष्ट दृश्य हो गये। इलेक्ट्रोमेनेटिज्म के कारण लोगों की दुनिया बदल गयी। कपड़े बदल गये, बालों को सँवारने के ढंग बदल गये। इसीलिए सारी दुनिया उनकी ऋणी है। इस ऋण को उतारे बिना हमारा भविष्य नहीं है। ऋण पूर्ति का सबसे महत्वपूर्ण मार्ग यह है कि उस दृष्टि में जो त्रुटियाँ हुई हैं उन्हें सुधारो। किसी को धिक्कारने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। यह कार्य हो रहा है, बल्कि अपने आप हो जाएगा।

उदयनः– विभिन्न अन्तर्दृष्टियों के बीच के सहकार की जिस सम्भावना को आपने देखा है, उसके विषय में कुछ विस्तार से कहिये...

नवज्योतिः– पश्चिम में पिछले डेढ़ सौ साल से, जबसे वे उपनिवेशवाद के विस्तार के कारण राजनैतिक रूप से महत्वपूर्ण हुए हैं, वहाँ यह विचार हुआ है कि विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों के बीच संवाद होना चाहिए। इस संवाद से कुछ समझ बन सकेगी। भारत में तो सभी सिद्धान्तों में आध्यात्मिकता सामान्य है। हेनोवर मेले के समापन पर एक बार इस तरह की बातचीत आयोजित हुई थी। मैं उसमें गया था। वहाँ यह प्रश्न उठा था कि विभिन्न धर्मों के बीच कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। मैंने उसमें कहा था, कि विभिन्न धर्मों के बीच जो सैद्धान्तिक मतभेद हैं, उनके द्वन्द्व को देखने से कुछ नहीं निकलेगा। दरअसल समझने की बात यह है कि दुनियाभर की सभी धार्मिक परम्पराओं में दरअसल शिष्ट व्यक्ति को बनाने का प्रयास रहा है। शिष्टता के आधार पर ही ये विभिन्न मतभेद दूर हो सकते हैं। मैंने इस तरह का प्रस्ताव रखा था। शुरू में धर्मों के बीच संवाद की बात कही जाती थी। बाद में यह प्रस्ताव आया कि चूँकि विज्ञान में एक ख़ास किस्म की सहनशीलता है क्योंकि कितनी भी दृष्टियाँ हों, वहाँ उनके बीच समाधान हो जाता है। इसलिए अगर वैज्ञानिक दृष्टि स्थापित हो जाए, धर्मों के बीच के विवाद शान्त हो जाएँगे। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद यह बात चलती रही है। इस वैज्ञानिक प्रस्ताव के साथ ही एक उदारवादी प्रस्ताव भी रखा जाता रहा है कि दुनिया ऐसी हो गयी है कि इसमें काले, पीले, हरे एवं नीले हर तरह के लोग इकट्ठा काम कर रहे हैं, इसलिए कुछ ऐसे नियम कायदे बनाये जायें जिनसे ये सारे लोग आपस में व्यापार कर सकें और उनकी आस्थाएँ भी निजी स्तर पर बची रहें। अगर ऐसा हुआ तो सबके बीच तालमेल बन जाएगा। ऐसे मतभेद जो असमाधेय हैं, उन्हें घर तक ही सीमित रखा जाए, उन्हें सार्वजनिक होने से रोक लिया जाए। इस विचार में एक राजनैतिक त्रुटि बीस-तीस बरसों से दिख रही है। सार्वजनिक क्षेत्रों में यह आक्षेप लगते रहे हैं कि इनमें भी निजताओं का कब्जा है जैसे ओसामा बिन लादेन ने यह कहा कि अमेरिका ईसाईयत है और ऐसा ही कुछ जार्ज बुश ने भी कहा कि वे इराक पर क्रूसेड कर रहे हैं। इसका आशय यह हुआ कि कोई भी गैर निजी सार्वजनिक क्षेत्र नहीं है। सारी दुनिया में धार्मिक आस्थाओं पर आधारित राजनैतिक आन्दोलन हर जगह पर हैं। उदारवादियों का सार्वजनिक क्षेत्र के बरअक्स निजी क्षेत्र को रखने का प्रस्ताव विफल हो रहा है इसलिए धर्मों के बीच के मतभेद को सुधारने का उदारवादी रास्ता भी सफल होता नहीं दीखता।

इस परिप्रेक्ष्य में यह विचार करना आवश्यक हो गया है कि क्या चीज़ हो सकती है जो दीर्घकाल तक चले। सभी समाजों के लोग यह समझते हैं कि समाज में सम्प्रभुता के सृजन में शिष्टता हो। अशिष्ट व्यवहार की आलोचना हर जगह है। हर समाज में शिष्ट व्यक्ति बनेगा, वह उस समाज की नैतिक बुनावट को सम्भाल कर रखता है। वह उदाहरण बन जाता है। हमारे यहाँ मर्यादा पुरूषोत्तम की धारणा में यही मिलता है। अरबी में यह बात अदब में आ जाती है। अशोक आदि में भी यह बात मिलती है और यूनानी परम्परा में यूसेबिया की धारणा में भी यही बात है जहाँ ऐसे व्यक्ति की बात की जाती है जिसके कृत्यों में अन्यों के प्रति सम्मान हो। किसी भी सम्प्रदाय में चाहे जो सैद्धान्तिक आधार हों, शिष्टता का सम्मान अवश्य होता है। अगर शिष्ट व्यक्ति हों तो सैद्धान्तिक मतभेदों से जो अन्याय हो सकते हैं, वे रूक सकते हैं। इसका आधार हम सनातन परम्परा में से, विशेषकर मीमांसा शास्त्र से, दे सकते हैं। उसके अनुसार मानवीय कर्म का विश्लेषण करने से शिष्टता का बोध उत्पन्न किया जा सकता है। मेरे उस लेख में वैशेषिक शास्त्र का सिद्धान्त प्रस्तावित है। यूरोप में शिष्टता को समझने के लिए दो तरह की बातें की जाती हैं। पहली बात यह है कि व्यक्ति को सद्गुण सम्पन्न होना चाहिए। सद्गुणी के हाथ में ही राजनैतिक व्यवस्था होनी चाहिए। यहाँ सद्गुणी और सद्भाव सम्पन्न तानाशाह के बीच कौन-सी विभाजक रेखा है, यह स्पष्ट नहीं है। दूसरी ओर है कानूनी व्यवस्था में विश्वास : अनुबन्ध के सिद्धान्त के अनुसार भी यह स्थिति है, 'मैं आपको नहीं मारूँगा, आप मुझे मत मारो।' अगर ऐसा होता है, हम एक-दूसरे के प्रति शिष्टता बनाये रख सकते हैं। आधुनिकता में शिष्टता के इस तरह दो आधार परिकल्पित किये गये। एक सद्गुण की नैतिकता और दूसरी कानूनी व्यवस्था। यूरोप और अमरीका में कानूनी व्यवस्था के अन्तर्गत सभी लोग एक-दूसरे से शिष्ट व्यवहार करते हैं। पर वह बड़ा उथला जान पड़ता है। क्या इन दोनों ही तत्वों को हटाकर शिष्टता का कोई आधार हो सकता है ? मुझे लगा यहूदियों, मुसलमानों और सनातनियों के यहाँ इसका आधार है जो न सद्गुण पर टिका है और न कानून पर। मैंने उसको बताने की कोशिश की है। उसे हम इस तरह देख सकते हैं : कार्यान्त में शरीर आता है, कार्य के आरम्भ में अन्तःकरण होता है। जिसमें संकल्प और प्रयोजन आदि होते हैं पर कार्य के अन्त में शरीर आ जाता है। इसके बगैर क्रिया का अनुष्ठान नहीं हो सकता। क्रिया की समाप्ति पर उसके फल की सृष्टि हो जाती है, उसका असर अलग-अलग लोगों पर भविष्य में होता है। इसमें समय का एक अन्तराल आता है। जब भी आप कोई क्रिया करते हैं, उसका फल किसी और परिस्थिति, देशकाल में होता है। वह तुरन्त नहीं होता। इसके कारण अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं, किसी को किसी की क्रिया बुरी लग सकती है। यह अन्तर्विरोध किस आधार पर सुलझाये जा सकेंगे ?अगर आप यह मान लें कि इनमें से कुछ अन्तर्विरोध कभी और कहीं और सुलझे थे। आप एक वैचारिक प्रयोग करें कि जब-जब और जहाँ-जहाँ भी न्याय हुआ, जिस किसी समय में, जिस किसी जगह पर उन सबको एकत्र कर लें। अगर हम एक ऐसा समुच्चय बनाते हैं, हम पाएँगे जो न्याय एक जगह हुआ वह दूसरी जगह हुए न्याय से अलग था। इसी तरह दो अलग समयों में हुए न्याय भी अलग होंगे। मैंने यह प्रश्न उठाया कि किस परिस्थिति में न्याय अभिन्न हो सकता है ?अगर दो बातें स्वीकार कर ली जायें तो यह समुच्चय अभिन्न बना रहता है। एक तो यह कि ऐसा कोई अन्तर्विरोध

या विवाद नहीं है जिसमें आप सैद्धान्तिक स्तर पर न्याय नहीं कर सकते हों यानि ऐसा कोई विवाद नहीं हो जो सुलझाया न जा सके। इसका अर्थ यह है कि कोई भी स्थिति आत्यन्तिक रूप से त्रासद नहीं है। सारी त्रासदियाँ अन्तरिम हैं। अगर ऐसा एक भी विवाद है जो आत्यन्तिक रूप से असमाधेय है और चूँकि विवादों में यह गुण होता है कि वे एक से दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं इसलिए एक विवाद की यह असमाधेयता सभी विवादों में प्रविष्ट हो जाएगी और तब ऐसा एक भी विवाद नहीं होगा जो समाधेय हो इसलिए एक परासिद्धान्त के तहत आपको यह मानना ही होगा कि सभी विवाद सिद्धान्ततः समाधेय हैं। आप भले ही व्यवहारतः उनके बीच न्याय न कर सकें। इसी से जुड़ा हुआ एक और सिद्धान्त आपको मानना होगा कि किसी भी विवाद के पीछे की परिस्थिति और कथ्य ज्ञेय है क्योंकि अगर कोई पूरी तरह से गुप्त कर्म है और वह विवाद उत्पन्न कर रहा है, आप उसका समाधान नहीं कर सकते। इसलिए दूसरा सिद्धान्त यह है कि ऐसा कोई कर्म नहीं है जो आत्यन्तिक रूप से गुप्त हो। अगर ऐसा एक भी कर्म है जो आत्यन्तिक रूप से गुप्त है, आप किसी भी विवाद में न्याय नहीं कर सकते। अगर ये दो परासिद्धान्त स्वीकृत होते हैं यानि अगर यह स्वीकृत होता है कि सभी विवादों में न्याय सम्भव है और सभी कर्म ज्ञेय हैं तो जिस समुच्चय की हम बात कर रहे हैं वह अन्तर्निष्ठ हो सकता है। वह अन्तर्निष्ठ कैसे होगा ?अगर कोई ऐसा विवाद है जिसका समाधान नहीं हो पाया है तो कहीं और ऐसा कोई विवाद अवश्य होगा जिसमें इसका समाधान होगा और चूँकि वे एक ही प्रवृत्ति के द्योतक होंगे, विवादों के समुच्चय में अन्तर्निष्ठता आ जाएगी क्योंकि यह समुच्चय सार्वभौमिक है। मीमांसा की दृष्टि से हम यह कहते हैं कि हर कर्म के पीछे कुछ विधियाँ होती है, उन्हीं से वह घटित होता है और उन्हीं से वह समझ में आता है। इसी तरह विवादों के समाधान के पीछे भी विधियाँ हुआ करती हैं। इसीलिए उक्त समुच्चय के भीतर ऐसी विधियाँ होनी चाहिए जिनकी संगति इस समुच्चय के दोनों सिद्धान्तों से हो : हर विवाद समाधेय है और कोई भी कर्म पूरी तरह गुप्त नहीं हो सकता। ये वो विधियाँ नहीं होंगी जो किसी विशेष व्यक्ति ने तैयार की हों। ये विधियाँ किसी भी व्यक्ति से स्वायत्त होना चाहिए। ये विधियाँ कालबद्ध भी नहीं होनी चाहिए। इन्हें अनादि होना चाहिए। दूसरे शब्दों में ये विधियाँ अपौरूषेय और अनादि होना चाहिए। अपौरूषेय और अनादि विधियों की संहिता को वेद कहा जाता है। इस तरह इस समुच्चय की विधियों से वेद बन जाते हैं। यह वेद हर व्यक्ति में स्वायत्ततः उपलब्ध है। न्याय और विवाद के प्रश्नों में यह पाया गया है कि कोई भी किसी को भी यह बता नहीं सकता कि न्यायसंगत क्या है। अगर आप किसी को यह बताने की कोशिश भी करेंगे, वह ऊपर से तो मान जाएगा पर भीतर ही भीतर वह अपनी बात को रखे रहेगा। यह बात आप किसी को नहीं बता सकते, बच्चों को भी कि क्या उचित है, क्या अनुचित है ? बाकी सारी बातें बतायी जा सकती हैं, यह बात ज्ञान से परे है। उचित और अनुचित का बोध ही उक्त समुच्चय का बोध है। इसीलिए यह समुच्चय हर व्यक्ति को स्वायत्ततः उपलब्ध है औचित्य के रूप में । यहाँ तक कहा जा सकता है कि व्यक्ति की स्वायत्तता अगर परिभाषित की जाती है, वह इसी समुच्चय के होने के कारण है। जैसे कोई कहता है मेरा शरीर वही है, बचपन से अब तक इसलिए निज शरीर के कारण मैं स्वायत्त हूँ या कोई यह कहे मेरी आत्मा आपकी आत्मा से अलग है इसलिए मैं आपसे अलग और स्वायत्त हूँ, कोई यह

कहे मेरे कर्म की व्यवस्था अलग है, आपकी अलग इसलिए मैं स्वायत्त हूँ। पर यदि स्वायत्तता का एक अर्थ शक्ति का स्रोत भी है तो वह इसी में है कि आपको उचित और अनुचित का सर्वथा अद्वितीय विवेक उपलब्ध है। फिर उस विषय में लोग चाहे जो कहें। अगर कोई व्यक्ति इस स्वायत्त विवेक के सजग होते हुए कोई भी कर्म करता है, वह उचित होगा। तब विवाद की सम्भावना नहीं है। पर ऐसा होता है कि लाघव के कारण यानि किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए व्यक्ति अपनी स्वायत्तता का उपयोग नहीं करता, वह उसे दूसरों पर छोड़ देता है। पर जब वह उसे दूसरों पर छोड़ता है, उसकी यह स्वायत्तता जिसे उसने दूसरे के सामने समर्पित किया है, उस दूसरे में जाकर टिक जाती है। हन्ना ऐरेण्ड ने क्रान्तिकारी की एक अनूठी परिभाषा दी थी : क्रान्तिकारी वह है जो यह जानता है कि कब शक्ति सड़कों पर बिखर गयी है ताकि वह उसे ग्रहण कर सके। प्रभुता का जन्म इसी तरह होता है, जब आपके स्थान पर कोई और आपका निर्णय लेता है। प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति वह है जो अन्यों के औचितांश को ग्रहण कर लेता है और जो उक्त समुच्चय तक पहुँचने के मार्ग को जानता है इसीलिए लोग उसके पास जाते हैं। उससे पूछते हैं कि यह विवाद है इसे कैसे सुलझाया जाए। चूँकि व्यक्ति स्वयं निर्णय नहीं ले पा रहा होता इसलिए वह अपनी स्वायत्तता प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति को सौंप देता है। शक्ति के केन्द्रों का निर्माण इसी तरह होता है। अगर आप यह सर्वेक्षण करें कि किस तरह के कार्यों में आप अपने औचित्य की स्वायत्तता का समर्पण करते हैं, आप पाएँगे कि उदाहरण के लिए आप वित्त विषयक निर्णय अन्यों पर छोड़ देते हैं : इससे वित्त पीठ बन जाती है। जब आप यह निर्णय कि बच्चों को क्या सिखाना है या किन कौशलों में दक्ष करना है आदि शिक्षकों पर छोड़ देते हैं तब यह अधिकार शिक्षकों के पास चला जाता है और विद्यापीठ या संस्कृति पीठ बनते हैं। दण्ड देना भी जब अन्यों पर छोड़ दिया जाता है तो इससे राजपीठ बनती है।

इसी तरह आपको द्वन्दों से कैसे निपटना है, इसका दायित्त्व जब आप अन्यों पर छोड़ देते हैं, इससे धर्मपीठ तैयार हो जाती है। ये कुल मिलाकर चार पीठें हैं। इन्हें ही चतुर्वण कहा गया है। इस व्याख्या में सारी शब्दावली मीमांसा की नहीं है, आधुनिक भी है, पर इससे यह सब निकल आता है। इन पीठों के पीठाधिकारी का यह दायित्त्व है कि जिन लोगों ने भी उसके आगे अपनी स्वायत्तता समर्पित की है उनकी ओर से वह विवेकपूर्ण निर्णय ले, न्यायपूर्ण निर्णय ले। एक विधि 'शरणागत रक्षते' की है। वह यहाँ भी लागू होती है जैसे मैंने पहले कहा। जो भी आपकी शरण में आ रहा है, आपको उसकी रक्षा करना है। अगर पीठाधिपति यह सोचे कि मुझे अपनी रक्षा करनी है तो वह राक्षस प्रवृत्ति का पालन कर रहा है। यही कुछ आधुनिक राजनैतिक व्यवस्थाओं में हो रहा है। यह पहले भी हुआ है। राक्षसों और देवताओं का संघर्ष अन्तःकरण में हमेशा से होता रहा है। इसकी परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, समय बदलता रहता है जैसे पहले कृतियुग हुआ, फिर त्रेता, फिर द्वापर, और कलियुग। इस बदलाव के कारण तासीर बदल जाती है। समय या युग का बदलना भूकम्प आने जैसा कुछ है। तब शेषनाग करवट ले रहा होता है। परम्परा तब बनती है जब नूतनत्व में नित्यता का आभास उत्पन्न हो। इस तरह ये चार पीठें बनती हैं, ये शक्ति के केन्द्र हर समाज में हैं और यह उसी तरह समाजों में स्वभाविक रूप से रहते हैं जैसे आग में तेज़। इन पीठों में ही विधायक शक्ति होती है। ये शक्तियाँ

विधान करती हैं कि उदाहरण के लिए यह चीज़ इतने में बेची या खरीदी जायेगी आदि। इन पीठों के या शक्तियों के संयोजन से राजनैतिक व्यवस्था तैयार हो जाती है। यहाँ एक विचार यह है कि हर व्यक्ति सार्वभौमिक स्तर पर न्याय कर सकता है। (मीमांसा में यह विचार आता है) इसीलिए उसे ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती। चूँकि हर व्यक्ति की सीमाएँ हैं, उसका शरीर सीमाबद्ध है इसलिए उसे दूसरे पर भरोसा करना होता है, उसे कुछ चीज़ें दूसरों पर छोड़नी पड़ती है। यह नैसर्गिक है। शक्ति के स्वरूप इस तरह अपने आप बनते रहते हैं। देखा जाए तो विभिन्न सम्प्रदाय इसी तरह शक्ति का साझा करने से बने हैं। यहाँ भी किन्हीं लोगों ने अपनी शक्ति कुछ लोगों को सौंप दी है। अगर कल वे लोग चाहेंगे तो अपनी शक्ति वापस भी ले सकते हैं। ऐसा होता रहा है। सोवियत संघ लम्बे समय तक अपराजेय जान पड़ता रहा था। पर वह चुटकी में गिर गया। न्याय करने की यह सार्वभौमिक सामर्थ्य न्याय की आत्यन्तिक सम्भावना पर आधारित है। यह दो सिद्धान्तों पर टिकी है : सारे विवाद समाधेय हैं और सारे कर्म ज्ञेय हैं। इस प्रारूप में अन्याय एक पंक्ति में परिभाषित है : न्याय करने के स्थान की अनुपलब्धि। यह मुँह मोड़ने जैसी बात है कि आप उस ओर देखें तक नहीं, जहाँ न्याय हो सकता है, आप ऐसी परिस्थिति न बनने दें कि न्याय हो सके। क्योंकि परिस्थिति के कारण ही कोई अपने न्याय करने के अधिकार की स्वायत्तता को समर्पित करता है और ऐसी परिस्थिति ही न बनने दी जाए कि न्याय हो सके। पर ऐसे अन्याय के रूप भी हैं जहाँ आप उसका कथ्य नहीं जानते क्योंकि ज्ञान भी परिस्थितियों से सीमित रहता है। पता ही नहीं चल पाता कि क्या चल रहा है। यह इसलिए होता है क्योंकि न्याय की सार्वभौमिकता की चेतना का अभाव हो जाता है। इसके अलावा अन्याय का और कोई तीसरा कारण नहीं हैं। पर न्याय का प्रश्न बड़ा पेचीदा है और उसके लिए आपको शक्ति केन्द्रों को देखना होता है, यह देखना होता है कि ये कैसे बने और इनके व्यवहार का परीक्षण करना होता है। इस परीक्षण को ही हम नीति कहते हैं जैसे राजनीति राज काज का परीक्षण करने की प्रक्रिया को कहा जाता है। धर्मनीति धर्म पीठों का परीक्षण करती है। अर्थनीति वित्त पीठ का परीक्षण है। यह प्राथमिक विमर्श है और इसमें जो सामूहिक हित है वह साहित्य है, कविता आदि इसी विमर्श के तहत आ जाते हैं। इसी में विमर्श और कर्म दोनों आ जाते है। आदमी इसी सोच-विचार में रहता है कि उसके कर्म की रचना किस तरह हो। उसके दिमाग में यही चलता रहता है कि मैं ऐसा करूँ या वैसा। परिस्थितियों की सीमाओं में रहकर वह रास्ता खोजता है। यह हर समाज में चला करता है। यह सिर्फ़ भारतीय समाज में ही नहीं चल रहा। यहाँ यह चल रहा है कि न्याय की सार्वभौमिकता है या नहीं। पश्चिम में भी, भले ही भूलवश, न्याय की सार्वभौमिकता का स्वीकार दिखायी देता है। यूथिफ्रो का सुकरात से एक संवाद है जिसमें एक ऐसी विडम्बना का बखान है जिसने पश्चिम को दो हज़ार वर्षों तक उद्वेलित किया है। संवाद में यूथिफ्रो से यह प्रश्न पूछा जाता है कि शिष्ट कर्म क्या है? सुकरात पर अशिष्ट व्यवहार का आरोप लगा और वह कचहरी गये। वहाँ यूथिफ्रो आया, उसने कहा, 'मैं अपने पिता पर आरोप लगाने आया हूँ।' सुकरात उससे यह कहते हैं कि अगर उसके पिता ने उसे यह सिखाया है कि क्या अशिष्ट है और क्या नहीं और अगर वह उन्हीं पर आरोप लगा रहा है, इसका अर्थ है कि उसे पता है कि शिष्ट व्यवहार क्या है। सुकरात यूथिफ्रो से

कहते हैं कि वह उन्हें अपना शिष्य बना ले और उसे बताये कि शिष्ट व्यवहार क्या है। हुआ यह था कि एथेंस नगर से बाहर यूथिफ्रो के पिता ने एक स्वतन्त्र व्यक्ति को काम पर रखा था, उसने एक दास की शराब पीकर हत्या कर दी। यूथिफ्रो का पिता भी वहीं था। यह घटना नगर राज्य से बाहर हुई थी। (दास नगर राज्य का ही सदस्य हुआ करता था।) यूथिफ्रो के पिता ने उस स्वतन्त्र व्यक्ति को बाँधकर एक गड्ढे में डाल दिया और अपना एक सन्देशवाहक एथेंस नगर यह जानने भेजा कि इस स्वतन्त्र व्यक्ति को क्या दण्ड दिया जाये (स्वतन्त्र व्यक्ति नगर राज्य का सदस्य नहीं होता था और यूथिफ्रो के पिता को नगर राज्य से बाहर के दण्ड-विधान का बोध नहीं था।) जब सन्देशवाहक लौटा तब तक वह स्वतन्त्र व्यक्ति गड्ढे में बँधा हुआ मर गया। यूथिफ्रो का अपने पिता पर यह आरोप था कि उन्होंने उस स्वतन्त्र व्यक्ति को पहले ही मृत्यु दण्ड दे दिया था क्योंकि उन्होंने उसके साथ ऐसा व्यवहार किया था कि उसके प्राण नहीं बच सके। यूथिफ्रो के अनुसार यह अशिष्ट कर्म था इसलिए वह न्यायालय आया था। सुकरात ने उससे कहा कि वह उसे यह समझा दे कि शिष्ट क्या है क्योंकि उस पर खुद अशिष्टता का आरोप लगा था। अगर उससे पूछा जाता कि शिष्ट क्या है, वह यह कह सकता था कि शिष्ट व्यवहार यह है या वह है और आग्रह करता कि इस विषय में उसके गुरू यूथिफ्रो से पूछ लिया जाये। इस पर यूथिफ्रो ने कहा कि शिष्ट व्यवहार वह है जो देवताओं को प्रिय है। सुकरात बोले, 'इस वाक्य का परीक्षण करते हैं।' वे बोले कि कोई चीज़ कुछ देवताओं को प्रिय है, कोई और चीज़ किन्हीं और देवताओं को प्रिय है, ऐसे में तो देवताओं के बीच झगड़ा हो जाएगा। इस पर यूथिफ्रो बोला कि मैं अपना वाक्य सुधार लेता हूँ, 'शिष्ट व्यवहार वह है, जो सभी देवताओं को प्रिय हो।' इस पर सुकरात फिर प्रश्न करता है और इस तरह शिष्टता की पाँच परिभाषाएँ निकलती हैं। ये सुकरात के शुरूआती संवादों में है और इसका अन्त यूथिफ्रो के सुकरात से यह कहने में होता है कि मुझे माफ करो, मुझे और काम भी करने हैं। इस संवाद के दौरान सुकरात पूछता है कि कोई व्यवहार शिष्ट है, इसलिए देवताओं को प्रिय है या चूँकि वह व्यवहार देवताओं को प्रिय है, इसलिए वह शिष्ट है। इस पर यूथिफ्रो कहता है कि तुम मुझे घुमा रहे हो पर तुम्हारी बात ठीक है। मैं इसका जबाव देता हूँ। दरअसल शिष्टता है इसलिए देवताओं को प्रिय है। देवों को प्रिय है इसलिए शिष्टता है, ऐसा नहीं है। संयोग से अशोक के अभिलेखों में शिष्टता के लिए वही शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो इस संवाद में है : यूसेबिया। इसी शब्द के लिए अन्य अभिलेखों में धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है । आन्धप्रदेश में अशोक का एक अभिलेख मिला है, जिसमें अशोक ने स्वयं को 'देवानां प्रियः' लिखा है। यह वाक्य वहीं से आया है। सुकरात से संवाद में यूथिफ्रो यह भी कहता है कि यह ठीक है कि शिष्ट व्यवहार देवताओं को प्रिय है पर वह न्याय (जस्टिस) के अधीन है। यूनानी मिथक विद्या के अनुसार यूसेबिया लोमोस की पत्नी है और उसकी सन्तान डाईक है, जिसका आशय न्याय (जस्टिस) है। सुकरात यह पूछता है कि आप यह कह रहे हैं कि शिष्टता देवताओं को इसलिए प्रिय है क्योंकि उससे न्याय होता है तब क्या चीज़ बड़ी है, न्याय या शिष्टता? यूथिफ्रो उससे कहता है कि इस छोटे-बड़े से तुम्हारा क्या मतलब है? सुकरात जबाव देता है कि ऐसा होता है। चूँकि भय है इसलिए न्याय होता है इसलिए भय के कारण ही वह शिष्ट है। अब प्रश्न यह है कि भय बड़ा है या शिष्टता ? यूथिफ्रो कहता है, यह बात ठीक है क्योंकि

शिष्ट व्यक्ति को यह लगता रहता है कि वह कहीं ग़लत काम न कर जाए। उसको भय है इसीलिए वह शिष्ट है। इस पर सुकरात कहता है कि मनुष्य बीमारी या अकाल से डरता है पर इसलिए वह उनका सम्मान नहीं करता इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि भय है इसलिए शिष्टता है। भय शिष्टता से अधिक व्यापक है। यह सच है कि शिष्टता में भय होता है पर भय अन्यत्र भी है और वहाँ सम्मान या शिष्ट व्यवहार नहीं होता। इसलिए उन अन्य चीज़ों के प्रति भी आपमें सम्मान नहीं होगा। तब यह बताईये कि न्याय बड़ा या शिष्टता ? यूथिफ्रो कहता है, न्याय बड़ा है। ऐसे शिष्ट हो सकते हैं जिनसे न्याय हो रहा हो या न हो रहा हो। यहाँ आकर यह संवाद अटक जाता है। मैं इस अटकन को दूर करने की कोशिश कर रहा हूँ। न्याय मीमांसात्मक होता है, पर नसीहतों के आधार पर नहीं होता, इसके कुछ परासिद्धान्त होते हैं। यह एक प्रवृत्ति है कि सभी विवाद समाधेय हैं। इस प्रवृत्ति के कारण विवाद होते ही लोग उसे सुलझाने में तुरन्त जुट जाते हैं, वे उसे भले ही न सुलझा पाएँ। यह समाधान मीमांसा में इस तरह है कि आपके पास मीमांसात्मक ज्ञान इस तरह उपस्थित है कि जो भी जिस विधि से काम कर रहा है आप संहिता एकत्र कर लो और उन विधियों में अपौरूषत्व देखो (यह देखो कि उनमें किसी का स्वार्थ न हो)। उनके भीतर उन सबका अनादित्व देखो यानि वह तत्व देखो जो चिरकाल से चला आ रहा हो। इनकी स्मृतियाँ ही पीठों में चल रही हैं। अनुष्ठित वेद (ऋग्वेद, सामवेद आदि) का अनुष्ठान हो चुका पर वेद गुफा में ही हैं। वेदों को पढ़ने भर से कुछ निकलता नहीं है। आप विधियों की सूची भी नहीं बना सकते। बहुत लोगों ने इसकी कोशिश भी की है। लोगों को दार्शनिक अवधारणाएँ समझ में नहीं आयीं। वे सिर्फ़ यह देखते रहे कि किन कवियों ने कौन-से देवताओं का ज़िक्र किया है। इसी सबका लोग विश्लेषण करते रहे। आर्य समाजियों और भारतविदों ने यही सब किया है। दरअसल अनुष्ठित वेद तो वेद का शरीरभर है। मीमांसक इसे अर्थवाद कहते हैं। निश्चय ही उसकी स्मृति बनाये रखना एक विशेष कार्य है। उसका उच्चारण भी वही का वही बनाये रखा गया है। यह भी एक महत्वपूर्ण कार्य था, जिसका सम्मान होना चाहिए।

वेद क्या है? वह नहीं जो मुद्रित कर दिया गया है। वेद तो हर मनुष्य के अन्दर टिका हुआ है, वह मनुष्य टिम्बकटू का हो या और कहीं का। चाहे वह अफ़लातून हो या सुकरात या किसी भी समाज का सदस्य हो। उसकी कल्पना से यह समझा जा सकता है कि समाज की सृष्टि कैसे हुई है और उसका चलन आदि कैसा है। आधुनिक समय में यह जो वेद की समझ बनी है कि उसे मोतीलाल बनारसीदास की दुकान से खरीदा जा सकता है, ग़लत है। वेद वह है, जो 'श्रुत' हो। आपके दिमाग में अपने आप आ जाए। वे क्या विषय है जिनमें श्रुति की आवश्यकता होती है? वे दरअसल विवादों के समाधान हैं। वे स्मृतियों से आते हैं। स्मृतियों का अर्थ होता है इतिहास, पुराण इत्यादि और नियम-कायदे, विधान आदि। इनसे विधियों का बोध होता है। लोककथाएँ आदि कहकर यही बोध एक दूसरे तक जाता है। यह बात सम्प्रेषित होती है कि क्या उचित है, क्या नहीं? हर व्यक्ति इसमें सक्षम है बल्कि यही एक चीज़ है जिसमें हर व्यक्ति सक्षम है। जो व्यक्ति अपना हाथ-पाँव भी नहीं हिला सकता, जो और कुछ करने की सामर्थ्य नहीं रखता, उसमें भी यह औचित्य बोध होता है।

इसके आधार पर हम धर्मों के बीच के विवादों को सुलझा सकते हैं।

वेद का अर्थ न्याय की आतुरता और बोध की ओर प्रवृत्ति है, यह हर जगह है। क्रियाओं के जो फल, कर्म इत्यादि होते हैं, वे उसके कर्त्ता के मरने के बाद भी बचे रहते हैं। आप कहते हैं, वे यह करते थे, वह करते थे। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके मरने के बाद भी रह जाता है। हर व्यक्ति के दो जन्म होते हैंः एक माँ की कोख से, दूसरा लोगों के मनों में, जहाँ वे लोगों की स्मृतियों में रहते हैं। यह अलग-अलग तरह के लोग अलग-अलग तरह से करते हैं। हर मनुष्य द्विज है। हर दलित द्विज है। क्या कोई ऐसा कार्य है, जिसकी सज़ा आपकी सन्तानों तक को मिले, क्या ऐसा कोई अपराध है ? इसका पहला जबाव तो यही है कि सभी अपराध ऐसे ही हैं। शर्म के मारे ही सन्तानों को सजा हो जाती है। सन्तानों की सन्तानों को भी यह भोगना पड़ सकता है। यह तीन-चार पीढ़ियों तक चल सकता है। भारत में यह मान लेते हैं कि कुछ विवादों की सज़ा चिरकाल तक रहती है। यह स्मृतियों में लिखा है। ऐसा मान लिया जाता है कि कुछ व्यक्ति द्विज नहीं है। सिद्धान्त तो यह कहता है कि हर व्यक्ति द्विज है फिर इसका क्या अर्थ हुआ कि आप यह कहें कि कुछ व्यक्ति द्विज नहीं हैं। अगर कोई अकेला आदमी कहीं दरू दराज एकान्त में किसी झाड़ के नीचे मर भी जाता है तब भी वह इसलिए द्विज है क्योंकि आपकी स्मृति में वह अकेला रहकर सड़क के किनारे मरा है। इस तरह वह सम्मान का पात्र हुआ। वह स्मृति-कथा का पात्र हो गया।

कोई ऐसा कार्य नही है जिनकी परलोक में कोई छवि नहीं बनती। परलोक का विचार भी दिलचस्प है। धर्मराज के हिसाब-किताब को रखने का कार्य चित्रगुप्त का है। जैसे ही कोई व्यक्ति वहाँ पहुँचता है, चित्रगुप्त तुरन्त उसके कर्मों का हिसाब-किताब दिखा देता है। उसकी पत्नी का नाम छाया है। भू-लोक में जो कार्य किया गया है, उसका फलरूप परलोक में बनी छाया होती है। जो द्विज है, उसका एक कर्म शरीर है, उसकी कर्मेन्द्रियाँ हैं और उसके कर्मों की जो छायाएँ परलोक में बनती हैं, उनमें कर्मेन्द्रियाँ नहीं है। वहाँ भी आप वही हैं पर आपकी कर्मेन्द्रियाँ नहीं हैं। अगर उसे कर्मेन्द्रियाँ चाहिए, उसे अभिनेता की आवश्यकता होगी जो उसे अपना शरीर दे दे। जो भी परलोक से आता है, उसका शरीर नहीं होता। इस स्थान पर मैं नाट्यशास्त्र की व्याख्या का उपयोग करता हूँ। दो जगह कला की उत्पत्ति की कहानी मिलती है, जो परलोक की धारणा से बड़ी ही खूबसूरती से निकलकर आती है। ऐसे चरित्र जिन्हें पैदा होना बाकी है, उन्हें शरीर चाहिए, कर्मेन्द्रियाँ चाहिए, प्रकट होने के लिए। ऐसा ही कुछ सलमान रश्दी ने भी कहा है : एक रजत पट है जिसके पीछे वे लोग हैं जिन्हें अभी पैदा होना है। बेटमैन जैसे चरित्र से आक्रोश होना अनुचित है, यह एक ऋणी व्यक्ति का अशिष्ट व्यवहार है। उसके चरित्र का विश्लेषण करना, उसका जातक निकलना आदि उचित है, इससे ऋण पूरा होगा। 'चित्र लक्षण' में भी यही क़िस्सा आता है। जब राजा भयजित का यमराज से युद्ध हो चुका, ब्रह्मा आये और उन्होंने कहा कि हम मर चुके बच्चे को उसी शरीर में वापस नहीं दे सकते पर यह सम्भव है कि किसी दूसरे शरीर में उसे लौटा दें। दूसरे शरीर का आशय है कैनवास पर रंगों का बना शरीर। उसे ऐसे बनाओ कि मैं उसमें प्राण फूँक सकूँ। यहीं से चित्रकला, मूर्तिकला शुरू हुई। उन्होंने विश्वकर्मा से यह कार्य भयजित को सिखवा दिया। इस तरह उस मृत बच्चे का शरीर भिन्न हो गया, तब भी उसका चरित्र वही रहा। इसी जगह आकर अनुकृति का सृजन हुआ। लोक में वही चीज़ कृति रही और

परलोक में अनुकृति का जन्म हुआ। परलोक यानि स्मृति। ऐसा कहना कि कोई व्यक्ति परलोक जाएगा ही नहीं, रूपकात्मक हो सकता है, सत्य नहीं। पुराने ज़माने में कुछ ऐसे लोगों की कल्पना की जाती थी, जो अपने कुकर्मों के कारण अद्विज हो जाते थे, आधुनिक काल में अँग्रेज़ों के आने के बाद इन्हें ही दलित कहा जाने लगा। अँग्रेज़ों के झूठे इतिहास में ये अद्विज चिरकाल से सताये गये दलित बन गये हैं और इसी तरह जाति प्रथा बन गयी, बिल्कुल स्थिर ठहरी हुई। पर सच्चाई यह है कि हमारे यहाँ ठहरा हुआ कुछ नहीं था। हमारे यहाँ तो पारिवारिक स्मृति सात जन्मों से पहले जाती नहीं है। अँग्रेज़ों के यहाँ यह इससे कहीं अधिक है। काशी में यह मशहूर है कि अगर वहाँ कोई स्वर्ग सिधारने पण्डित आ जाए, तो उसका पाण्डित्य तीन पीढ़ियों से अधिक का नहीं होता। काशी धूर्तों और मूर्खों के लिए प्रसिद्ध है क्योंकि काशी में जिसका स्वर्गवास हुआ है, उसका कौशल तीन पीढ़ी से अधिक रहता ही नहीं है।

उदयनः– वह धूर्त या मूर्ख में परिवर्तित हो जाता है ...

नवज्योतिः– फिर वे अपने बड़े पण्डित होने का स्वांग करते हैं, यही धूर्तता है। इसीलिए उनकी भाषा में दम्भ ही दम्भ है। वहाँ जो शिष्ट लोग मरे, वे स्वर्ग चले गये पर जो सक्रिय हैं, वे तो यही धूर्त हैं। वे छाती खोलकर बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। यही बनारस का चरित्र है। हमारे यहाँ तीन से सात पीढ़ियों से अधिक की पारिवारिक स्मृति नहीं है, अँग्रेज़ों की थी। वे अपने को बारहवीं सदी के नार्मन विजय से जोड़ते हैं। इन नौ सौ वर्षों में जाने कितनी पीढ़ियाँ हो गयी होंगी। क़रीब पच्चीस या तीस या शायद उससे भी ज़्यादा होंगी। इसीलिए उन्होंने भारतीयों के विषय में भी इसी तरह सोचा और दलित और सवर्ण उत्पन्न कर दिये, जो बाद में सचमुच उसी तरह व्यवहार करने लगे। दरअसल अद्विजों के अपराध की कोई स्मृति नहीं है क्योंकि तीन पीढ़ी से अधिक की यहाँ पारिवारिक स्मृति नहीं रहती। बल्कि उससे पहले ही लोग अच्छे काम करके अपने को मुक्त कर लेते हैं। कलंक से बाहर निकल आते हैं। यह एक तरह का प्रायश्चित हो जाता है। ऐसा प्रायश्चित जो तीन पीढ़ियों से अधिक हो, नहीं होता। यह प्रायश्चित भी सामूहिक रूप से होता था। हमारे यहाँ 'सामाजिक' शब्द सबसे पहले नाट्यशास्त्र में आया है। वह दर्शकों के लिए प्रयुक्त हुआ है, समाज वह है, जो साथ-साथ उठता है और गिरता है, ज्योतिष में भी यह शब्द आता है, जब सभी ग्रह एक पँक्ति में आ जाते हैं, उसे 'समाज' कहा जाता है।

उदयनः– आपने हर व्यक्ति में वेद होने की बात की है, इस विचार को सामी दृष्टि ने किस हद तक स्वीकार किया या किस हद तक उसके कारण इसके विस्तार में हस्तक्षेप हुआ।

नवज्योतिः– वे लोग 'घटना' वाले लोग हैं। उनकी दृष्टि में एक अद्‌भुत घटना घटी, जिससे मर्यादा पुरुषोत्तम पैदा हो गये। यह मर्यादा का धर्म-पुरूष था। बाकी लोग इसकी तुलना में गिरे हुए हैं इसलिए वे धर्मपुरुष का पौंछा पकड़ लेते हैं। उनके अनुसार वेद की समझ धर्मपुरुष के पास है। उसका अनुसरण करने से शिष्टता प्राप्त हो जाती है। कलंक का निवारण हो सकता है, आप धर्माचरण कर सकते हैं।

उदयनः– इसमें यह अन्तर्विरोध है कि इस वेद प्राप्त धर्मपुरुष को अन्य धर्मावलम्बियों का वेद स्वीकार्य नहीं है...

नवज्योतिः– यहाँ दो बातें हैं। इक़बाल ने अपने शोधग्रन्थ में यह लिखा था कि आधुनिकता की शुरुआत मोहम्मद साहब से होती है। उनसे पहले भी कई महापुरुष हुए हैं पर वे उन सबसे इतना ऊपर उठे कि अतीत से सम्बन्ध टूट गया। आधुनिकता में यदि आपको यह दरार देखना है तो रेनेसाँ से बेहतर तो यह इस्लाम में दिखायी देती है। इसलिए इक़बाल का कहना था कि आधुनिकता इस्लाम से शुरु हुई और रेनेसाँ में उसकी दुर्व्याख्या हुई। यह दुर्व्याख्या क्या है? उन्होंने कहा कि इस्लाम में पैगम्बर के कर्मों का अनुसरण है जबकि ईसाई धर्म में विचारों में अनुसरण है इसलिए ये गिरे हुए लोग हैं। बंगाल प्रेसीडेन्सी का एक क़िस्सा है कि गर्म दल का एक सदस्य बम लेकर छुपा हुआ था और कुछ दूर से वायसराय की बग्घी चली आ रही थी, इसके पीछे यह विचार था कि यह वायसराय शैतान है और इसे मारना है। जब बग्घी पास आयी, उसमें से वायसराय के साथ बच्चों के खेलने की आवाज़ आयी। बमधारी के मन में यह दुविधा हुई कि बच्चे तो शैतान नहीं है, इन पर बम फेंकूँ या न फेंकूँ। इतने में वह बग्घी उसके सामने से निकल गयी। वह इसी द्वन्द्व में फँसा रह गया कि जो हुआ वह ठीक हुआ या नहीं ? वह बंगाली व्यक्ति था। उसके स्थान पर अगर अंग्रेज़ आतंकी होता तो वह बच्चों की आवाज़ सुनने के बाद भी यह सोचकर कि मेरा धर्म मारना है, बम फेंक देता और फिर सारा जीवन इस पर पश्चाताप करता रहता कि मैंने ठीक किया या नहीं? कर्मों पर चलने वाले और विचारों पर चलने वाले लोगों के बीच यही फ़र्क है। यही द्वन्द्व आपको अशोक और अर्जुन में भी मिलेगा। अर्जुन कहता है कि अपने गुरूओं और बन्धु-बान्धवों को मारना अशिष्ट है। कृष्ण इसका जबाव देते हैं कि अशिष्ट और न्याय सम्मत में अन्तर है। तुम्हें धर्म निभाना है। वही शिष्ट है जो धर्म की ओर झुका हुआ है। उधर अशोक ने कलिंग में तबाही मचा दी, उसके बाद यह सोचा कि ओ हो ! यह मैंने ठीक किया या नहीं। हमारे यहाँ यह एक विच्छेद है। बौद्धों के साथ हमारे यहाँ प्रबोध आ गया। दुनियाभर के दुःख-दर्दों पर विजय पा ली पर बाद में आपने नये मूल्यों को उत्पन्न किया। पर अशोक ने केवल विमर्श नहीं किया, उसने कुछ कर्मों को सूत्रबद्ध किया। जैसे बड़ों का आदर करो, या अतिथियों का सम्मान करो। उसने यह सब कर्म किये। दूसरा विच्छेद यह आया कि यह प्रश्न उठा कि प्रबोध राज-काज के भीतर की वस्तु है या उसके बाहर की। अशोक ने कहा, राज-काज के बाहर की। राज-काज केवल शिष्टता को बनाये रखने के लिए है। और जितने भी अन्वेषणात्मक कार्य हैं, वे उसके बाहर की चीज़ें हैं। इन सबके विषय में लोग स्वतः निर्णय लेंगे। राजसत्ता को शिक्षा आदि देने के विषय में निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। निर्णय बड़े-बूढ़े लोग करेंगे या यह काम वे लोग करेंगे जिन पर बच्चों के अभिभावकों का भरोसा है जिसमें शिक्षक आदि आ जाते हैं। सिखाने के लिए जो विधान आवश्यक हैं, उन्हें करने का दायित्त्व राजसत्ता का है, उससे अधिक कुछ नहीं। पश्चिमी सभ्यता में कार्य कर लिया जाता है बाद में यह विचार होता रहता है कि यह ठीक हुआ या नहीं? इसलिए पश्चिम में विमर्श बहुत अधिक है। इस विमर्श में गाथाएँ कैसे आएँगी, इसमें अगर इतिहास समा जाए, सब ठीक हो सकेगा। इतिहास नहीं आ पाता यानि देवता नहीं आ पाते। कल्हण ने इतिहास को भूतार्थ कथन कहा है....

उदयनः– भूत के अर्थ का कथन यानि व्यतीत के अर्थ का कथन....

नवज्योतिः– पश्चिम के लोग बीत चुके के अर्थ पर ठहरने के स्थान पर अपने से यह प्रश्न पूछते रहते हैं, 'मैं कौन हूँ, मैं क्यों हूँ, मैं कहाँ हूँ' आदि...

उदयनः– क्या इस कारण पश्चिमी सभ्यता में गाथा सम्भव नहीं हो पाती, वे विलाप करते रहते हैं....

नवज्योतिः– वहाँ विलाप है, शोक है, अर्थवाद बहुत है। वहाँ बातें बहुत हैं। इण्टरनेट पर भी जब आप जाते हैं, हर बात के भीतर की जाने कितनी बातें निकलती जाती हैं और जिस बात को आप ढूँढने गये थे, उसके अलावा आपको बहुत-सी बातें मिल जाती हैं। इसलिए छात्रों में बहुत थकान है।

उदयनः– आप कह रहे हैं कि पश्चिम का मनुष्य यह प्रश्न पूछता है कि 'मैं कौन हूँ, मैं कहाँ हूँ।' इसके बरक्स भारत में कौन-से प्रश्न केन्द्रीय हैं ?

नवज्योतिः– भारत में भी यही प्रश्न है पर वह इस प्रश्न को यमराज से पूछेगा। वह इस रास्ते इतिहास में आ जाएगा। यूरोप के आदमी के पास पैगम्बर से पहले की स्मृति नहीं है। इसलिए वह सभ्यता स्मृति मूलक नहीं है और स्मृति के न होने से यह प्रश्न किससे पूछेंगे' अपने आप से पूछते रहेंगे? अपने आप ही जबाव देते रहेंगे या आप कहेंगे कि मेरे विश्वविद्यालय के शिक्षक ने यह कहा। फिर यह कहेंगे, इस विश्वविद्यालय में यह कहा गया, उस विश्वविद्यालय में वह कहा गया। दस-पाँच लोग आपस में संवाद करते रहेंगे और यह अपेक्षा करेंगे इससे कुछ नया निकल रहा है। मानवशास्त्र में यह प्रक्रिया विफल हो गयी है पर विज्ञान में इससे लाभ है क्योंकि वह हठधर्मी है इससे विज्ञान में समकक्ष वैज्ञानिकों की संरचना (पियर स्ट्रक्चर) तैयार होता है और इसका विज्ञान के विकास में स्थान होता है। ऐसा ही कुछ अर्थशास्त्र में भी होता है पर मानविकी के लिए यह प्रक्रिया निष्फल है। इसलिए विश्वविद्यालयीन व्यवस्था विज्ञान और तकनीकि के क्षेत्र में कारगर है पर अन्यत्र नहीं। उदाहरण के लिए साहित्य में पियर स्ट्रक्चर का कोई स्थान नहीं है।

कलियुग में पैगम्बरवाद आया और उसका जब इस यूनानी विचार से संयोग हुआ कि राजा नगर के अन्दर होना चाहिए, आधुनिकता का जन्म हुआ।

उदयनः– इसे कुछ विस्तार से कहिये...

नवज्योतिः– यूरोपीय रेनेसाँ में वाईज़ एज (सयाना युग) का विचार रहा है, इसके तहत यह मान्यता रही कि एक समय ऐसा था, जब सब लोग अस्तित्व के रहस्य को जानते थे। बीच के काल में सब कुछ गड़बड़ा गया, उस गड़बड़ी के कलंक को हटाने की आवश्यकता है। इस स्थिति में वहाँ दो प्रमुख चरित्र हुए : भारत और यूनान। इनके विषय में यह कहा गया कि इन जगहों पर विवेक का वास था। इसी कारण यूनान पर दोबारा दृष्टिपात किया गया। इसीलिए कुछ लोग भारत प्रेमी हुए और कुछ यूनान प्रेमी हुए।

बहुत पहले ही सन्त ऑगस्टीन ऑफ गोथियस जैसे विचारकों ने कहा कि प्लेटो के जो न्याय आदि से जुड़े विचार हैं, ईश्वर के विचारों जैसे हैं। ये ईश्वर के होने का साक्ष्य हैं। इसी तरह ईश्वर सक्रिय होता है। जगत डॉक्सा (दुःख) है। एक दुनिया पदार्थों की है, एक इन्द्रियों की और विचारों की। एक तीसरी ही दुनिया है, यह दुनिया देवताओं (थिओस) की दुनिया है। सन्त ऑगस्टीन से ही पैगम्बरवाद और यूनान का संयोग शुरू हो गया। लेकिन यह अधिकतर धर्मशास्त्र के क्षेत्र में ही रहा। मैंने आपसे पहले कहा ही था कि युसेबिया पर, शिष्टता पर जो बहस थी उसने ईसाईयत को बहुत तंग किया था। इसीलिए सन्त ऑगस्टीन ने कहा था कि जिसे भी ईश्वर की कृपा प्राप्त है, वह शिष्ट है। पर इस पर यह प्रश्न उठा कि शिष्टता कृपा के पहले है या कृपा के बाद। इस पर व्यापक भ्रम की स्थिति बनी रही। यह आज तक चल रही है। अगर आज आप इण्टरनेट पर युसेबिया के बारे में ढूँढे, आपको यह बहस मिल जायेगी। प्रश्न यह है कि ईश्वर तो सर्वशक्तिमान और सार्वभौमिक है पर नैतिकता ईश्वर से पहले है या इसके बाद। यह बहस आज तक अनसुलझी है। उन धर्मों के बीच किताबों को लेकर बहस होती है : कुरान को लेकर चलें या बाईबल को। पर हम लोग व्याकरण वाले लोग हैं। रेशनेलिटी अलग चीज़ है, व्याकरण अलग। वहाँ व्याख्यात्मक रेशनेलिटी है जिसका अर्थ यह है कि किसी भी घटना की तरह-तरह से व्याख्या की जाती है। पर एक समय था जब व्याकरण वाले लोग सारी दुनिया में यह संदेश लेकर फैल गये थे कि व्याकरण ही मूल रेशनेलिटी है, कि सृष्टि की समझ व्याकरण से ही अधिक होती है।

जैसे अभी-अभी

संजीव क्षितिज की आठ कविताएँ

१.

एक लड़की क्रोध में
चली जाती है
पृथ्वी से

एक लड़की
चली जाती है पृथ्वी से
प्रेम में

२.

जैसे अभी-अभी
इस दरवाज़े से निकल कर
चली गयी है एक छाया

कभी-कभी ऐसे भी आती है
मृत्यु

३.

किसने लिखी होगी मृत्यु
किसने पढ़ा होगा शोक गीत
किसने सुने होंगे रुदन
जब छायाएँ मँडराती हैं आत्मा के
चारों तरफ
किसने बनाया होगा मनुष्यों को
इतना सहनशील

४.

मैं था तो मुझमें
होने का डर था

मैं होता
तो होने से डरता
वहाँ

५.

आज स्वप्न में जो
अग्नि दिखी
एक देह से उठती थी वह

और देह को
जलाकर देह से उठती थी
वह

६.

जीवन रहेगा तो एक स्त्री के
बोल रहेंगे जीवन रहेगा
तो एक स्त्री की हँसी रहेगी
जीवन रहेगा तो एक स्त्री का
साथ रहेगा

मृत्यु एक शब्द भर नहीं है अब

७.

इस शहर से चलो
तो बादल साथ चले जाते हैं

वे आते हैं जैसे विदा के
योग आते हैं जीवन में वे आते हैं
और निःस्वर देखते हैं हमें
सामान जमाते

वे जानते हैं कौन कहाँ जा रहा है
लौटने के लिए कौन-कौन
न लौटने के लिए

इस शहर से चलो तो बादल
साथ चले जाते हैं

८.

पत्तों में एक घर था
सिर्फ़ रहनेवाले जानते थे पेड़ का नाम
वे पक्षी नहीं थे और आसमान
खोजते थे वे खोजते थे कि उन्हें
मिल गया है आसमान

और जैसे पंख पसार कर ज़िन्दगी
वे उड़ान भरते थे धीमे-धीमे वे उड़ान भरते थे
जैसे उन्हें उड़ान शुरू करना है अभी

यह बहुत पहले की बात है और
बहुत पहले भी ऐसा ही था जीवन
जैसा अभी-अभी

प्रवसिनी महाकुद की कविताएँ

ओड़िया से अनुवाद - प्रभात त्रिपाठी

अन्य किसी के आने के पहले

किसी और के आने के पहले
ऊषा होकर, ओस बूँदों की मुक्तामाल होकर
हल्दी पदचाप से लौट आऊँगी
अस्थिर छटपटाती अपेक्षारत पृथ्वी में
सुबह की पहली सीढ़ी पर
आलोक होना चाहती हूँ
तमस से आलोक की ओर मेरी गति

किसी दूसरे के आने के पहले
एक नदी बनने को राजी हूँ मैं
मिटा दूँगी समूची धरती की प्यास
प्रस्तुत हूँ एक छोटी जलधार हो जाने को
शस्यश्यामल धान खेत में
जहाँ किसान के वर्ष भर के सपनों के ढेर
डोलते रहते आकाश की ओर ताकते
मैं, तट निरंजना
बोधिद्रुम की छाया हो जा सकती हूँ
अगर कोई और बुद्ध
सैकड़ों अशोक के निष्ठुर हाथों से
शान्ति के कपोत उड़ा दें
निर्दय हृदय युद्ध के बदले प्रेम की घोषणा करे

किसी दूसरे के आने के पहले
मैं एक मशाल हो जाने को तैयार हूँ
अगर कोस दर कोस फैले अँधेरे को हटाकर
आगामी सुबह के सामने का रास्ता उज्जवल हो जाए
अभी से मैं हो जा सकती हूँ एक नन्हा पौधा
अगर आज से कुछ साल बाद
मेरी छाया, किसी एक भी पथिक की थकान मिटा सके

किसी अन्य के आने के पहले
अभी से गढ़कर एक कोशिका
कुछ ही दिनों बाद हो जा सकती हूँ
एक रंगीन तितली
अगर मुझे पकड़ने के लिए
नन्हे नन्हे पाँव रखते
आगामी समय का कोई नन्हा बच्चा
बगीचे में घूमेगा
अपनी तोतली बोली से
पक्षी की काकली को लज्जित करता

एक पतंग हो जा सकती हूँ
अगर कोई नीले आकाश में मुझे उड़ा दे
फूल हो सकती हूँ उम्र भर समय के बाग में
पराग और सुरभि भी हो जाऊँगी
मधुमय पुष्प की पँखुरी पर

और किसी के आने के पहले
मैं हो सकती हूँ एक ईज़ल
अगर एक ऐसा कलाकार आये जो
इक्कीसवीं शताब्दी का श्रेष्ठतम चित्र
आँक दे मुझ पर,
अपने हृदय के सारे रंग देकर

शब्द का एक पर्वत, आवेग की एक अविश्रान्त धारा
हो सकती हूँ मैं
ऐसे ही कोई कवि कथाकार
लिखेगा जीवन का महाकाव्य
अन्य किसी के आने के पहले
मदर मेरी या देवकी भी को सकती हूँ मैं
एक और यीशु या कृष्ण
पृथ्वी को दे सकती हूँ उपहार

मैं ऐसा एक आकाश हो सकती हूँ
जो वज्र से भी हो कठोर
जिसकी देह में तारक-युद्ध की
कोई आसन्न आशंका नहीं होगी
मैं मधुर नर्म स्पर्श हो जा सकती हूँ
यन्त्रणा और रोग में सड़ते आदमी के लिए
जहाँ भी रहूँ मैं लौट आऊँगी
आगामी का स्वप्न होकर

शायद जा सकती हूँ

हवा में इतनी सुगन्ध
इतना आकर्षण
महुआ गन्ध में ऐसी पुकार
तिरते रहने के लिए
चाहूँ तो पतंग होकर

इसी पल तिरती रह सकती हूँ
हवा की देह में नीले आकाश में
धीरे धीरे
यहाँ हरी गन्ध से भीग जाती है
माटी और आकाश
यहाँ हरी गन्ध खो जाती है
बीते दिनों की
करूण और धूसर लम्बी गहरी साँसें
आकाश हाथ के इशारे से बुलाता रहता
विद्युत वेग से
हो सकता है दौड़ पड़ूँ
इधर उधर डोलती रहती नटखट तितली
फूल से फूल तक
एक साँस में दौड़कर
पकड़ सकती हूँ उसे
पाँवों से उतार देती चपल कोमल पैजन
जतन से तोड़ लाती फूल
पाँव में चुभता काँटा
और रक्त से लाल
यन्त्रणाकातर मीठा दर्द लिए
कहती मैं
देखो ! काँटा चुभ गया
इसका दुःख नहीं।
काँटे को चूमे बिना
फूल तोड़ने का गुलाबी स्वाद
भला चखा है कभी किसी ने ?

बेमौसम की बारिश
अचानक चौंका देती है
मैं भी वैसी प्रगल्भा लड़की की तरह
आँचल कमर में खोंसकर
जूड़ा खोलकर
बारिश की कपूर गन्ध में
भीग जा सकती हूँ समूची
आज क्या वही दिन है ?
बगीचे में घूमने का दिन ?
बारिश में भीगने का दिन ?
इन सबके साथ एकमेक हो जाने का
वह महादिन ?
प्रवास से महाप्रवास में
चले जाने का सुदिन ?
ना, आज शायद वह दिन नहीं
वह होता, तो मैं कब से चली गयी होती
पक्षी के परों से

रात

१.
आज मैं रात हो जाऊँ
कोई आलोक मुझे न छुए
बदल जाए मेरा अर्थ
बदल जाए देह
बदल जाए मेरी परिभाषा

एक रात होने की
अनाहट इच्छा
मुझे ले आयी है यहाँ तक
आज मैं रात में बदल जाऊँ
रात ही मेरा काम्य
सभी असुन्दर दृश्यों को
सुन्दर कर देना
इस क्षण मेरा धर्म

२.
कितना वक़्त है
रात होने को ?
रात नहीं आने पर
पूरे दिन का चेहरा
याद नहीं रहेगा

रात नहीं आयी तो
तारे नहीं आएँगे
चाँद नहीं आएगा
कितना अकेला अकेला लगेगा
निस्संग आकाश ?
रात नहीं आने पर
मुझे भी कहाँ फुर्सत
कि तुम्हारी प्रसिद्ध आँखों को
याद करूँगी ?

रात नहीं आने पर
मेरी निष्ठा और भक्ति की रजनीगन्धा
शुभ्र से शुभ्रतर होती
खिलेगी कैसे ?
कितना वक़्त है रात होने को ?

३.
आज की रात
प्रतीक्षा की आखिरी रात हो
आज रात
माँ की गोद में लौट आये
अभी तक नहीं लौटी सन्तान

आज रात पत्नी के पास
लौट आये उसका प्रियतम
आज रात, प्रेमिकाएँ
भेंटें अपने प्रेम को

कवि, अपने जीवन की
सर्वश्रेष्ठ कविता लिख दे
आज रात गायक गाये
सबसे मीठी ग़ज़ल
आज रात पृथ्वी के
सारे अभिशाप निष्फल रहें
आज रात दुनिया में
खिल जाएँ शुभांग पुष्प
आज रात पूरे जीवन भर का
तीव्र आवेग आखिरी बार के लिए
जीवन न्यास पाये
आज रात तुममें से कोई
चौदह वर्ष पहले की
मेरी अनुभूति के पास हो
आज रात
मैं रात हो जाऊँ

कल रात

कल रात ये ओंठ मेरे नहीं थे
या मैं नहीं थी इन ओंठों में
ओंठ हो गये थे और किसी के
ओंठ याने चिरकाल से असीम प्यार में
ओंठ पर जलती थी दूसरे ओंठों की आग
ओंठ पर जलती थी तृष्णा की दुनिया
इन ओंठों पर लगा था
किसी साँप का फन और दंश

कल रात यह देह मेरी होकर नहीं थी
या मैं नहीं थी इस देह में
यह देह बदल गयी थी
श्यामली लता की तरंग में
कल सारी रात इस देह में
चलती रही थी अनन्त आँधी

कल रात ये आँसू मेरे नहीं थे
या मैं नहीं थी इन आँसुओं में
आँसुओं ने किसी की छाती के दर्द तले
घोंसला बनाया था
कल रात यह आँख मेरी नहीं थी
मैं नहीं थी इस आँख में
यह आँख बदल गयी थी
अरण्य की नज़र में
इन आँखों में थी चिर परिचित
वही युग युग की कहानी

ईशिता भादुड़ी की कविताएँ

मूल बांग्ला से अनुवाद : प्रयाग शुक्ल

गोपन बगीचा

हृदय में ला रखती बगीचा, चाहता वह घूमना।
फूल सब रखे हैं ओट में
बस एक के लिए, खबर नहीं उसे।

प्रतीक्षा

बीततीं घड़ियाँ प्रतीक्षा में ...
निस्तब्ध रात, नीरव सन्ध्या।

चिट्ठी

उत्तर नहीं मिला चिट्ठी का,
चिट्ठी, मतलब! कुछ गोपन शब्द।

स्मृति का नूपुर

बजता जब नूपुर स्मृति का अनेकों दिन बाद,
सुख के स्रोत में उतरती व्यथा भी एक।

केवल वृष्टि

केवल वृष्टि
फोड़कर आकाश, पास माटी के
केवल वृष्टि।
बस, केवल वृष्टि ...
डूब गयी राह
गहरे काले जल में।
केवल वृष्टि प्रबल पदक्षेप पर।
मनुष्य एक डूबते डूबते
आ रहता फिर
हृदय के पथ पर केवल एक ध्रुवतारा।
केवल वृष्टि ...

यदि तुम मेघ

देखकर मेघ को हो सको यदि मेघ तुम
नदी को देखकर यदि मैं हो जाऊँ नदी
तब कितनी दूरी बढ़ जाएगी नदी और मेघ की
दूरी कितनी घास और चाँद में धीरे-धीरे
किसी ने क्या सोची कभी बातें ये
किया किसी ने भाग-अनुभाग
मेघ हो जाओ यदि और नदी मैं
आकाशी नील में तुम उड़ जाओगे
मैं चली जाऊँगी दूर कहीं लहर-लहर।

अक्षर नदी में

नौका उतरती अक्षर-नदी में जो
जानती नाविक उसे कौन-सा
जाएगा लेकर
नदी में कब कितना जल ...
माटी कब कितनी ...
अक्षर-नदी में उतरती जो नौका
डूब वह सकती किस प्लावन में
जानता नाविक वह
किस गतिवेग में निश्चित यति।
नाविक वह
जल और नौका, दोनों को जानता।

यह कक्ष

इस कक्ष में उपस्थिति किसी की।
रहता वह बिना शर्त सारा समय मेरे साथ।
लाँघ नहीं पाती चौखट इसीलिए,
छोड़कर कक्ष यह जा नहीं पाती किसी पाप-कक्ष में।

इस कक्ष में उपस्थिति किसी की।

सजाया है इस कक्ष को
अपापविद्ध सरलता के फ्रेम में तभी।

यदि विश्वास

विश्वास मारा गया
बचे हैं उसके पुत्र कन्या अस्थि-भस्म लिये दोनों हाथों में।
यदि फिर कभी हो पुनर्जन्म विश्वास का,
मनुष्य तब बचेगा फिर उठ खड़ा होगा,
सुबह का घास-फूल।
विखण्डित स्वप्न होगा पूर्ण, नदियाँ छोटी-छोटी बहेंगी,
जाएगा जाग काजल-लगी-आँखों का शिशु।
यदि कभी
विश्वास
जाये बच जिये फिर ...

भूपेन

जवाहर गोयल

कहने को वह बायपास रोड थी पर वहाँ भी शहर इतना घना फैल चुका था कि ऊँची इमारतों, पाँच सितारा होटलों और अपार्य काँच की दीवारों वाले बड़े-बड़े मॉल और चमकती दुकानें आदि शहर की शान बने बैठे थे। मज़े की बात यह थी कि जैसे ही उस रास्ते से हटकर थोड़ी दूर भीतर चले जाओ तो लगभग बिना बदलाव के घना पुराना इलाका कस्बाई तौर पर ठीक वैसा ही था जैसा वह बरसों से बसता चला गया था। या तो छोटे-छोटे एक मंजिला, दो मंजिला मकान थे, या पतली घुमावदार गलियाँ जिनकी दीवारें इतनी सटी हुई थीं कि उनमें खिड़की के होने की कोई सम्भावना ही नहीं बीच थी। बेशक ही दीवारों का पलस्तर अपने सम्पूर्ण अतीत को समेटे हुए था। इन्हीं सबके बीच गटर का बड़ा-सा नाला था जिसके बगल में वह पुराना तिमंजिला मकान था जो बाहर से एकदम बन्द दिखता था। किसी किस्म की कोई चहल-पहल नहीं थी। देखकर यही लगता कि अर्से से वहाँ कोई भी नहीं रहता था। हाँ, छोटा-सा काठ का पीला तख्ता दुमंजिले की एक खिड़की से तिरछा लटका दिखायी दिया। उस पर काले अक्षरों में लिखा था : 'आनन्दलोक वृद्धाश्रम' । उसके अहाते में घुसकर दरवाज़ा खोल, यदि आप भीतर चले जायें तो भी न तो कोई आवाज़ मिलती, न किसी के वहाँ होने के निशान मिलते। अगर हिम्मत करके सुनसानियत के बीच सीढ़ी पर चढ़ते जायें, दोमंजिले के बाद सीढ़ी के कोने में एक सफ़ेद प्लास्टर की मूर्ति रखी हुई थी, वृद्ध, कृषकाय बाबा लोकनाथ की। ऊपर तिमंजिले पर सभी कमरों के तमाम बन्द किवाड़ों के बीच एक कमरे का किवाड़ बस, थोड़ा-सा खुला हुआ था। उस सुनसान कमरे में एक नब्बे बरस की बूढ़ी प्रयास करती खाट पर चुपचाप बैठी अँधेरे के बाहर विस्मय से ताक

रही थीं। सम्भवतः सीढ़ी से आती पदचाप सुनकर। इससे हटकर दाहिनी बगल के कमरे में गीले फर्श पर सालभर का नंगा बच्चा पेट के बल लेटा, बिखरे पानी से खेल रहा था। यहाँ पंखे की घरघराहट सुनी जा सकती थी। यही वहाँ के सन्नाटे को जाहिर करती थी। उस कमरे को पार करते ही कोने में छोटा कमरा जुड़ा हुआ था जिसमें एक ओर खाट थी, खाट के बगल में प्लास्टिक के स्टूल का कमोड और उसके सामने प्लास्टिक की ही एक कुर्सी। खाट की अस्त-व्यस्त चादर पर भूपेन अनमना, अलसाया और विक्षिप्त सो रहा था। उघड़ आयी लुंगी से उसकी दुबली टाँगे बगुले के पैरों सरीखी काठ की लग रही थीं। पुट्ठे की हड्डी टूटने के बाद, जब आपरेशन के पश्चात भी उसका चल सकना सम्भव नहीं हुआ, कोई चारा ही नहीं बचा था। ऐसी हालत में उसके बचे-खुचे दो-एक साथी उसे सरकारी अस्पताल से निकालकर यहाँ डाल गये थे। इसके पहले छियासी बरस की उम्र तक भूपेन जिस किराये के कमरे में अकेला रहता था, वहाँ उस कमरे में टीन की एक मेज़ पर ढेर सी दवाईयाँ, डिब्बे, कुछ सामान आदि सब कुछ बेतरतीब बिखरे हुए थे। किन्तु तिमंजिले पर होने से प्रकाश भरपूर था। उसी में एक पतला सा पुराना पर्दा खिड़की पर झूल आयी रस्सी से टँगा हवा में फड़फड़ा रहा था।

भूपेन के चेहरे पर सफ़ेद दाढ़ी उसके लगभग गंजे सिर के बचे सफ़ेद बालों से बहुत ज्यादा घनी थी जो अजीब तरह से उसके दुखों को दुगुना-चौगुना कर दिखा रही थी। शायद ऐसा इसलिए भी लगा होगा क्योंकि जीवनभर भूपेन ने कभी भी दाढ़ी नहीं रखी थी। हमेशा सफ़ाचट चेहरे पर नाक के नीचे बीचों-बीच केवल मक्खी छाप मूँछ मात्र रखता रहा था। अस्पताल में शायद उसके चेहरे पर नाई का उस्तरा चलता रहा होगा। दाढ़ी का यह आकार यहाँ आने के बाद ही बढ़ा होगा। उसकी दाढ़ी से जाना जा सकता था कि वहाँ पहुँचे हुए उसे डेढ़-दो माह हो चुके थे। पेशाब की गन्ध कमरे की मनहूसियत को बढ़ा रही थी।

वृद्ध होना वृद्धाश्रम में आने के बाद हाहाकार करता फट पड़ता है। यह समय ऐसा है कि बुढ़ाये की जर्जरता में रिश्ते-नाते के लोग सिमटते चले जाते हैं। यदि आपसी दर्द का कोई अंश बच रहे तो पिण्ड छुड़ाते हुए इतना कर जाते हैं कि किसी वृद्धाश्रम में छोड़ आयें। लेकिन उसके बाद वहाँ की मनहूसियत श्मशान से भी ज़्यादा घनी लगती है। हमारे भीतर दबे अपराध-बोध को भी उघाड़ती है। वृद्धाश्रम में श्मशाम सरीखा वह मिथकीय मुलम्मा भी नहीं होता, कष्टों और सांसारिक प्रपंचों से मुक्त हो जाने का। बस रेलगाड़ी का दूर-दराज के सुनसान में दो स्टेशनों के बीच बिना किसी हादसे के केवल अटककर रुके रह जाने सरीखा। सारे बिगाड़ और कलह के बाद भी यदि घर शब्द अपने भीतर एक तरह का अपनापन समेटे रहता है तो ठीक इसके विपरीत वृद्धाश्रम की खामोशी इसी अपनेपन के अभाव को चीत्कारती है।

शिशु की तरह सोये भूपेन के बूढ़े चेहरे में ऐसा ही कुछ बोध था। लेकिन भूपेन सोया हुआ नहीं था। अलसाया हुआ भी नहीं था। ज़रा सी आहट सुनते ही उसने आँखें खोल दीं। लेकिन आँखें खोल उस ओर नहीं देखा जहाँ से आवाज़ आयी थी, बस वो ऊपर शून्य में ताकता रहा। जब उसका नाम लेकर पुकारा तब भी उस शून्य से नहीं लौटा। वैसे तो भूपेन सारी उम्र अविवाहित रहा आया, न कभी घर बसाने की सोचा, न ही मन में किसी को बसाया। पर क्या ऐसा भी कोई आदमी था जो उससे एक बार कभी कहीं मिला हो और उसका अपनापा न पाया हो। सबको देने के लिए

उसके पास वक़्त ही वक़्त था। बिन माँगे उससे हर तरह की मदद ली जा सकती थी। अपरिचित किसे कहते हैं, उसे इसका कोई ज्ञान नहीं था। आप क्या सोच रहे हैं, इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। परोपकार का नशा भी उसके मन में नहीं था। न वो किसी पर अपनी कृतज्ञता का बोझा लादता था। अगर कोई स्वार्थ उसमें दिखा तो इतना ही कि स्वतः लोगों से जुड़कर वो तत्काल आनन्दित होता था। कह सकते हैं कि निजी संतोष के लिए ऐसा करता था। दूसरों के काम में हाथ बँटाकर, उसकी समस्या हल कर मन में अपने ही खुश रहता कि लोग खुश हैं और भले काम में लगे हैं।

भूपेन की सनक इतनी ही थी ऐसा नहीं, उसने कागज की चिन्दियों को जोड़कर चित्र बनाते हुए सारी उम्र गुज़ार दी थी। वैसे तो एक सरकारी नौकरी में रहा लेकिन खाली समय में बस और ट्राम की टिकटों को चिपकाकर चित्र बनाता रहा। इन चित्रों में कण्डक्टर द्वारा टिकटों पर पंचर से किये छेद भी चित्रों के आकारों में विशेष अर्थ रखते थे। अधिकतर तो वे रंगों का कोई उपयोग ही नहीं करता था। पत्र-पत्रिकाओं से फाड़े गये क़ाग़जों की रंगीन चिन्दियाँ ही रंगों का पर्याय होतीं। यह नशा बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि शहर की एक कला अकादमी की सालाना प्रदर्शनी में चित्र जमा किया। जब वहाँ अपना चित्र जमा करने के लिए टैक्सी में जा रहे थे तब टैक्सी ड्रायवर सरदार जी ने इसकी जुबान से समझ कर कि ये भी पंजाब से है, तरस खाकर इससे कहा था कि बाबू जी आप तो पढ़े-लिखे समझदार आदमी लगते हो, ये चित्र बनाना छोड़कर आपको कोई अच्छा काम नहीं मिला क्या? लेकिन भूपेन का यह नशा विचित्र तरह से बढ़ता चला गया। उसे लगता कि हर आदमी एक पुराने रंगीन क़ाग़ज की चिन्दी की तरह है। जब वह किसी दूसरे से अपने आधे-अधूरेपन या किसी एक अंश से भी जुड़ता है तो कुछ सचमुच बनता है और सारी दुनिया में ऐसे लोगों का कोलाज बनता चला जाता है। एक ऐसा रंगीन चित्र जिसमें जीवन का सार होता है। उनके मन में ये प्रश्न नहीं आता था कि इन चिन्दियों में लगी गोंद कितनी कच्ची या पक्की होती थी। ऐसा होना ही उसके लिए पर्याप्त था। इसीलिए कागज की चिन्दियों को जोड़ना हो या लोगों के बीच शामिल होते जाना, दोनों उसे एक ही तरह के काम लगते। पूरी तरह पर्यायवाची। इनकी तात्कालिकता के बाहर उसका कोई ध्येय भी नहीं था। वह किसी गुट का हिस्सा नहीं था। न ही उसमें कोई स्थायी अभिलाषा ही पनपी। ऐसा विरला इंसान जो सदा अकेला रहकर भी कभी अकेला नहीं लगता। बल्कि जहाँ होता वहाँ किसी को भी अकेला नहीं होने देता।

किन्तु यहाँ वृद्धाश्रम में तो माजरा ही कुछ और था। भूपेन न केवल अकेला था, अपने अकेलेपन के गर्त में धँसता चला जा रहा था। समुद्री किनारे पर लौटती तेज़ लहरें जिस तरह पैरों के नीचे की रेत को काटती, ज़मीन को हटातीं, पानी में बहा देती है, समय का बहाव उसी तरह भूपेन पर हावी था। उसने ताका पर कोई जबाव नहीं दिया। लगा नहीं कि पहिचाना होगा। जब उससे बातें कर अपनापा ज़ाहिर किया तो अचानक रोने लगा। बोला - 'मुझे यहाँ से बाहर निकाल लो, वापिस अपने घर पहुँचा दो। मैं यहाँ मर जाऊँगा।' पोपले मुँह से शब्द जिस तरह बिगड़कर निकलते उससे उसकी दशा और भी अधिक बिगड़ी लगती। लेकिन उसकी ऐसी हालत समझना आसान नहीं था। बाहरी आदमी के लिए उसमें वे जड़ें थी ही कहाँ, जिनसे कटा-पिटा वो असहाय लगता। सारी ज़िन्दगी एक किराये की कोठरी में गुजार दी। जिसकी हालत भी ऐसी कि एक खाट के अलावा कमरे में कुछ था ही नहीं। क़ाग़ज-पत्तर, अख़बार व किताबों के ढेर, रंगों के डिब्बे और ढेर से बने-अधबने केनवास जो अधिकतर उसकी खाट के नीचे

अटे-पटे रहते। साथ में होता एक स्टोव, बाल्टी, गिलास और दो एक बर्तन-बस। ऐसे आदमी के लिए लोग सोचते हैं कि घर बनाया नहीं, परिवार किया नहीं, मुफ़लिसी पाल रखी है, फिर इसे अन्तर ही क्या पड़ता है। न जमा-जोड़ कुछ रखा था न जोड़-जमा कुछ करना चाहता था। फिर ऐसी बेचारगी क्यों? पर यह कोई विडम्बना नहीं थी क्योंकि जैसे एक मकान को बाहर से देखकर उसमें मौजूद घर को कभी महसूस नहीं किया जा सकता, वैसा ही कुछ भूपेन के साथ था। सच तो ये है कि काठी के भीतर जो असल इन्सान रहता है, वह तो खुद से भी उतना परिचित नहीं होता, जितना उसे समय उकेलता चलता है।

वृद्धाश्रम में आने के बाद कौन सा मोह उसे वापिस खींच रहा था, कि भूपेन हर हालत में वहाँ से वापिस जाने के लिए व्याकुल हो रहा था। जबकि उसकी तबियत वाकई बहुत ख़राब थी। न तो अपने से उठ पाता था, न ही बैठ पाता था। बिस्तर पर ही सब कुछ करवाया जाता था। आँखें पहले से ही इतनी कमज़ोर थीं कि मोटा चश्मा लगता था। पढ़ना-लिखना आदि सब ठप्प था। कायदे से वहाँ पहुँच जाना उसके लिए सबसे उम्दा विकल्प था। कम से कम वहाँ अच्छी-बुरी जैसी भी हो, देखभाल करने वाला कोई था तो। यह सब महुआ की जिम्मेदारी थी। भले ही वह गूंगी और बहरी थी किन्तु सारे समय तत्परता से मुस्काते वह वहाँ के सभी निवासियों का ध्यान रखती थीं। वहाँ घुसते समय फ़र्श पर जो नंगा उघाड़ा बच्चा खेल रहा था, वह उसी का था। महुआ स्वयं शहरी नहीं थी, मुफ़स्सिल से थी। वो पहले डॉक्टरनी बाई के घर में काम करती थी। उन्होंने ही उसकी क्षमता देख उसे अपने वृद्धाश्रम में भेज दिया। आखिर दोनों मकानों के बीच तीन घरों का फासला ही था। खुशमिजाज महुआ की आँखें इतना अधिक बोलती थीं कि उसका गूंगा, बहरा होना पता ही नहीं चलता था। वहाँ सबका खाना पकाना, खिलाना, नहलाना, दवा-दारु करना सारा कुछ उसी के जिम्मे था। गाँव से कभी-कभी उसकी छोटी बहन भी वहाँ आ जाती थी जिससे उसका काम थोड़ा आसान हो जाता। कुदरत का अजूबा ही था कि उसकी तरह उसकी बहन भी गूँगी और बहरी थी। केवल इतना अन्तर था, वह सदा मायूस रहती।

बच्चों को गोद में लिए, आकर महुआ ने भूपेन को तकिया का सहारा दे, अधलेटा सा बैठा दिया जिससे वह लोगों को बेहतर देख सके। अधखुली कमीज़ के ऊपर वाले खुले बटनों को भी बन्द कर दिया। उघारी टाँगों पर चादर खींच दी।

जब बातचीत के लिए शब्दों की आवश्यकता नहीं होती तब सुनने के लिए कानों की ज़रूरत भी नहीं होती। महज मौजूदगी, आँखों और हाथों का स्पर्श मात्र इतना कुछ कहता है कि मन को मन से छुवा जा सकता है। वहाँ पहुँचा जा सकता है जहाँ यह विश्वास पनपता है कि भिन्न आत्माएँ भी एक ही का अंश हैं। किसी बीमार के लिए सबसे अधिक कष्टकर होता है, उससे मिलने वालों की व्यवहारिक औपचारिकताएँ जो न केवल उसकी बेचारगी बढ़ाती हैं, अनजाने में उसके अन्तर्मन की उपेक्षा कर उसे पीड़ित छोड़ती जाती हैं। लेकिन भूपेन की चुप्पी और इतनी ज़ार-ज़ार हालत में यह तो किया जा सकता था कि पुराने दिनों की तरह सामान्य रह, उससे बतियाया जाए। वहाँ से लौटा तो मन बुझा-बुझा रहा। दुःख इस बात का था कि क्या सबको अन्त में इतना असहाय होकर सिमट जाना होता है।

उस दिन के बाद कई माह भूपेन के पास जाना नहीं हुआ। बीच-बीच में आधी-अधूरी खबरें मिलती रहीं कि वो अभी

वहीं पर है। मिलने न जाने की काहिली के कारण मन में खेद भी बढ़ता गया। मन में यह भी आता कि जाने कब तक बच पाये, आगे मुलाकात भी न हो पाए।

समय अपनी ही करवट बदलता गया। पुरानी किराये की खोली को खाली करना ज़रूरी था। सो पास की चाय की दुकान में काम करने वाला लड़का कंचन एक दिन उसके उस पुराने कमरे का सारा सामान इकट्ठा कर उसके वृद्धाश्रम में पहुँचा आया। वहाँ उसके पोटलों और केनवासों को रखने की जगह नहीं थी, सो उन्हें कहीं और रखने की अस्थायी व्यवस्था की गयी। सारे जमा क़ागज़-पत्तर, अखबार आदि रद्दी वाले की दुकान को दे दिये गये। किताबें, रंग, ब्रश, पेन्सिल आदि चित्र बनाने का सारा सामान दो टीन की सन्दूक में भरकर भूपेन के वृद्धाश्रम वाले कमरे में पहुँचा दिये गये। प्रत्येक रविवार को चाय-दुकान बन्द रहने से कंचन भूपेन से मिलने जाता था। उन्होंने उसे बरसों चित्र बनाने के गुर सिखाये थे। यहाँ तक कि अब कंचन अपने चित्रों को बेचकर कुछ कमाने भी लगा था। उस शहर में कंचन का अपना और कोई नहीं था। चौदह साल की उम्र में सात साल पहले वह अपनी किस्मत को खोजते दरभंगा जिले के एक कस्बे से यहाँ आया था।

ऑपरेशन द्वारा पुट्ठे की टूटी हड्डी को एक स्टील की प्लेट से जोड़ दिया गया था। लेकिन डॉक्टरों को कतई आशा नहीं थी कि भूपेन फिर चल पायेगा। उसकी उम्र में जितना हो सका, उतना हो पाना भी राहत का कारण था। जिस दिन कंचन उसकी टीन की सन्दूकों को लेकर आया, उसी दिन भूपेन ने उसी से कहकर कुछ सामान निकलवाकर टीन की टेबिल पर रखवा लिया था। उसके जाने के बाद उसने महुआ से एक्रीलिक रंग के डिब्बे को अपनी तकिये के बगल में रखवा लिया। उस शाम खाट के बगल की खिड़की से बाहर देखते हुए उसका हाथ लगातार उस डिब्बे पर बार-बार जाता रहा। उसके स्पर्श से हर बार उसे अज्ञात तसल्ली का अनुभव हो रहा था।

प्रतिदिन शाम में खिड़की से सटे पेड़ के बीच जितना आकाश उसे मिलता, उसे वो अपलक देखता रहता। कुछ सोचता रहता हो ऐसा नहीं था, न ही अपने अतीत में खोता। झुरमुटे में पत्तियों के बीच घनी होती स्थिरता जैसे उसमें समय के बोध को भी स्थिर करती जाती। मात्र प्रकाश था जो मंथर गति से कँपता जाता था। यही उसे सबसे अधिक मोहता। वो इसे प्रकाश के कमने की तरह नहीं देखता, बल्कि वो इसे घनाव का रंग गाढ़ा हो रहा है, इस तरह देखता। पत्तियों के मिश्रित आकारों को अपनी निजता खोते देखता। पहले तो ये आकार अपना अस्तित्व खोते हुए क्रमशः जुड़ते जाते, निरन्तरता पाते। फिर अन्त में उनके बीच का खाली हिस्सा प्रकाशहीन होता हुआ गाढ़ा नीला आकारहीन हो जाता। ठीक उसके मन में अपने समय के बोध की तरह। नाले के किनारे थोड़ी दूर पर बिजली का एक खम्बा था। अँधेरा काफ़ी बढ़ जाने के बाद ही खम्बे का बल्ब जलता। जब तक बल्ब जले तब तक उसकी खिड़की के बाहर दिखते सारे आकार जैसे पेड़, मकान, छप्पर, छत आदि सभी कुछ क्रमशः अँधेरे में मिलकर एक हो जाते। भूपेन के लिए अँधेरा कभी आँखों को अन्धा नहीं करता था। वो अँधेरे को अधिक से अधिक नीला ही देखता, काला नहीं। उसके लिए उसमें भी आभास लिए ये आकार क्षीण से मौजूद रहते। दूसरों की तरह अन्धकार उसके लिए अन्धकार न होकर एक अन्य तरह की छाया ही होता जिसमें आकारों का एक होना उसे बहुत अच्छा लगता, उसके चिन्दियों से कोलाज बनाने की तरह। लगता कि प्रकाश में जो कुछ बेमेल था, वह सब अब उसके मन की संगत में आ

गया। इस बोध के साथ-साथ उसमें अपनी सार्वभौम चेतना इस तरह बढ़ जाती कि ऐसे समय उसे न तो कोई कष्ट लगता, न ही कोई कमी। सड़क का बिजली का खम्बा दूरी पर होने के कारण, बल्ब जलने के बाद, उसका पीला प्रकाश उसकी खिड़की से सटे पेड़ को प्रकाशित नहीं कर पाता था। केवल उसके किनारों को आकारित करता था।

लैम्प के जलते ही उस शाम भूपेन में कुछ स्फुरण-सा हुआ। इस दौरान महुआ आकर कमरे की छोटी बत्ती को जलाकर चली गयी थी। अभी उसके भोजन का समय नहीं हुआ था। चारों ओर कहीं कोई आहट भी नहीं थी। नज़दीक में कहीं से गाड़ियों का आना-जाना भी नहीं था। एक्रीलिक रंगों के डिब्बे पर हाथ फेरते हुए अनजाने में ही उसने वह डिब्बा खोल लिया था और रंगों की ट्यूबों को छू-छूकर महसूस कर रहा था। प्रकाश कम था मगर उसने ट्यूब खोल ली। फिर तकिये के नीचे से उस पत्रिका को उठाया जो कंचन दे गया था। उंगलियों पर ट्यूब दबाकर थोड़ा रंग निकाला, पत्रिका के खुले चिकने पन्ने के छपे हिस्से पर ऐसे रंग फैलाना शुरू कर दिया मानो कि वह कोरा था। न ब्रश उठाया, न पानी मिलाया, सीधे उंगलियाँ ही मानो सब कुछ हो गयीं। रंग का चिकना मोटापन काग़ज़ पर जहाँ फैलता, वहीं किनारे पर मोटी लकीरों को उभारता जाता। जबकि बीच के हिस्से में रंगत पतली व हल्की होती जाती। समय रूक गया। चारों ओर का परिवेश क्रमशः अनुपस्थित होता गया। भूपेन की एकाग्रता ऐसी केन्द्रित हो गयी कि उसे अब किसी और तरह का कोई भास ही नहीं रहा।

भूपेन को सहसा लगा कि सारा जीवन उसने अपने हाथों पर रंगों के स्पर्श की ऐसी विशेष अनुभूति कभी नहीं पायी, जैसी अभी उसे हो रही थी। रंग के फैलने से काग़ज़ पर क्रमशः आकार उभरता। इसके साथ उंगलियों पर ऐसी विचित्र सम्वेदना उसके चैतन्य हो रही थी जिसमें कोई पिछली स्मृति नहीं थी। अभिलाषा नहीं थी। कोई भी इच्छा नहीं थी। उसी क्षण, वहाँ, तत्काल, उस अनुभव में, वह अचानक स्वयं में ऐसी सहजता का बोध कर रहा था जो उसे अद्भुत तृप्ति दे रही थी। बनता हुआ उभरता चित्र उसके अन्तर्जगत का प्रमाण ही था, इसे वह अच्छी तरह जान रहा था। इससे अधिक उसे अपने चित्र से कोई अपेक्षा नहीं थी। प्रकाश पहले से भी कम हो गया था। उसके पहले के चित्रों में आदतन पीले और मटियाले रंगों की भरमार रहती। कभी-कभी अपवाद स्वरूप हरा भी आता। लेकिन उसे याद नहीं पड़ा कि लाल और काले रंगों का उपयोग पिछले पच्चीस सालों में उसने कभी किया हो। काला रंग लगाते ही उसे लगता कि जैसे काग़ज़ में छेद हो गया हो। सबसे कहता रहा कि काले को सम्भालने की न मुझमें ताकत है न क्षमता। केनवास के ऊपरी हिस्से में उंगलियों से रंग फैलाते हुए उसने अब हथेलियों से रगड़कर लगभग रंगों की पट्टियों बनाना शुरू किया। लहराता फैलता ज़मीन का उबड़-खाबड़ दृश्य स्वतः काग़ज़ पर उभरने लगा। काग़ज़ पर पहले से छपा हुआ एक काले रंग का विज्ञापन उसके रंगों से ढका-अधढका उसी भूदृश्य का रोचक हिस्सा हो गया। चित्र में जिस गति से रंग लगता जा रहा था, वह स्ट्रोक्स के निशानों से स्वतः खुलकर चित्र का खास स्वभाव और शैली बनता जा रहा था।

भूपेन चित्र को नहीं बना रहा था। अब चित्र स्वतः बन रहा था। भूपेन उसका निमित्त था, साक्षी था और उसका भोक्ता भी। उस समय उसकी रचनात्मक ऊर्जा में रंग, आकार, कथ्य और रूप सब कुछ गलकर एक हो गये थे। उसे कुछ भी याद नहीं रहा कि वो कहाँ है, क्यों हैं और कौन है। किसी की आहट के बिना अपने में लीन वो काम करते

हुए अपने उस आन्तरिक संसार में प्रवेश कर गया जहाँ चेतन और अवचेतन दोनों में एका हो गया था। उस समय उनमें जागृत जो था, वह महज बरसों का अभ्यास नहीं था, बीती स्मृतियाँ नही थीं बल्कि अपने ही भीतर दबे-मुँदे से उभरता, वह सब जाना-अनजाना था जो उद्घाटित हो रहा था। कुछ आकारों में, कुछ रंगों में और उससे भी अधिक उसके मन में। उसके लिए वह महज भावात्मक बहाव नहीं था, केवल ऊर्जा को ज्वार भी नहीं, लेकिन ये ऐसे कुछ सार्वभौम क्षण थे, जिसमें वह अपनी क्षुद्रता से उबर गया था। अपनी पदार्थमयता के ऊपर उठ आया था और इसी के कारण अब उसके देह की सीमाएँ स्वतः गौण हो गयीं थीं।

भूपेन को ध्यान नहीं था कब उसने काला रंग उठा लिया। काले रंग की ट्यूब को ब्रश की तरह सीधा इस्तेमाल करते हुए, उसने काग़ज़ पर फैले अन्य रंगों में ऊपर इस तरह लागाना आरम्भ किया जैसे वह ट्यूब नहीं कलम हो। एक लय में गति से हाथ चल पड़े। पतली मोटी रेखाएँ लयकारी से रंगतों के बीच उभरने लगीं। कहीं पक्षी, कहीं प्रकृति, कहीं बादल, कहीं अचीन्ही ज़मीन तो कहीं केवल अमूर्त रूप जो अन्य सभी के साथ एक ताल में रागमय हो गया। भूपेन ने अपने भीतर अपनी सीमाओं को खुलते देखा। वह न प्रसन्न था, न उन्मत्त। बस अपनी ही बाधाओं से उबर आने का गहरा बोध उसे लीन कर रहा था। जहाँ मन किया उसने दो उंगलियों से काले रंग को रंगों में फैलाकर गाढ़ी-पतली रंगत दे दी। सम्भवतः ऐसा कोई चित्र उसने पहले नहीं बनाया था। उसके चित्रों में अक्सर एक अनकही उदासी और कुछ टूटा या छूटा होने का भाव अनायास आता रहा था। किन्तु वृद्धाश्रम में अपनी अपंगता के बाबजूद बन रहे ये चित्र स्वयं उसे चकित कर रहे थे। तभी महुआ उसका खाना लेकर कमरे में आयी, भूपेन को इसका पता नहीं चला। वह भी वहाँ खड़ी विस्मय से उसे काम करती देखती रही। उसका अपना अनुभव जादुई और रोमांचक था।

कई दशकों से भूपेन के चित्रों के विषय वही के वही थे लेकिन उसे उनमें दोहरावट नहीं लगती। जो चित्रों में दिखता था उसकी बाहर दिखते दृश्य से कोई समानता नही थी, न ही उसका ऐसा कोई इरादा था। ऐसा किसी तर्क अथवा सोच पर आधारित भी नहीं था। उसके लिए बाहरी दृश्य जितना स्थूल, मायावी और मिथ्या था, चित्र के भीतर के आकार और उनकी भावभूमि उनसे कहीं अधिक वास्तविक, सूक्ष्म और बोधगम्य थी। इसीलिए चित्र बनाते समय वह अधिक सामर्थ्यवान और समृद्ध अनुभव करता। इसी कारण उन क्षणों को सार्थक भी समझता।

उस रात खाना खाने के बाद भूपेन निश्चिन्त-सा अच्छी गहरी नींद में सोया। बीच रात में आदतन दो दफ़ा पेशाब करने भी नहीं उठा। सुबह देखा कि चित्र सूखकर मेज़ पर ग्लूकोस के डिब्बे से दबा हुआ रखा था। भूपेन के मन में उसे पुनः देखने की इच्छा नहीं हुई। भूपेन के लिए बन जाने के बाद चित्र किसी काम का नहीं रह जाता था। न इसे किसी को दिखाने का मन करता। न इसके एवज़ में कुछ पाने का। उसे बनाने की प्रक्रिया में वह अपनी अनिवार्य तुष्टि पा लेता। इसके बाद कुछ दिनों तक वृद्धाश्रम में उसका समय चित्र बनाते हुए बीतने लगा। संगीतकार की साधना की तरह वह काम करते हुए अपने अन्तःकरण की एकाग्र दुनियां में प्रवेश कर जाता और अदभुत सार्वभौम सत्ता का अनुभव करता। यह एक ऐसा अनुभव था जो उसे लगातार अपनी देह की सीमाओं से ऊपर उठा रहा था। बुढ़ापे की थकान को हल्का कर रहा था। वृद्धाश्रम की कमियों से परे ले जा रहा था। साथ ही साथ भीतर ऐसी सम्पन्नता दे रहा था कि दूसरों से कुछ भी चाहने के बजाय वो कुछ देकर ही आत्मा में संतोष का अनुभव करने लगा

था। उसे निकृष्ट चीजों में भी कुछ न कुछ अच्छा नज़र आता। इसी तरह लोगों को खानों में बाँटकर देखना भी उसे सम्भव नहीं लगता।

भूपेन आस्तिक नहीं था पर नास्तिक उसे मानता जो अपने पर ही विश्वास न कर सकें। सदा अपने को इतना मामूली कहता कि उसमें से यदि दूसरों का मिला अंश हटा दें तो उसका अपना कुछ भी नहीं। उसकी समझ में नहीं आता था कि कला अनिवार्य वृत्ति होते हुए किसी का पेशा कैसे हो सकती हैं। उसमें तो केवल दे देना ही हो पाता है। इस तरह की एकाग्रता के साथ, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य मिलकर एक रहें। अच्छे-बुरे की मीमांसा के बगैर लगभग प्रार्थना की तरह। केवल आन्तरिक आत्मिक खोज की प्राथमिकता बनी रहे-अपने को ही खोज पाने की अदम्य इच्छा लिए। भूपेन को लगता कि बादल जमीन का टुकड़ा ही होता है, आकाश का अंश नहीं। वह तो इसीलिए उतरकर बह जाने का मन लिए मतवाला हो उड़ता फिरता भटकता रहता है।

कई कारणों से कुछ माह तक भूपेन से मिलने जाना सम्भव नहीं हो सका। इसी सबब से मन में कसैला-सा अपराध-बोध बढ़ता गया। यह डर तो था ही कि न जाने कितने दिनों का मेहमान है। आखिरकार उसकी हालत खस्ता थी और सुधरने की कोई आशा भी नहीं थी। न ही उसे ऐसी सुविधाएँ या उपचार मुहैया थे कि ठीक हो पाता।

मन के भीतर को ग्लानि जब खेद में बदलने लगे तब साहस भी स्वतः जुटने लगता है। जब वहाँ जा रहा था तो देखा कि शाम की धूप में छायाओं के आकार पतली धुमावदार गली के मकानों को बाहों में सिमेट रहे थे। सड़क के गड्ढ़ों पर उछलता डगमगाता रिक्शा गिरते-गिरते बचा। गटर में जाम होकर मलबा अधिक बदबूदार हो गया था। हवा पहले से ही बन्द थी। वृद्धाश्रम की सीढ़ियों पर शाम की धूप के आड़े-तिरछे कतरे सुनसानियत में कोमल पीला प्रकाश फैलाये हुए थे। सीढ़ियाँ चढ़ते ध्यान से देखा तो बाबा लोकनाथ की प्लास्टर की प्रतिमा में ऐसा कुछ अवश्य था जो अपनी सहज लीन मुद्रा से समय की कठोरता को परे हटाता था।

ऊपर तिमंजिले पर ज़्यादातर कमरों के दरवाज़े खुले हुए थे। देखा कि सभी में दो-दो लोग अवश्य है। कोई खाट पर बैठा और कोई चहल-सदमी करता। ऊपर पहुँचते ही मछुआ दिख गयी। उसने बढ़कर भूपेन के कमरे के उघड़े किवाड़ों को ठेलकर खोल दिया। भूपेन खाट पर पैर लहकाए बैठा था। पास में बैठे अन्य किसी को कुछ समझा रहा था। देखते ही खुश हो गया, नाम लेकर मुझे पुकारा, कुर्सी खींच बैठने को कहा। उसकी साफ़ खुली आवाज़ और मन में उत्साह देखकर तसल्ली हुई। यह भी अच्छा लगा कि उसकी धँसी आँखों में थकान तो थी पर चमक भी थी। उदासी नहीं थी। दाढ़ी के बाल एकजुट होकर विरले हो गये थे पर हताशा का अंश कहीं नहीं था।

'ये मुकुल साहा हैं। यहीं दो माले में रहते हैं। मुझसे पहले से यहाँ हैं। बहुत अच्छे आदमी हैं।' भूपेन ने उनके साथी का परिचय दिया। तय करना कठिन था कि कौन ज़्यादा बुजुर्ग है। मुकुल की बातों से लगा कि वे भूपेन का बहुत सम्मान करते हैं और लगाव भी रखते हैं। उठकर जाने लगे तो बहुत आग्रह से बिठाया।

वहाँ घुसते ही लगा था कि भूपेन का कमरा पहले से बहुत छोटा हो गया हैं। कुर्सी, कमोड और टीन की मेज़ कमरे के

बीच की ओर आ गये थे। क्योंकि दीवालों के साथ-साथ सभी ओर केनवास ही केनवास रखे थे। सभी में काम किया जा चुका था। तीस पैंतीस रहे होंगे। कुछ एक सीधे थे जिनमें चित्र दिख रहे थे। अधिकतर उल्टे थे। मेज़ पर ब्रशों, रंग लगाने के चाकू और रंग की मुड़ी-तुड़ी ट्यूबों का बिखराव था। देखकर समझ में आता था कि जमकर काम हो रहा है। इन कुछ माहों मे इतना काम पूरा हो जाना, एक स्वस्थ और युवा चित्रकार के लिए थी बहुत कठिन था। मन में आशा जगी कि शायद भूपेन अब अपंग नहीं रहा, चल-फिर पाने लगा होगा। पर ऐसा नहीं था। शरीर से वो उतना ही अपंग था, पहले की तरह। न अपने से उठ बैठ पाता था, न खड़ा होना या चलना सम्भव था।

जब मन नहीं माना तो बैठे-बैठे केनवासों को उठा-उठाकर देखने लगा। भूपेन ने सुझाया कि जब तक बने, कमरे के चारों ओर उन्हें खोलकर खडा कर दूँ। फिर उन्हीं के सिरों पर खड़ा करके, एक पंक्ति और लगा दूँ। कुछ खाट पर खड़े किये गये, कुछ सन्दूकों पर। छोटे, मझोले और बड़े सभी आकार के। उत्साह से भरा चुपचाप इन्हें वहाँ देखना अद्‌भुत अनुभव था। भूपेन भी चुपचाप कौतुहल से मुझे देखता रहा। मुकुल ने कुछ कहा नहीं पर चेहरे पर चमत्कार में खोने का आनन्द था।

जितना क़रीब से, जितना गौर से इन्हें देखता, अचरज उतना बढ़ रहा था। यह हर तरह से उसी का काम था। चालीस सालों से इसी तरह का काम करता रहा वो, दोहराव लिया। लेकिन इनमें उन्हीं आकारों में बदलाव था। रंगों में बदलाव था। रंग लगाने के तरीकों में बदलाव था। मिजाज़ में बदलाव था। ये ऊर्जा से भरे हुए थे। भूदृश्य होते हुए भी इनमें गति के आभास थे। ज़मीन उठना चाहती थी, सांसती थी। रंग लगाने और चित्र बनाने के प्रयास नहीं थे, बल्कि उद्‌दाम था। अद्‌भुत आत्मविश्वास और शंकाहीन होकर किया गया काम। देखते हुए मन ऊर्जा से भरता गया। चेहरे को पढ़ते हुए भूपेन ने पूछा-'काला और लाल कैसा है ?' स्वयं फिर कहा-'कोई हिचक नहीं लगी मुझे। खुलकर काम कर सका। बहुत अच्छा लगा। कोई-कोई चित्र तो सिर्फ़ काले से ही बनाया। उस पर और कुछ लगाने का मन नहीं किया।' याद आया कि पहाड़ों पर जितना उठते जाते हैं, जितना कगारों के क़रीब जाते हैं, वहाँ से उतने ही अद्‌भुत विहंगम के दर्शन होते जाते हैं। भूपेन अपनी सभी सीमाओं को नीचे छोड़ ऊपर उठते गये थे।

इसके बाद भूपेन ने अपनी तकिये के नीचे से एक पोटला निकाला, उसमें पत्रिकाओं को फाड़कर बनाये हुए चित्र थे। इनमें रंगों के अलावा कहीं-कहीं अन्य कागज को चिपकाकर कोलाज भी था। सभी में पत्रिका में छपी सामग्री को इन सबमें घोल-मेल कर, मूर्त-अमूर्त सभी तरह का खिलवाड़ किया गया था। भूपेन छियासी का था या सोलह का या छियालीस का-कहना कठिन था। उससे अकस्मात पूछ बैठा-'कमज़ोरी या थकान तो नहीं लगती, ये सब करके।' 'सबसे बड़ी कमज़ोरी तो अपने को कमज़ोर समझना है। मेरे साथ वैसा कभी नहीं हुआ। फिर अपने काम को, अपने काम की तरह कर पा रहा हूँ और क्या चाहिए और क्या पाना है जब काम को करते हुए उसमें ही इतना कुछ मिल जाता है।' भूपेन ने सब कुछ इन शब्दों में कह दिया। मुकुल भी इनसे अछूता न रहा, स्वतः कह उठा-'इनसे मिलने के पहले मैं हरदम मरने के बारे में ही सोचता था। इनको देखकर समझ पाया हूँ कि मृत्यु से बड़ा खतरा है जीवन को जीते हुए मरते जाना।'

इस दौरान कब कुछ लोग कमरे के दरवाज़े पर आकर खड़े हो गये, किसी का ध्यान नहीं था। ये सभी उत्सुकता और उत्साह से भरे, कमरे में बिखरे चित्रों की रंगीनियत देख रहे थे। इन सब रंगों से कमरे में उत्सव का भाव भर आया था। भूपेन इनमें प्रत्येक को नाम ले लेकर भीतर अपने पास बुलाने लगे। महुआ को बगल में खड़ा होने को कहा। उसके बच्चे को गोद में देने को कहा। बाकी लोगों को भी क़रीब आने को कहा। अन्त में मुझसे कहा-'हम सबकी ऐसी एक फोटो हो सकती है क्या ?'

तस्वीर लेने के बाद देखा दूर अँधेरे में बिजली के खम्बे की बत्ती जल गयी है। उसके पीले प्रकाश में बगल के पेड़ के नये पत्तों के आकार उभरकर पास आ गये हैं।

एम.जी. रोड

ध्रुव शुक्ल

बीसवीं सदी का अन्त आते-आते महात्मा गाँधी मार्ग एम.जी.रोड कहलाने लगा। गाँव की उजली पगडंडियों को पाटती सड़कें उर्वर धरती की कोख को काला करने लगीं। फिर लोग एम.जी.रोड को मल्टीनेशनल ग्लोबल रोड कहने लगे।

ऐसी ही एक रोड ने सुदामा और शबरी की उपजाऊ जमीन दाब ली। जमीन पर बने उनके झोपड़े भी सड़क के नीचे बिछा दिये गये। दोनों सड़क पर आ गये। भगवान भरोसे जीवन काटने वाला सुदामा बचे-खुचे जंगल में लकड़ी बीनकर गुजारा करने लगा और न जाने किसकी राह देखने वाली शबरी महुआ बीनकर अपना पेट भरती रहती। जब महुआ नहीं मिलता तो सूखे बेर जमा कर लेती। फिर उन्हें उबालकर खाती। गुजारा नहीं चला तो एक दिन वे दोनों मजदूरी करने सड़क बनाने वालों के साथ चल दिए। वे दिन-रात सड़क बनाते जाते और अपने गाँव से दूर चलते चले जाते। ऐसे ही चलते-चलते एक दिन वे शहर की भीड़ में खो गये। संकट के दिनों का सामना करने के लिए सुदामा के पास थोड़े-से चावल ही बच रहे और शबरी अपनी पोटली में सूखे बेर बचा-बचाकर रखती रही। सिर छिपाने की जगह खोजते-खोजते वे दोनों चित्रगुप्त कबाड़ी की शरण में जा पहुँचे।

जीवन से बाहर फेंक दी गयी चीजें अगर बहुत दिनों तक एक ही जगह पड़ी रहें तो उन्हें सान्त्वना देने के लिए उनके आसपास घास उग आती है। कबाड़खाने के पास ही एक पुरानी बस खड़ी थी जिसके पहिए जमीन में धँस चुके थे

और उसके चारों तरफ घास उग आयी थी। कबाड़ी बोला-- उसे झाड़-बुहारकर उसी में टिक जाओ, सबेरे आना तुम्हें काम से लगा दूँगा। कबाड़खाने में आ गयी ठुकरायी चीजों का मोल तो कबाड़ी ही जानते होंगे।

बस पर अंकित धुँधले अक्षर अपना रंग खो चुके थे। यह बस कभी व्दारका और अयोध्या की यात्रा पर जाती होगी। बेबस हो चुकी धर्मराज एण्ड कम्पनी की जंग लगी बस में एक बूढ़ा कुत्ता सो रहा था। सुदामा और शबरी के आने की आहट सुनते ही वह भौंकने लगा और जल्दी ही कबाड़खाने की चीजों में गुम हो गया।

बस में सीटें नहीं थीं। कबाड़ी ने उन्हें दूसरी बसों में लगा दिया होगा। वह ऐसे खाली कमरे की तरह लग रही थी जिसे छोड़कर जाने वाले लोग अब कभी नहीं आयेंगे--उसके भीतर न जाने कबसे बुने जा रहे मैले जालों पर बूढ़ी मकड़ियाँ लटक रहीं थीं और धूल में लिथड़े खून सने कुछ पंख फर्श पर फैले थे। शबरी बस में झाड़ू लगाने लगी और सुदामा उसकी खिड़कियों के पारदर्शी काँचों की धूल पोंछने लगा। सड़क पर फैला उजाला वर्षों पुराने अँधेरे में भरने लगा।

अपने इस बेबस घर से बाहर आकर उन दोनों ने तीन ईटें खोजकर अपना चूल्हा बना ही लिया। कबाड़खाने में पड़े लकड़ी के टुकड़े सुदामा ने जल्दी ही बीन लिए। सुदामा के चावल पकने लगे और शबरी के सूखे बेर भी उबलने लगे। वे उस ठहरी हुई बस में खाली बोरियाँ बिछाकर बैठ गये,उन्हें बड़े सबेरे काम की तलाश में कबाड़ी के पास पहुँचना है।

कचरे को चुन-चुनकर त्यागना एक कला है,जो सबको नहीं आती।लोग तरह-तरह के कचरे के बीच रहकर ही पूरा जीवन गुजार लेते हैं और बहुत सारे कचरे से भरी-पूरी दुनिया छोड़कर चले जाते हैं। उनके कचरे को उनकी कई पीढ़ियाँ सदियों तक ढोती रहती हैं। वे उसे ढोने के लिए आपस में बाँट लेती हैं। जब बटवारा नहीं हो पाता तो वे घूरों पर बैठै मुर्गों की तरह खूब लड़ती-झगड़ती हैं, एक-दूसरे के पंख नोचती हैं। अपने कचरे का झगड़ा निपटाने के लिए दूसरों से न्याय माँगती हैं।

बहुत सारा ऐसा कचरा भी धरती पर पड़ा हुआ है जिसे अब तक न्याय नहीं मिला। लोग अपना कचरा छिपाने के लिए उसे चोरी छिपे पड़ौसी के आँगन में फेंक देते हैं--कौन-सा कचरा किसका है, यह पता लगाते-लगाते संसार की सारी अदालतें थक गयी हैं। कई ऐसे जहरीले घूरे हैं जो जमीन की गहराई में छिपा दिए गये हैं पर वे भूमिगत होकर भी अपने रास्ते खोज लेते हैं और मौत का पैगाम लेकर जीवन में प्रवेश कर जाते हैं।

कबाड़ी ने सुदामा और शबरी को चुन-चुनकर कचरे को अपनाने की कला सिखा दी। वे बड़े सबेरे अपनी-अपनी खाली बोरियाँ लेकर शहर के घूरों की ओर निकल पड़े--कचरा बीनने वालों के शरीर पर जल्दी ही धूल जमने लगती है। चेहरा काला पड़ता जाता है। पलकें मोटी होती जाती हैं। ओंठ फटकर दरक जाते हैं। नाखून काले पड़ जाते हैं। पाँवों में बिवाइयाँ फट जाती हैं। बड़े सबेरे कचरा बीनने निकलने वाली लड़कियों के चेहरों पर पड़ती धूप वीरान खामोशी पर झरती हुई-सी लगती है। शाम ढलते-ढलते यह खामोशी और गहरी हो जाती है। बूढ़े-अधेड़ और उनके बेटे-बेटियाँ रोज अपनी-अपनी बोरियाँ कंधों पर लादे कबाड़खानों की ओर लौटते हैं।

कबाड़खाने में अलग-अलग भाव पर तुलते कचरे की कीमत बाजार की आँखों में रोज घट जाती है। जैसे-तैसे कचरा बीनकर रोज पेट भरता है,बाकी शरीर कितनी सारी चीजों के लिए मचलता है। कहाँ-कहाँ मुँह मारता है, जूठन पर पलता है। शहर में जूठन की कमी नहीं थी,लोग जितना खाते उससे ज्यादा फेंकने की आदत उन्हें पड़ गई थी। वे पहनकर कपड़े और जूते फेंक देते, पढ़कर अखबार और किताबें फेंक देते। सामान ढोते-ढोते फट गये थैले, ढीले पड़ गये मोजे और चोलियाँ,खून से रंगे जाँघिए, पाजामों के टूटे हुए नाड़े,माथे से गिरी हुई बिन्दियाँ, टूटे हुए नकली कण्ठहार और न जाने क्या-क्या रोज घूरों पर पड़ा दिखाई देता।कचरे को ढाँके-मूँदे रहते पॉलीथिन के छोटे-बड़े थैले अक्सर फटकर बिखर जाते और खाली होकर उड़ जाते, पूरे शहर को घूरों के होने की खबर देते रहते। कचरा बीनने वाले इन्हें बीन-बीनकर थक गये हैं। सबसे कम वजन के इस कचरे की कीमत इतनी कम है कि किसी का पेट नहीं भरता।

वजनदार कचरा आसानी से नहीं मिलता तो उसे चुराना पड़ता है। जो कचरा बीनकर गुजारा करते हैं उन्हें पार्क में रखी लोहे की बेंच, एकान्त में खड़ी बस की स्टेपनी, खाली पड़े घरों के लोहे के दरवाजे और खिड़कियाँ कचरे की तरह लगती हैं। सड़क की दोनों ओर खड़ी ऊँची-ऊँची इमारतें कचरा भरते जाने के कारण जल्दी ही कमजोर होने लगती हैं और एक दिन भरभराकर वजनदार घूरे में बदल जाती हैं।कचरा बीनने वाले उनकी तरफ दौड़ पड़ते हैं। वहाँ मलबे में दबी आड़ी-टेढ़ी हो गई लोहे की छड़ों और टूटे-फूटे-चपटे बर्तनों की कमी नहीं होती।

मरे हुए लोग अपने हानि-लाभ की चिन्ता नहीं करते। जिन कीमती चीजों को वे जीवन भर दूसरों की नजरों से छिपाकर रखते हैं, मृत्यु उनकी तिजोरी का ताला खोल देती है। जो उन चीजों को दबे पाँव सबकी नजरों से बचाकर उठा लेता है वे उसके जीवन में छिप जाती हैं, उसकी मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगती हैं।

जो लोग जीवन भर कचरा फेंकते रहते हैं और कभी बीनते नहीं वे ऐसी चीजों को बीनने में संकोच नहीं करते--वे अकाल मौत मरी पड़ी औरत का सोने का कंगन और चाँदी की पायलें उतार लेते हैं। उन्हें उसकी नथ उतारने में भी कोई संकोच नहीं होता।

घूरा बनती जाती गृहस्थियों के मलबे में कभी कोई आवाज बहुत गहराई में दबी रह जाती है। कचरा बीनने वाले लोग अपने-अपने ठिकानों की तरफ लौटने लगते हैं। कभी कोई ठिठककर उस आवाज को सुन लेता है और कचरा बीनने के काम को छोड़कर सधे हाथों मलवे को हटाता उस आवाज तक पहुँच जाता है, उस आवाज को उठाकर अपने साथ ले आता है।

एक दिन सुदामा कचरे की खाली बोरी लिए दूध पीती बच्ची को अपनी गोद में उठाये लौटा। गुमसुम शबरी टकटकी लगाये उसी की प्रतीक्षा कर रही थी। शबरी आज शाम ढलने से पहले कचरा बीन-बेचकर लौट आयी। सुदामा ने वह बच्ची उसकी गोद में रख दी।कोई नहीं जानता कि शबरी का कोई अपना है भी या नहीं। किसी ने उससे कभी पूछा भी नहीं। वह तो गाँव के रास्ते के किनारे झोपड़ी डालकर रहती और पास के जंगल से महुआ-बेर बीनकर गुजारा करती। बस इतना सुनते हैं कि उसके बाप-दादे बड़े धर्म-कर्म वाले थे और उन्हें जल्दी ही इस संसार से मुक्ति मिल गयी। शबरी और सुदामा की दो बीघा जमीन और झोपड़ी जब सड़क के नीचे दाब दी गयी तो वह सुदामा के साथ

शहर की ओर चल दी। सुदामा दरिद्र जरूर था पर मूरख नहीं। उसके भी आगे-पीछे कोई नहीं रहा। गाँव के दो अभागे एम.जी.रोड पर एक अनजानी दिशा में साथ चल दिए।

सुदामा और शबरी जब कचरा बीनने निकलते तो उसे एक कपड़े की घोजी बनाकर अपनी पीठ पर बाँध लेते। सबसे पहले शबरी ही उसे अपनी पीठ पर बाँधकर निकलती। जब कचरे की खोज में दोनों के रास्ते अलग होने लगते तो सुदामा उसे पीठ पर बाँधकर चल देता। कचरा बीनने के लिए घूरे के सामने झुकना पड़ता है। सुदामा को आशंका बनी रहती कि कहीं बच्ची नीचे न गिर पड़े। जब कभी बच्ची घोजी से खिसककर घूरे पर गिरने लगती तो उसे सम्भालने में कचरे की बोरी हाथ से छूट जाती और बीना हुआ कचरा फिर घूरे पर बिखर जाता जिसे फिर बीनना पड़ता। एक दिन बच्ची घोजी से फिसलकर घूरे पर गिर पड़ी और रोने लगी। सुदामा ने बहुत सम्भालकर घूरे से बीने गये कचरे की बोरी को घूरे से ही टिकाकर बच्ची को घूरे से उठाया।उसके बालों में भर गये कचरे को निकाला।शरीर पर चिपक गयी धूल को मुँह से फूँक-फूँककर उड़ाया। अब रोना कैसे रुके, उपाय ही नहीं सूझ रहा था कि उसे अचानक घूरे पर पड़ी हुई एक गुड़िया दिखाई पड़ी। सुदामा ने उसे उठाकर अपनी कमीज से साफ किया और बच्ची उसे थामते ही चुप हो गयी। सुदामा सोचने लगा कि लोग खिलौनों को कचरा समझकर घूरे पर क्यों फेंक देते हैं। फिर सुदामा का मन कचरा बीनने का नहीं हुआ। वह बच्ची को फिर पीठ पर बाँधकर अपने बेबस घरौंदे की ओर चल पड़ा।

शाम ढलते ही शहर के लोग हवाखोरी करने के लिए अपने आसपास के बागीचों में आ जाते हैं। छोटे-छोटे बगीचों में सिर्फ पैर रखने की जगह ही मुश्किल से मिलती है। उन्हें देखकर लगता है कि जैसे उन्होंने अपने आप को कचरे की तरह घरों से उठाकर कुछ देर के लिए पार्कों में फेंक दिया हो। पार्कों में कचरा फैलाना कानूनन जुर्म है। अपना कोई भी कचरा वहाँ रखे हरे रंग के डिब्बों में डालना पड़ता है। सब अपनी चाट-पकौड़ी के खाली दोने चाटकर इन्हीं डिब्बों में डालते हैं। बड़े आकार का कचरा इन डिब्बों के मुँह में प्रवेश नहीं कर सकता। रात का पहला पहर बीतते न बीतते सब अपनी-अपनी मोटर-गाड़ियों में भरकर इस तरह मन मारकर घर लौटते हैं जैसे कहीं जगह न मिलने के कारण अपने आप को फिर घर में फेंक रहे हों।

पार्क बन्द होने का समय पास आते-आते वहाँ भीड़ कम होने लगती है। उनकी बैंचों पर संकोचवश एक दूसरे से दूर बैठे प्रेमी जोड़े कुछ देर के लिए पास सरक आते हैं। इससे पहले कि वे और पास आ सकें, पार्क का चौकीदार उनके पास आ जाता है। फिर वे ऐसा अँधेरा खोजते फिरते हैं जहाँ से कहीं दूर रोशनी दीखती हो और वे छिप जाते हों। उन्हें सिर्फ इतनी रोशनी चाहिए जिसमें वे एक-दूसरे का चेहरा देख सकें। कभी दुर्योग से उनके प्रेमपत्र घूरों पर फिंक जाते हैं, कबाड़खाने जाकर रद्दी में तौल दिए जाते हैं पर पार्क बन्द होने के बाद भी फूल कहाँ मुरझाते हैं। प्रेम जहाँ झरता है वहीं बार-बार खिल उठता है।

सुदामा बच्ची के साथ पार्क का एक चक्कर लगाकर बाहर निकला। उसने पार्क में जाने से पहले अपनी कचरे से भरी बोरी पार्क के बाहर रखी नगर निगम की कचरा पेटी में छिपा दी। वह जानता है कि अपनी कचरा पेटी से नगर निगम

तब तक कचरा नहीं उठाती जब तक यह पेटी कचरे की उलटियाँ न करने लगे।

शबरी उससे पहले लौट आयी।आज उसने अट्ठारह रुपये का कचरा बेचा। दोनों आपस में विचार करने लगे कि इस बच्ची को हम कैसे पाल-पोसकर बड़ा कर पायेंगे। सुदामा कहने लगा--इसे कबाड़ी को ही दे देते हैं। शबरी बोली--क्या यह कचरा है जो इसे कबाड़ी को बेच देंगे। सुदामा बोला-- यह कचरे में मिली है तो कबाड़ी की सलाह लेने में क्या हर्ज है।

दोनों कबाड़ी के पास पहुँचे। अँधेरा गहरा हो गया था। चित्रगुप्त कबाड़ी एक पुराने टेबिल लेम्प की फीकी रोशनी में दिनभर इकट्ठे किए कचरे का हिसाब कर रहा था। दोनों की तरफ देखकर वह बोला--अब इतनी रात गये कौन-सा कचरा उठा लाये। सुदामा बोला--कल घूरे पर एक दूध पीती बच्ची मिली। हम उसे कैसे पाल सकते हैं? आप ही उसे ले लें। कबाड़ी बोला--हम कचरे का धन्धा करते हैं, यह तो कचरा नहीं। सुदामा बोला--पर किसी न किसी ने तो इसे कचरा समझकर ही घूरे पर फेंक दिया है। कबाड़ी बोला--हम इसे कचरा नहीं समझते। शबरी से रहा नहीं गया, वह बोली--तो आप इसे गोद ले लें।

बेजान कचरे से भरे कबाड़खाने में कितनी भी रोशनी करो, चीजें उसे पी जाती हैं। कबाड़ी मन ही मन सोचने लगा, चीजों से भरा घर भी तो कबाड़खाने जैसा ही दिखता है। घर की कितनी पुरानी पड़ती जाती चीजें यहीं ला-लाकर फेंकता रहता हूँ फिर भी घर में अँधेरा-सा भरा रहता है। चीजें उजाले को ही नहीं आवाज को भी पी जाती हैं।

चित्रगुप्त कबाड़ी के घर में कोई सन्तान नहीं थी। घर में उसकी बीबी वसुधा नयी-नयी चीजों के बीच और कबाड़खाने में वह पुरानी चीजों के बीच जीवन काट रहा था। उनके जीवन में चीजों के आने का शोर था और चीजें पास आकर उन्हें अपनी चुप्पी के बीच रहने को विवश करतीं।उनके घर में कई प्रकार के खिलौने थे पर खिलखिलाहट से भरी किलकारी नहीं थी।

मरी हुई चीजों के बीच जीवन काटते चित्रगुप्त कबाड़ी का मन पसीजने लगा। वह कबाड़खाने के पास ही भव्य भवन में रहता था। उसकी पत्नी वसुधा कभी कबाड़खाने में नहीं आयी। वह अक्सर कहती--मुझे वहाँ क्या मिलेगा, घर में ही बेजान चीजों की कमी नहीं है।घर की चीजों की तो कभी-कभी धूल भी झाड़ देती हूँ पर मरती हुई चीजों से भरे शमशान की धूल कौन झड़ाये। चीजें ही क्या,धूल में मिले बिना कोई कहाँ मरता है? धूल खाते-खाते एक दिन सब धूल में मिल जाते हैं।

चित्रगुप्त ने वसुधा को फोन लगाया कि वह कबाड़खाने में आ जाये और मरी हुई चीजों के बीच मिली एक जिन्दगी को अपना ले--यह कहते हुए वह फफककर रो पड़ा। पत्नी कुछ ही क्षणों में घबरायी हुई-सी दौड़ी-दौड़ी आयी।उसने देखा--छोटी-सी गुड़िया पति की गोद में संसार से आँखें मींचे चुपचाप लेटी है।वह उसे देखते ही व्याकुल हो उठी। उसी समय चित्रगुप्त बोला--वसुधा, मैंने तो इसे गोद ले लिया अब तुम भी इसे अपने गले से लगा लो। वसुधा ने देर नहीं की, उसे पति की गोद से उठाकर अपने आँचल से ढँक लिया। सुदामा और शबरी फूट-फूटकर रो पड़े।

अहसानमंद कबाड़ी ने दोनों को ढाँढस बँधाते हुए कहा--रोने से काम नहीं चलेगा, इसका कोई नाम भी तो रखो। हम इसे कैसे बुलायेंगे। शबरी ने आँसू पोंछते हुए सुदामा की तरफ इस तरह देखा,जैसे मन ही मन कह रही हो कि नाम तो ऐसा रखना चाहिए जो सबको तार सके। जो जात-पाँत और कुल-धर्म से भी ऊपर उठा हुआ हो। जैसे शबरी के मन की बात जान ली हो, सुदामा बोला--जो बिना भेदभाव के धरती पर उतरकर उसे सब पर उपकार करने वाली माता का दर्जा देती हैं, वे तो सुरसरि गंगा ही हैं। इस बिटिया का नाम गंगा होना चाहिए। सुदामा के प्रस्ताव से प्रसन्न होकर सबने यही नाम चुन लिया।

कबाड़ी के जीवन में किलकारी गूँजी तो सुदामा और शबरी के भी दिन फिरे। चित्रगुप्त ने अपने कबाड़खाने में पड़ी चीजों से उनके बेबस बसेरे को सँवार दिया। उन्हें अपने गाँव की याद आ गयी, जहाँ उनने अपनी झोपड़ी के अहाते में आम, अमरूद, आँवले, नीबू, बेरी और बेल के पेड़ लगाकर उनकी छाया का अनुभव किया और उनके फल खाये। उन्होंने अपने इस बसेरे के चारों तरफ छोटा-सा अहाता घेरकर अपनी यादों को फिर से हरा कर लिया। अपने इस छोटे-से आँगन के बीचोंबीच तुलसी चौरा भी बना लिया। सड़क के नीचे दबा दी गयी हरी-भरी ऊँचाईयाँ उनके जीवन में फिर सिर उठाकर खड़ी हो गयीं। छोटी-छोटी क्यारियों में साग-भाजी भी अँकुरा उठी। शबरी को कबाड़ी के घर में गंगा की देखरेख का काम मिल गया और सुदामा कबाड़खाने के काम में हाथ बटाने लगा।

कबाड़खाने के सामने से गुजरने वाली सड़क पर सब्जी, दूध और फलों से लदी बड़ी-बड़ी मालवाही गाड़ियाँ दिन-रात दौड़ती रहतीं। किसी-किसी में गाय, भैंस और बकरियाँ ठूँसकर भर दी जातीं। कभी अनाज के बोरे फट जाते तो चलती हुई गाड़ी से बीज ऐसे झरते जाते जैसे सड़क कोई खेत है और उसमें बोहनी की जा रही है। --बीज माटी के स्वाद को नहीं भूलते, वे सड़क से उछलकर उसके किनारे की माटी में समा जाते हैं और थोड़ी-सी नमी पाकर अँकुरित हो उठते हैं फिर सड़क के किनारे आ लगी कोई मोटर गाड़ी उन्हें जल्दी ही कुचलकर आगे बढ़ जाती है। दूब ने जरूर अपना प्रण नहीं तोड़ा है। उसे पृथ्वी पर पूरा भरोसा है। उसके रास्ते को नयी सभ्यता के रचनाकार डामर और सीमेंट से पाटते चले आ रहे हैं पर वह अपना रास्ता भूले बिना अपनी जगह खोज लेती है।

सुदामा फिर सोचने लगा--आखिर में खंडहरों के आसपास सान्त्वना देने के लिए वही बचती है--हरियाती, सूखती फिर हरियाती। उसे खयाल आया कि नये शहर के घरों की जल्दी ही दरकने लगती दीवारों से दूब झाँकने लगती है। जैसे लोग उजड़ी हुई सभ्यताओं के अवशेष देखने संग्रहालयों में जाते हैं, शाम ढलते ही अवसाद और थकान से भरे लोग बागीचों में बैठे हुए ऐसे जान पड़ते हैं जैसे दुनिया में बची रह गयी दूब का संग्रहालय देखने आ गये हों। जैसे संग्रहालयों में रखी चीजों को छूना, उसी तरह पार्क में दूब को कुचलना मना है इसीलिए वे पत्थर के गोल रास्ते पर चलते हुए उसका इस तरह चक्कर लगाते हैं जैसे दूब की दीर्घा में घूम रहे हों।

सुदामा को यह भी ख्याल आया कि सड़कों पर बचे रह गये पेड़ खुली दीर्घा में अकेले खड़े हुए-से लगते हैं जिनकी तरफ कोई नहीं देखता। कभी कुछ देर धूप से बचने के लिए उनकी छाया में खड़े होकर चल देते हैं। जिस तरह आइसक्रीम की गुमटियों के नाम और पते याद रह जाते हैं उस तरह वह छाया याद नहीं रहती। वृक्षों की छाया में कुछ चाय और चाट के हाथठेले देर रात तक खड़े रहते हैं। उनके मोटे-मोटे तनों पर ठोक दिए गये किसी विज्ञापन में कोई मॉडल शीतलपेय की बोतल को अपने उरोजों के बीच में रखकर सबकी तरफ देखती रहती है।

सुदामा अपने में खो गया--इस दुनिया में कोई किसी की तरफ नहीं देख रहा,सब अपनी तरफ देख रहे हैं, सिर्फ चीजों के विज्ञापन ही हैं जो सबकी तरफ देख रहे हैं। ढो-ढोकर ले जायी जाती चीजें हाइपर सिटी में भरती चली जाती हैं और चीजों का पीछा करते लोग बाजार के इनार्बिट में अदालत के बैठे रहने तक की सजा काटते-से लगते हैं। देर रात अपने कंधों पर सामान लादे ऐसे गुमसुम घर लौटते हैं जैसे खुद ही अपनी जेब कटवाकर आये हों।

अचानक कबाड़खाने में चल रहे पुराने टीवी पर एक विज्ञापन के शोर ने सुदामा का ध्यान भंग किया। वह टीवी की तरफ देखने लगा-- ठंड से बचने के लिए एक गरम कपड़ों की दूकान पर पति-पत्नी सबसे अच्छा स्वेटर माँग रहे हैं। दूकानदार उन्हें एक स्वेटर दिखाते हुए कह रहा है कि यह खूब गरमाएगा। पति कहता है कि यह तो बहुत पतला है, इससे ठण्ड कहाँ बचेगी। पति की बात सुनते ही दूकानदार कुछ कहे, स्वेटर की दोनों आस्तीनें पति के गालों पर चार चाँटे जड़ते हुए तपाक से कह उठती है कि मुझे कम आँकने की तुम्हारी हिम्मत कैसे हुई। पत्नी बिना देर लगाये दूकानदार से कहती है, इसे ही पैक कर दो। सुदामा सोच में पड़ गया कि कैसा समय आ गया है, ग्राहक को चीजें ही चाँटा मार रही हैं। डाँट रही हैं, फटकार रही हैं, डरा रही हैं। बड़ी देर से इतनी सारी चीजों के विज्ञापन आ रहे हैं कि जीवन की खबरों का पता ही नहीं चल रहा। विज्ञापन में चीजें खरीदते हुए ग्राहकों को देखकर लग रहा है कि वे बाजार में चीजें खरीदने की नौकरी कर रहे हैं।

कबाड़खाने में आयी रद्दी बटोरते हुए सुदामा ने अनुभव किया कि नाते-रिश्तेदारों के आयें चाहे न आयें, हर घर में दूकानदारों के फोन और छपेछपाये पत्र रोज आते हैं। तभी तो लोग रिश्तेदारों के यहाँ भले न जायें,बिलानागा बाजार जरूर जाते हैं। रिश्तेदार भले ही बुरा मान जायें,सबको यही चिन्ता लगी रहती है कि बाजार बुरा मान गया तो क्या होगा। प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं को खत लिखकर भले न पिघला सकें, बाजार पिघला लेता है। प्रेमिकाएँ अपने प्रेमियों के साथ बाजार में ही घूमती-फिरती हैं।

बूढ़े लोग भी अब घरों में शान्त रहकर बुढ़ापा कहाँ काट पाते हैं। बाजार में अपने-अपने बेटे-बहुओं के बच्चे गोद में उठाकर उनके पीछे-पीछे चलते हैं।विज्ञापन में बच्चों को ललचाने वाले बच्चे उनके नाती-पोतों को रिझाते हैं और कुछ फिल्मी बूढ़े उन पर डोरे डालते रहते हैं। जिन्दगी भर पीछा करती रही चीजों से बाजार उन्हें पीछा छुड़ाने नहीं दे रहा है। वे अक्सर शाम को बच्चों को चाकलेट दिलाने के बहाने रोज पड़ौस की दूकान तक तो चले ही जाते हैं। बच्चों से शरबत पीने का बहाना बनाकर अपने दो पैग भी लगा आते हैं। बाजार सबको थका-थकाकर नशा बेचने में माहिर है।

कबाड़खाने के सामने देसी दारू की दूकान एक साध्य की तरह थी और मजदूर उसके साधन थे। इस कलारी के आसपास कई कारखाने थे। थके-हारे मजदूर अपनी पारी खत्म होते ही पहले दारू की दूकान पर बिलमते फिर जेब में एकाध पौआ रखकर अपनी-अपनी बस्तियों की तरफ लौटते। बाजार में दूकानें इस तरह लगायी गयी थीं कि मीलों दूर से कमा-कमाकर लौटते हारे-थके लोग घर पहुँचने से पहले बाजार में ही ठहर जायें। बाजार लोगों के इतने पास आ गया कि घर दूर हो गया। रात की पारी में काम से लौटते हुए पग-पग पर यही चिन्ता लगी रहती कि कहीं दुकान बन्द न हो जाये।

कबाड़खाना बन्द नहीं करना पड़ता। कौड़ियों के भाव बिक गयी चीजों को चुराने की किसे फुर्सत है। टूटी-बिखरी चीजों पर कुछ फटे-पुराने बोरे डालकर उन्हें पत्थरों से दबा दिया जाता और बत्तियाँ बुझा दी जातीं। कबाड़खाने के अहाते में सुदामा के रहने से आसपास के लोगों को यह खटका लगा रहता कि रखवाली हो रही है। खण्डहरों की रखवाली नहीं करना पड़ती सिर्फ डर पैदा करना पड़ता है कि यहाँ भूत रहते हैं।

नया बाजार अपने ग्राहकों के पीछे जासूस छोड़ देता है। जासूस पूरे शहर में पता लगाते फिरते हैं कि कौन-सा ग्राहक किस दूकान पर आने की औकात रखता है। जब ग्राहक दूकान पर आ धमकता है तो उसके पीछे जासूस कैमरे लगाकर उसकी निगरानी करता है। दूकानदार जानता है कि दुनिया में ऐसा कोई नहीं जिसके पास सब कुछ हो। राजा का भी चोरी करने का मन होता है। सुदामा सोचने लगा कि अगर राजा ही चोरी करने लगे तो उसकी रिपोर्ट किस थाने में लिखी जायेगी, राजा को रंगे हाथ कौन पकड़ेगा?

कबाड़खाने में अखबारों की रद्दी रोज बिकने आती। कागज बनाने के कारखानों में जंगल पीसे जा रहे थे और अखबार खूब फल-फूल रहे थे। राजकोष के लूटे जाने की खबरें उनमें रोज छपतीं। कई अखबार छपते-छपते बन्द हो जाते पर लूट बन्द नहीं होती। थक-हारकर कई अखबारों के मालिकों ने अपने अखबार के चेहरे बाजार को बेच दिए। रोज अखबार के मुख पर बाजार छाया रहता जिसकी ओट में राजकाज के काले कारनामे बड़ी चतुराई से छिपा दिए जाते। सदाबहार टेलिविजन चेनल पर विज्ञापनों की भीड़ के बीच रोज दिखाई जाती चलती-फिरती खबरें जब दूसरे दिन अखबारों में छपतीं तो अखबार खबरों के खण्डहर जैसे लगते।तेजी से बदलते जीवन की हकीकत पर रोज इतने परदे डाल दिए जाते कि बीता हुआ कल बहुत पुराने इतिहास की तरह लगने लगता। लोग आने वाले कल की फिक्र में उस बीत गये दिन को भूल जाते जो उनके कल को एक और भारी बोझ से दबा देगा।

लोग अपने जीने-मरने का कला कौशल भूलते हुए तन-मन-धन से निसदिन कचरा पैदा करने में लगे हुए थे। तन से पैदा हुआ कचरा रोज घूरे पर फिंक जाता। ज्यादातर कचरा धन से पैदा होता,उसके लिए घूरे और कबाड़खाने कम पड़ते। जो कचरा मन से पैदा होता वह सबके मन में फेंकना पड़ता। इस कचरे को फिल्में और टेलिविजन चौबीसों घण्टे पैदा करते। मन के घूरों का कचरा और बदबू पूरे जीवन में फैल रही थी--नेता उसे राजसभा में उगलते, पाखण्डी साधु उसे लोगों में फैलाते और फिर सब आपस में मिलकर बदबूदार समाज में रहने को अभिशप्त होते।

ग्राम से निर्वासित गरीब सुदामा और शबरी ने एकान्त पाकर अपने कबाड़खाने में मौन बैठे चित्रगुप्त से जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा--हम अपने जन्म से ही सुनते आये हैं कि दरिद्रता के समान कोई दुख नहीं हैं। क्या उसे दूर करने का कोई उपाय नहीं? हमने देखा है कि आपने लोगों व्दारा कचरे के मूल्य पर त्याग दिए गये बहुमूल्य ज्ञान ग्रंथों को सहेजकर अध्ययन किया है। आप यथासमय उनका मनन भी करते रहते हैं। कबाड़खाने और उसके सम्मुख गुजरने वाले मार्ग का प्रदूषित वातावरण भी आपकी ज्ञानपिपासु वृत्ति को जरा भी कम नहीं होने देता। हमारी विनती है कि आप हमारा मार्गदर्शन करने की कृपा करें।

सुदामा और शबरी की भावना को आदर देते हुए चित्रगुप्त कहने लगा--अपनी जिम्मेदारियाँ अदृश्य सत्ता के भरोसे छोड़ देने से ही दरिद्रता ने अधिकांश मानवजाति को घेर लिया है। पुराने जमानों की तरफ नजर दौड़ाओ तो सहज ही

पता चल जाता है कि अपने-अपने कलाकौशल के व्दारा अपने काम में तल्लीन लोग यह अनुभव कर सकें कि रचना करने की शक्ति पूरे संसार पर छायी हुई है। वह किसी पर शासन नहीं कर रही। बस इस शक्ति से सबके जीवन में पालन-पोषण और रंजन की कला का विकास होता है। यही शक्ति पुराने पड़ गये जीवन को मिटाती और नया जीवन उत्पन्न करती रहती है। सदियों तक इस धरती पर ऐसी ही समझ जीवन को चलाती रही। यह सुनकर शबरी तुरन्त कह उठी--हमारा जीवन तो अभी भी इसी समझ के सहारे अपने गाँव में चल रहा था--और पूँछ बैठी--यह इतनी भली बात बदल क्यों गयी?

शबरी की बात सुनकर चित्रगुप्त बोला--सब लोग एक जैसे नहीं हैं पर यह शक्ति सबके लिए एक जैसी है। जब कुछ लोग इस शक्ति को भूलकर दूसरों पर शासन करने के संकल्प से भर उठते हैं तब जीवन में दरिद्रता का आगमन प्रारम्भ होने लगता है। शासन करने वाले लोग संसार के उन सभी साधनों पर अपना अधिकार जमाने लगते हैं जिनसे संसार व्यापी जीवन सहज ही चलता आ रहा था। आज भी उन्हीं से चल रहा है पर उनका सबके लिए सहज सुलभ रहना दुर्लभ होता जा रहा है क्योंकि शासन करने वालों ने इन साधनों को खरीदने और बेचने की चीज समझ लिया है। वे इनकी रक्षा नहीं कर पाते तो दूसरे देश के शासन करने वालों के यहाँ गिरवी रख देते हैं। इन साधनों के साथ रहते हुए जो लोग अपना जीवनयापन करके इनकी रक्षा करते रहे उनसे यह जिम्मेदारी शासन करने वालों के छल-बल ने छीन ली।जो साधनों से दूर होता है, दरिद्रता उसके पास आती है।

सुदामा ने गहरी साँस भरते हुए कहा--जब राजकाज चलाने वालों ने ही नरक बसाने का व्रत करने की ठान ली है तो हमारी दरिद्रता कैसे दूर होगी? तब चित्रगुप्त बोला--अब तक संसार में जितने भी प्रभु कल्पित किए गये हैं उनके स्वर्ग में उन सारे साधनों की विपुलता दर्शायी गयी है जो पृथ्वी पर निवास करते सर्म्पूण जीवन के अस्तित्व के लिए जरूरी हैं। जरा सोचो तो सुदामा ये कैसे जगत प्रभु हैं जो सबके काम आने वाले साधनों को अपने स्वर्ग में ढो-ढोकर ले जा रहे हैं।

चित्रगुप्त बोला--सबका जीवन संसार को चलाने के एक साधन के रूप में मिला हुआ है। संसार को चलाने वाली शक्ति विपुल साधनों में प्रवेश करके ही संसार को चला पाती है। साधनहीन शक्ति की कल्पना ही बेकार है। ऐसी शक्ति दरिद्रता और बेकारी बढ़ाती है। इसीलिए सबके जीवन को साधनों के अनुरूप चलाने का उपाय करना चाहिए। मैं इन मरी हुई चीजों के कब्रिस्तान में बैठा-बैठा यही सोचता रहता हूँ कि अगर जीवन स्वयं एक साधन के रूप में हमें मिला है तो उसे अपने और आसपास के साधनों के अनुरूप चलाने का कलाकौशल विकसित करते रहना चाहिए, नहीं तो आने वाले समय में यह धरती बहुत बड़े कबाड़खाने में बदल जायेगी। जो साधनहीन बना दिए गये हैं उन्हें अपने स्वराज्य की स्थापना के लिए अपने खोये हुए साधनों की रक्षा करना पड़ेगी। इसके बिना दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। मुफ्त के वरदानों की आशा और किसी तारणहार के आगमन की प्रतीक्षा किसी काम की नहीं। सुदामा, इस कबाड़खाने में यहाँ-वहाँ पड़ी इन अधमरी चीजों की तरफ देखो और सोचो कि आखिर कब तक ये किसी का काम चला पायेंगी। बहुत-सी तो यहीं पड़ी सड़ जायेंगी। हम पर और हमारे साधनों पर शासन करने वाले लोग हू-ब-हू इस कबाड़खाने की तरह हैं, जो कचराघरों और घूरों की ओर जाने वाली राह ही दिखा सकते हैं।

अभी-अभी प्रकाश में आये उपन्यास 'कचरा बाज़ार' से एक अंश।

तसलीमा के अब्बू

मोहनकृष्ण बोहरा

तसलीमा के पिता डॉ. रजब अली अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। अपना घर-परिवार वे अपने नियन्त्रण में रखते थे। उस राज्य के वे एक-छत्र शासक थे। निरंकुश। परिवार के सभी मसलों पर फैसले वे स्वयं लेते थे। उनके विरोध में मुँह खोलने का तो क्या, उनसे सवाल करने का साहस भी किसी को नहीं होता था। घर में उनका कहना पत्थर की लकीर होता था। यह सभी ने मान लिया था कि अब्बू से बढ़कर ज्ञान-बुद्धि किसी के पास नहीं है।

पत्नी और बच्चे उनके आतंक से सहमे हुए रहते थे। पत्नी यदि भोजन भी कर रही होती, वह उनके आवाज़ लगाने पर थाली छोड़कर उठ जाती थीं। बच्चे भी उनके घर में आने का संकेत-मात्र पाकर सतर्क हो जाते थे। वे उनकी पदचाप और जूतों की चर्र-मर्र तक पहचानते थे ! उनके फाटक खोलने के खटके से ही वे उनका आगमन भाँप लेते थे और खेलकूद छोड़कर पढ़ने का नाटक करने लगते थे। लेकिन पिता भी उनके पिता ही थे ! वे 'परीकथा के दैत्य' वाली चालाकी से घर में आते थे। रात को आने का कहकर जाते थे लेकिन आ दोपहर में ही जाते थे। ऐसा छल वे बच्चों की पढ़ाई की वास्तविकता जानने की दृष्टि से करते थे। लेकिन इससे बच्चों के मन में पिता की छवि वत्सल मूर्ति की नहीं होकर, आतंकी व्यक्ति की ही बनी। अपनी कूटभाषा में बच्चों ने पिता का नाम 'यम' रख लिया था। तसलीमा भी अपने बचपन के वर्णन में उनके लिये बाघ, शेर, भड़के हुए साँड, दैत्य, यम आदि उपमाओं का जो प्रयोग करती है उनमें पिता के उग्र स्वभाव का ही नहीं, उन दिनों में पिता के प्रति रहे उसके अपने मनोभावों का भी पता चलता है।

जब पिता घर में नहीं होते थे, बच्चे चैन का अनुभव करते थे और उन्मुक्त भाव से खेलते-कूदते थे; घर मछली-बाजार हो जाता था ; जब वे घर में होते थे, घर में मरघट की शान्ति छा जाती थी। जब वे बीमार हुए और उन्हें अस्पताल में भर्ती कराया गया, बच्चों में उनकी बीमारी को लेकर चिन्ता-फिक्र नहीं थी; सब अपने

किस्से-कहानी, अड्डेबाजी और गाने-बजाने में मग़न और मस्त थे। जब वे अस्पताल से ठीक होकर आये, घर में आधी रात की खामोशी छा गयी !

लेकिन उनकी कठोरता और निरंकुशता के मूल में, था उनका वत्सली भाव ही। तसलीमा के बाल-मन ने भी इस बात को कुछ-कुछ समझ लिया था कि पिटाई में भी वे बच्चों का हित चिन्तन ही कर रहे थे। वस्तुतः वे उनके भविष्य का निर्माण करना चाहते थे। यही उनके जीवन का लक्ष्य था। वे स्वयं एम.बी.बी.एस. डॉक्टर थे और बच्चों को भी सफल डॉक्टर बनाना चाहते थे ; एम.बी.बी.एस. ही नहीं एफ.आर.सी.एस. भी। इसीलिये वे उन्हें कठोर अनुशासन में रखते थे और हर समय अध्ययन के लिये प्रेरित करते रहते थे। 'छात्रानाम अध्ययनम् तपः'- छात्रों के लिये अध्ययन ही तप है, बच्चों के लिये यही उनका 'मोटो', लक्ष्य-मन्त्र था और उनके सामने इसे वे जब-तब दोहराते रहते थे।

वे बच्चों की पढ़ाई के लिये केवल चिन्तित ही नहीं रहते थे, उनकी पढ़ाई पर भरपूर व्यय भी करते थे। जब सभी बच्चे पढ़ने लगे, उन्होंने छोटा आवास छोड़कर, बड़ा मकान खरीदा ताकि सभी बच्चों को पढ़ने-लिखने के लिये अलग-अलग कमरे मिल सकें ; उन्हें अच्छा वातावरण भी मिल सके। पढ़ाई के समय कचर-पचर, शोरगुल उन्हें पसन्द नहीं था। वे बच्चों को मोहल्ले में किसी से मिलने अथवा खेलने भी नहीं देते थे। सभी के लिये उन्होंने ट्यूटर भी लगा रखे थे, अलग-अलग विषयों के लिये अलग-अलग ट्यूटर। बड़े बेटे नोमान के लिये उन्होंने तीन ट्यूटर लगा रखे थे और छोटे कमाल के लिये चार ! लड़कियों को पढ़ाने के लिये ट्यूटर घर आते थे। बच्चों की पढ़ाई के लिये उन्होंने समय भी निर्धारित कर रखा था; लड़के रात को बारह बजे तक पढ़ें ; तसलीमा दस बजे तक और छोटी होने की वजह से यास्मिन आठ बजे तक। पढ़ते समय नींद आने लगे, वे बच्चों को आँखों में सरसों के तेल की बूँदें टपकाने के लिये कहते थे ! सारतः वे चाहते थे कि बच्चे पढ़ाई के लिये कठोर मेहनत करें और अपनी कक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करें। वे यह भी कहते थे कि कष्ट से ही 'केष्टो' मिलते हैं। केष्टो माने कृष्ण। इसीलिये वे कहते थे कि मारे-पीटे बिना बच्चों को पढ़ाई नहीं आती। स्वयं वे बच्चों को पढ़ाते हुए उन्हें बड़ी बेरहमी से पीटते थे। जो ट्यूटर उन्होंने रखे थे, उन्हें भी वे कहते थे कि आप बीच-बीच में दो-चार हाथ बच्चे की पीठ पर जमा दिया करें, बिना पिटाई के बच्चे पढ़ते नहीं हैं।

तसलीमा अँग्रेज़ी विषय में कमज़ोर थी। उसकी अँग्रेज़ी सुधारने के लिये वे उसे व्याकरण पढ़ाते थे। जिस दिन उन्होंने उसे कहा कि आज से मैं तुम्हें अँग्रेज़ी पढ़ाऊँगा, वह बुरी तरह डर गयी। उसके लिये तो यह फैसला ऐसा ही था जैसे बाघ उससे कहे कि आज से मैं तुम्हें खाऊँगा। वे जब उसे पढ़ाते, हाथ में चाबुक लेकर बैठते थे। मार के डर से वह अपना रटा हुआ ज्ञान भी भूल जाती थी। जब वह गलती करती थी, तेज चाबुक पीठ पर पड़ती थी। वह रोती तो वे और ज़्यादा पीटते थे। पिटाई से उसकी पीठ छिल जाती थी। रात में माँ उसकी पीठ सहलाती थी और घावों पर मरहम लगाती थी।

जीवन में आगे चलकर बोध-बुद्धि का विकास होने पर उसका झुकाव पिता की ओर ही अधिक हुआ था लेकिन पढ़ाई वाले दिनों में तो वह उन्हें सरापती ही अधिक थी। वह कामना करती थी कि पिताजी आज ही बेहद बीमार होकर मर

जायें ! परन्तु देखती यह थी कि पिताजी की सेहत ऐसी थी कि उन्हें कभी मामूली बुखार तक नहीं होता था ! परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। उनके क्रोध का कुप्रभाव उनकी सेहत पर भी पड़ता था। उनका रक्तचाप बढ़ जाता था। वे लाई-चने की तरह दवाईयाँ फाँकने लगते थे। उनसे पढ़कर भी जब तसलीमा अंग्रेज़ी में केवल बारह अंक ही प्राप्त कर सकी, उन्हें गहरा सदमा लगा, इतना गहरा कि उन्हें अस्पताल में भर्ती होना पड़ा !

तसलीमा ने अपने शिक्षा-काल में तो पिता के आदर्शों पर आचरण कम ही किया था लेकिन उसके अवचेतन पर इनका प्रभाव गहरा पड़ा। अपने 'लज्जा' उपन्यास में उसने डॉ. सुधामय दत्त नाम का जो पिता-पात्र रचा है, उसे उसने अपने पिता के आदर्श पर ही गढ़ा है। डॉ. सुधामय भी अपने बच्चों को जब-तब यही उपदेश देते रहते हैं - छात्रानाम् अध्ययनम् तपः।

डॉ. रजब अली ने अपनी पत्नी को यह हिदायत दे रखी थी कि वह लड़कियों को याने तसलीमा और यास्मिन को रसोई के काम में कभी नहीं लगाये। ऐसी ही हिदायत डॉ. सुधामय भी अपनी पत्नी को देते हैं। माँ ईदुलआरा को यह चिन्ता सताती रहती थी कि बड़ी हो कर लड़कियों ने यदि रसोई का काम नहीं सीखा, वे ससुराल में जाकर क्या कर पायेंगी ! अपने पति को खाना बनाकर कैसे खिलायेंगी ? लेकिन पिता की ओर से लड़कियों के रसोईघर में जाने पर स्थायी निषेधाज्ञा थी।

लड़कियों में जेवर का आकर्षण स्वभावतः रहता है परन्तु पिता को अपनी लड़कियों का जेवर का आकर्षण भी सख्त नापसन्द था। उन्हें उनका हार, बूँदे ही नहीं, चूड़ियाँ तक पहनना नागवार था। (डॉ. सुधामय दत्त भी लड़कियों के ऐसे शौक पसन्द नहीं करते) एक बार बालिका तसलीमा ने फुटपाथ पर बैठे चूड़ीवाले से शौकवश कुछ चूड़ियाँ पहन ली। घर पहुँचने पर पिता ने जब उसे चूड़ियाँ पहने देखा तो क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने उसके गाल पर एक करारा तमाचा जड़ा और उसकी सारी चूड़ियाँ तोड़ डाली और हिदायत दी कि अगर दुबारा ऐसी चीज़ें पहने देखा तो मार-मार कर हड्डी तोड़ दूँगा। एक बार तसलीमा की माँ ने बेटी को बुँदे पहनाने की इच्छा से उसके कान छिदवा दिये। जब पिता ने छिदे हुए कान देखे तो उसकी माँ को खूब खरी-खोटी सुनायी। उन्होंने तसलीमा को कभी चूड़ी, हार, बालियाँ, बुँदे पहनने की छूट नहीं दी। स्कूल में तसलीमा से एक बड़ी लड़की रूनी उसे खूब प्यार करती थी। उसने उसे स्नेहवश चूड़ियाँ और हार पहना दिया। उसका मन रखने के लिये उसने पहन तो लिया लेकिन घर आकर उन्हें उतार कर रख दिया क्योंकि पिता देखते तो क्रोधित होते। वे लड़कियों के शरीर पर कपड़ों के अलावा आभूषण जैसे बाहरी अलंकरण कतई पसन्द नहीं करते थे। कपड़ों में भी जींस जैसी वेशभूषा भी उन्हें पसन्द नहीं थी। लड़कियों के लिये ज़्यादा कपड़े बनवाना भी वे ठीक नहीं समझते थे। दर्जी जब माप लिखता, तब वे उससे आग्रह करते थे कि यूनिफार्म ज़रा बड़ी माप की बनाये ताकि ज़्यादा दिन चले ; छोटी न पड़ जाये। यही बात वे जूते खरीदते वक़्त भी कहते थे ; जूते ज़रा बड़े हो ताकि ज़्यादा दिन चलें।

बच्चों के खेल-कूद और नाच गाने पर भी उनका प्रतिबन्ध था। उनके लिये 'नाच-गाना-खेल वगैरह बेकार के शोरगुल से ज़्यादा नहीं थे'। इन्हें भी वे पढ़ाई की राह में अवरोधक समझते थे। इसलिये वे बच्चों को सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भाग लेने के लिये कभी प्रोत्साहित नहीं करते थे। बच्चों के सैर-सपाटे, पिकनिक, मनोरंजन आदि मुद्दों

पर व्यय के लिये उनके बजट में कोई प्रावधान नहीं था। एक बार बालिका तसलीमा ने स्कूल की ओर से पिकनिक पर जाने पिता से अनुमति माँगी। पिता ने अनुमति नहीं दी। लेकिन एक सहेली के आग्रह-अनुरोध को वह टाल नहीं सकी और पिकनिक पर चली गयी। रुपये भी उसी सहेली ने दिये। पिता को जब पता चला तो सहेली को लौटाने के लिये रूपये तो उन्होंने पटक दिये लेकिन सैर-सपाटे की ललक के लिये उसे डाँट भी कम नहीं लगायी। उसके बड़े भाई ने जब मोटर-साइकिल खरीदी, वह उसे घुमाने के लिये ले गया। सारा दिन दोनों पहाड़ियों में घूमते रहे। लौटे, तब पिता ने बेटे को 'धींग लड़की' को ऐसी बातों के लिये बढ़ावा देने के लिये डाँटा।

अपने छोटे बेटे कमाल के लिये माँ चिन्तित रहती थी। उसे भय था कि कहीं उसका रुझान मुक्तिवाहिनी की ओर न हो जाय ! (उन दिनों बांग्लादेश अपना स्वाधीनता-संग्राम लड़ रहा था।) उसका ध्यान उस ओर से हटाने के लिये माँ ने उसे गिटार सीखने के लिये प्रेरित किया।

पिताजी ट्यूटरों की फ़ीस देते तो कठिनाई से थे परन्तु उसे वे पत्नी के हाथ पर रख देते थे लेकिन कमाल के गिटार सीखने की फ़ीस के रुपये वे ज़मीन पर फेंक कर देते थे। इस तरह से, बेटे के संगीत के शौक के प्रति वे अपना तिरस्कार व्यंजित कर देते थे। यह अलग बात है कि एक दिन जब कमाल ने गिटार बजाया तो उसे सुनकर वे मुग्ध हो गये ! संगीत व साहित्य का आनन्द तो वे लेते थे परन्तु बच्चों की पढ़ाई में इन्हें व्यवधानकारी समझते थे।

तसलीमा को चित्र बनाने का शौक था। छुटपन में माँ और फ़जली खान उसे टोकती थीं; बाद में पिता की ओर से भी वह हतोत्साहित ही हुई। लेकिन बड़े भाई ने उसे प्रोत्साहित किया। उन्होंने उसके बनाये टैगोर और नज़रूल के चित्र अपने कमरे में सजाये थे। एक दिन उसने भाई के सामने इच्छा प्रकट की कि मैं कला स्कूल में भर्ती होऊँगी। भाई ने कहा कि पिताजी सुनेंगे तो तुझे कलाकार नहीं बनने देंगे। कहेंगे, कलाकार भूखे मरता है। इस पर उसने चित्रकार बनने का विचार त्याग दिया।

भाषा और साहित्य-शिक्षण के बारे में भी उनकी धारणा कुछ ऐसी ही थी। कमाल ने जब बांग्ला ऑनर्स में दाखिला लिया तब प्रतिक्रिया करते हुए उन्होंने कहा कि 'बंगला में पढ़-लिखकर के उनका बेटा इंसान बना है ?बंगला के बिसारद लोग बल-बुद्धि लगाकर हद-से-हद बैलगाड़ी हाँक सकते हैं और कुछ नहीं।

तसलीमा ने अभी जबकि मैट्रिक भी पास नहीं की थी, एक कविता-पत्रिका 'संझा-बाती' का सम्पादन-प्रकाशन किया था। पिता को जब इसकी जानकारी मिली तो वे अत्यन्त कुपित हुए। वे चाहते थे कि वह मेडिकल की प्रवेश-परीक्षा की तैयारी करे। कविता उसे पास नहीं करायेगी। कविता लिखकर जिन्दगी में कोई कुछ कर पाता है? पागल-छागल के अलावा कोई कविता लिखता है भला? तब नसरीन ही अपना वक़्त क्यों बरबाद कर रही है? वे कभी उसके इस शौक के पक्ष में नहीं रहे। साहित्य, संगीत, कला आदि में बच्चे का समय लगाना, उनके लिये उसका जीवन के लक्ष्य से भटकना था। अस्तु।

लेकिन बच्चों पर कठोर अंकुश लगाने का भी कोई सुफल नहीं निकला। यह विडम्बना ही कही जायेगी कि पिता के तमाम प्रयत्नों के बावजूद बच्चों के परीक्षा-परिणाम उन्हें कभी सन्तुष्ट नहीं कर पाये। बड़ा बेटा नोमान मैट्रिक में सेकण्ड डिवीज़न ही पा सका ! उससे भी कम अंक लाने वाले बच्चों के माता-पिता उनके उत्तीर्ण होने की खुशी में

मिठाई बाँट रहे थे और डॉ. रजब अली अपने पुत्र के सेकेण्ड डिवीज़न पास होने पर मातम मना रहे थे ! उधर, बेटा चाहे अपने डिवीजन को हायर सैकिण्ड बता रहा था लेकिन मन-ही-मन में, पिता द्वारा पीट-पीट कर चमड़ी उधेड़ दिये जाने से भयभीत इतना था कि तीन दिनों तक घर पर ही नहीं आया ! चौथे दिन भी पिता ही उसे ढूँढ कर लाये। यह बेटा मेडिकल की प्रवेश-परीक्षा में दो बार बैठकर भी सफल नहीं हो पाया ! आगे भी, बी.एससी. करने के बाद मनोविज्ञान में एम.ए. करने के लिये ढाका विश्वविद्यालय चला गया परन्तु उस पढ़ाई को भी अधूरी छोड़कर घर लौट आया ! जिस बेटे को पिता ने डॉक्टर बनाना चाहा था, अन्ततः वह एक दवा-कम्पनी का मामूली कर्मचारी ही बन सका !

बड़े बेटे से नाउम्मीद होने पर रजब अली ने छोटे बेटे कमाल को डॉक्टर बनाना चाहा। लेकिन दुर्भाग्य ने अभी भी साथ नहीं छोड़ा था। जब उसे मेडीकल की प्रवेश-परीक्षा देनी थी, उसने घर से भाग कर गीता मित्र नाम की लड़की से प्रेम-विवाह कर लिया ! पिता को जब पता चला, वे आग बबूला हो गये। परन्तु वह कई दिनों तक घर ही नहीं आया। अन्ततः वे उसे लेकर घर आये। उन्होंने उसे गीता से सम्बन्ध तोड़ लेने के लिये खूब समझाया। लेकिन वह किसी भी तरह से अपना प्रेम-सम्बन्ध तोड़ लेने के लिये राजी नहीं हुआ। इस पर उन्होंने उसे जंजीर से बाँधकर कमरे में बन्द कर दिया और क्रोध से पालग हो उसे पीटने लगे। चाबुक की मार से पीठ की चमड़ी कटकर माँस बाहर निकल आया और माँस कटकर हड्डी ; मगर चाबुक की मार नहीं रुकी। बेटा लहुलुहान हो गया। पिता भी जिद पर उतर आये। आज मैं इसे मार ही डालूँगा। ऐसे लड़के के जीने की कोई ज़रूरत नहीं। लेकिन बेटा भी तो उसी बाप की औलाद था ! सवाया जिद्दी। उसने भी जिद नहीं छोड़ी। मैं भूखे मर लूँगा लेकिन गीता को नहीं छोड़ूँगा। अन्ततः माँ की ममता ने उनको पीटने से रोका। उन्होंने पीटना तो बन्द किया लेकिन हुक्म दिया कि घर में चूल्हा न जले ! चार दिनों तक बेटे के भूखे रहने के बाद, माँ ने खिड़की की सलाखों से उसे भोजन दिया और तब कौर मुँह में डाला !

यह घटना भलीभाँति दिखाती है कि रजब अली जब क्रोधाविष्ट होते थे, कितने खूँखार हो उठते थे ! बिल्कुल जान लेने पर आमदा ! तसलीमा को भैया की इस पिटाई पर खिन्न विस्मय ही हुआ। 'क्या आज भी कोई जंजीरों से बाँधकर किसी को मारता है?' 'मेरे पिता ही ऐसा कर सकते हैं।' उसे अपने मन में अपराध-बोध ही बना रहा। छिपकर आँसू बहाने के अलावा कोई भी छोटे भैया के लिये कुछ भी नहीं कर पाया ! वह भी कुछ नहीं कर पायी। उसे पता नहीं था कि बारी उसकी भी आने वाली है ! बेटा तो ख़ैर, तब पढ़ रहा था लेकिन वह तो तब सरकारी डॉक्टर, राजपत्रित अधिकारी बन चुकी थी, जब पिता ने उस पर हाथ उठाया था ! उन्होंने उसके पद के लिये भी किंचित भी रियायत नहीं की। एक पत्रिका 'सुगन्धा' ने उसके प्रेम-सम्बन्धों के झूठे-सच्चे किस्से गढ़कर उसके विरुद्ध एक चरित्रहननकारी लेख प्रकाशित किया था और उसकी एक प्रति रजब अली को भिजवा दी थी। उन्होंने जब लेख पढ़ा, वे क्रोध से तिलमिला गये। वे मैमनसिंह से ढाका गये और बेटी को बलात् अपने साथ ले आये। उसने कुछ प्रतिरोध किया तो उन्होंने उसे वहीं इतना पीटा कि उसका सिर फट गया, ओंठ फट गये और बदन खून से लथपथ हो गया। घर लाकर उन्होंने उसे भी जंजीर से जकड़ कर ताला लगा दिया और चाबी अपनी जेब में रख ली। उसका खाना-पीना ही नहीं, किसी का भी उससे बोलना भी उन्होंने बन्द करवा दिया ! नज़र क़ैद में बन्द पड़ी, वह गूँगी होकर तड़प उठी। यास्मिन के प्रेम-प्रकरण पर भी ऐसी ही निर्मम पिटायी उन्होंने उसकी भी की थी। अपनी पत्नी पर

तो उनका हाथ कई बार उठा था।

ये प्रसंग दर्शाते हैं कि जब कभी उनका अभीष्ट अनुशासन भंग होता था या जब कभी कोई उनका विरोध करता, उनकी निरंकुशता पर उन्हें टोकता, वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते थे। उस स्थिति में उनका अपने पर कोई नियन्त्रण नहीं रह जाता था। जब क्रोध में विक्षिप्त हो, वे हाथ उठाते थे, तब इस सोच-विचार के लिये भी कोई अवकाश नहीं रह जाता था कि उनकी मार से पिटनेवाले का हाथ-मुँह, पीठ-छाती, नाक-कान या हाथ-पैर की हड्डी कहीं से टूट तो नहीं जायेगी, माँस कहीं से फट तो नहीं जायेगा ! वे तब तक पीटते ही जाते थे, जब तक खुद ही थक नहीं जाते थे !

ये प्रसंग पिता के चरित्र के एक पहलू-विशेष के, उनके क्रोधी-स्वभाव के निदर्शक हैं। लेकिन इनके आधार पर उनके प्रति ऐसी कोई धारणा बना लेना उचित नहीं होगा कि वे अपनी सन्तान के शत्रु थे। वास्तव में तो वे अपनी सन्तान के सबसे बड़े हित-चिन्तक थे। वे अपने बच्चों को उच्च पद पर आसीन देखना चाहते थे। यह उनके जीवन की सबसे बड़ी साध थी। उच्च पद मिलना बिना अच्छे अंक लाये, सम्भव नहीं था और बिना कठोर परिश्रम के अच्छे अंक नहीं आ सकते थे इसलिए एक ओर उन्होंने उनके लिये सारी सुविधाएँ जुटायी थीं तो दूसरी ओर उन पर कठोर पाबन्दियाँ भी लगायी थीं। ऐसी स्थिति में जब वे बच्चों को लक्ष्यभ्रष्ट होते देखते थे तो उनके प्रति कठोर हो जाते थे। परन्तु हम समझ सकते हैं कि उनकी कठोरता के मूल में भी प्रयत्न उनका उनके जीवन को सँवारने का ही रहता था। यह भावना वात्सल्य की ही होती थी। कमाल को पीट कर भी जब वे उसे प्रेम-पथ से नहीं डिगा सके, तब अपनी कठोरता पर उन्हें पश्चाताप भी कम नहीं हुआ था -

> कमाल को लेकर मैंने कितने सपने देखे थे। वह कितना ज़हीन लड़का था। मैट्रिक में उसे स्टार मिला था। उस पर मुझे बेहद गर्व था। अब मेरा सारा गर्व, सारे सपने ख़त्म हो गये। मैं अपने बेटे को पीटना नहीं चाहता था। उसे पीटते हुए मुझे कम तकलीफ नहीं हुई थी। भूखा रखते हुए भी। उसका इरादा बदलने की पूरी कोशिश की थी, तब भी नहीं माना ...

इस नादानी से उसका भविष्य बिगड़ जायेगा, यह बात वह समझ नहीं पा रहा है, इसका उन्हें बड़ा खेद रहा। फिर, जिसकी ख्याति बैल और गधे को भी इंसान बना देने की थी, वही व्यक्ति यदि अपनी सन्तान को ही सन्मार्ग पर नहीं ला सके, लक्ष्यभ्रष्ट होने से नहीं बचा सके, तो उसको खेद अपनी विफलता पर भी होगा ही। इस प्रसंग में तसलीमा ने पहली बार पिता को किसी के आगे हारते देखा था लेकिन समय साक्षी है कि पिता ग़लत नहीं थे। जिसे उन्होंने डॉक्टर बनाना चाहा, लड़की के चक्कर में पड़कर वही व्यक्ति पथ भटक गया और हवाई जहाज का एक बहुत ही मामूली कर्मचारी बनकर रह गया !

पिता जब क्रोधित होते थे, वे साक्षात् दैत्य हो जाते थे, प्राण लेने पर उतारू। लेकिन अन्यथा वे सन्तान की हित चिन्ता में रत रहते थे। बड़ा लड़का जब ढाका से निष्फल लौटा, उनकी प्रतिक्रिया थी कि इससे तो यह मर जाता तो बेहतर था ! लौटकर जब उसने अपना कमरा सजाया और कमाल का पलंग बाहर कर दिया, तो वह उन्हें नागवार गुज़रा। वे छोटे का बिस्तर नित्यप्रति बिछाये रखते थे, इस आशा में कि न जाने वह कब लौट आये !

जिन दिनों तसलीमा मैट्रिक की परीक्षा दे रही थी, पिताजी उसके लिये बेहद चिन्तित रहते थे। वे ठीक से सो भी नहीं पाते थे मानो परीक्षा उन्हीं की हो ! वे अन्धविश्वासी नहीं थे लेकिन परीक्षा में तसलीमा की स्मृति दुरुस्त रहे, इसके लिये वे किसी पीर से एक ताबीज़ लाये थे और उसे उसकी चोटी में गुँथवा दिया था ! उसकी मेडिकल की परीक्षा के दिनों में उन्होंने डॉ. हासन सर को घर पर दावत दी थी (ताकि वे परीक्षा में तसलीमा का ध्यान रखें)। ये बातें उन जैसे विज्ञान मनस्क और सिद्धान्तवादी व्यक्ति के अनुरूप नहीं थीं लेकिन सन्तति-प्रेम के वशीभूत हो, वे अपने नियम ताक पर रख देते थे।

बेटों का कैरियर अपने सपनों के अनुरूप बनाने में नाकाम रहने के बाद अपनी आशाएँ उन्होंने बेटियों पर केन्द्रित कर दी। उन्होंने उनसे कहा कि 'तुम दोनों मेरी आखिरी उम्मीद हो। तुम्हारे ही भविष्य की बात सोच कर अब मुझे जीना होगा। वादा करो, तुम मुझे जीने दोगी।.... तुम दोनों को लायक बनाकर मर सकूँ तो मुझे सुकून मिलेगा। (नहीं तो) मेरे लिये आत्महत्या के अलावा और कोई चारा नहीं रहेगा।' दोनों लड़कियों में अपने विश्वास की नींव रखते हुए उनकी आँखों में आँसू आ गये। वे उनके कन्धों पर सिर रखकर रोये और इतना रोये कि उनके कन्धे भीग गये। लड़कियों ने पहली बार पिता को रोते हुए देखा था और उन्होंने यह भी देखा कि क्रोध की चट्टान के नीचे बहने वाली यह जलधारा वात्सल्य की थी। पुत्रों के आगे पिता हार गये थे अन्यथा वे हारने वाले जीव नहीं थे, संघर्षशील व्यक्ति थे। बोध-बुद्धि का विकास होने पर तसलीमा ने पिता का ही अनुकरण किया। वे ही उसके रोल मॉडल बन गये। उसने लिखा भी है कि -

> मेरा तो ज़िन्दगीभर अब्बू जैसी बनने का ही सपना था। अब्बू जैसी आदर्शवान बनना, पर्वत की तरह ऊँची दिखना, कभी, किसी हाल, किसी स्थिति में भी, न टूटना, न चिटखना, परवाह न करना, दृढ़ और मज़बूत बने रहना। अब्बू की तरह ही वस्तुवादी, विज्ञानमनस्क, कुसंस्कार विरुद्ध, कोई धर्म न मानना, कर्मठ और निष्ठ बने रहना। इन खूबियों से लगाव न होने का कोई कारण भी नहीं था। हजारहा विषयों में अब्बू से मेरा मत-विरोध होने के बावजूद, मैं अब्बू होने की चाह से विरत नहीं हो पायी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पंक्तियों में तसलीमा ने अब्बू के व्यक्तित्व की लगभग सभी प्रमुख चारित्रिक विशेषताओं की अच्छी पहचान की है। स्वयं उसने उनके इन सभी गुणों को आत्मसात भी किया है। अन्यत्र, उसने उनकी संघर्षशीलता पर विशेष बल दिया है।

रजब अली का जीवन बचपन से ही संघर्षपूर्ण था। उनका जन्म मदारिन नगर नाम के एक पिछड़े गाँव में किसान जनबा अली के घर में हुआ था। दादा जफर अली एक स्कूल में अध्यापक थे। पिता चाहते थे कि बेटा खेती-बाड़ी के कामों में उनकी सहायता करे लेकिन दादा की मंशा उसे पढ़ाने की थी। रजब अली स्वयं पढ़ने को आतुर था। अतः पिता ने पढ़ने की अनुमति दे दी। रजब अली पढ़ने के लिये घर से नंगे पैर चलकर दूर पाठशाला जाने लगा। घर लौटकर दिन में खेती के कामों में पिता का हाथ बँटाता था और रात में ढिबरी जलाकर पढ़ता था। ढिबरी के तेल

और धुएँ की कालिख से मिलाकर स्याही बनाकर उससे लिखता था। मैट्रिक में अच्छे अंक प्राप्त करने की वजह से शिक्षकों ने घरवालों को परामर्श दिया कि वे उसे आगे पढ़ाई के लिये शहर भेज दें। घरवालों ने उनकी बात मान ली। किशोर रजब अली एक गठरी में कपड़े बाँधकर मैमनसिंह शहर चला गया। एक परिचित मुख्तार के यहाँ उसे रहने का ठिकाना मिल गया। अच्छे अंकों के कारण लिटन मेडिकल स्कूल में उसे प्रवेश मिल गया। लेकिन पढ़ाई के लिये उसके पास क़िताबें नहीं थी ! खरीदने के लिये पैसा भी नहीं था। एक मित्र को उसने इस बात के लिये राजी कर लिया था कि जब वह सोने लगेगा, तब वह उसकी एनाटॉमी-फिजियोलॉजी आदि की क़िताबें ले आयेगा और प्रातःकाल में पुस्तकें उसे लौटा दिया करेगा। इन पुस्तकों को वह रातभर जागकर पढ़ता था। इस तरह से उसने उधारी-पुस्तकों से पढ़ाई की और अच्छे अंक प्राप्त किये।

ऐसे संघर्षपूर्ण जीवन से गुज़रा हुआ व्यक्ति चाहता था कि उसकी सन्तान को वे कष्ट न झेलने पड़े जो उसने झेले थे। इसी सबब से उसकी इच्छा थी कि बच्चे अपनी ऊर्जा पढ़ाई में ही लगायें ; खेलकूद, नाच-गाना आदि कार्यों में नष्ट न करें। ये अन्यान्य व्यापार पढ़ाई में व्यवधानकारी होने की वजह से उन्हें व्यर्थ लगते थे। परन्तु तमाम सुख-सुविधाएँ जुटा देने के बाद भी यदि बच्चे ढँग से न पढ़ें बल्कि निर्दिष्ट-पथ से भी भटक जायें तो पिता को घोर निराशा हो, यह स्वाभाविक ही है। खैर !

मेडिकल में पढ़ते हुए रजब अली को कालान्तर में मुंशी मनीरुद्दीन ने आश्रय दिया था। वह उन्हीं के घर में रहने लगा था। उनकी लड़की ईदुलआरा को पढ़ाने के लिये एक शिक्षक घर आता था। रजब अली पढ़ती हुई लड़की को ताका करता था। तसलीमा ने लिखा है कि एक दिन रजब अली ने मुंशीजी से ईदुलआरा से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। मुंशीजी ने यह देखकर कि लड़का होनहार है, कल डॉक्टर बन जायेगा, उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस तरह, रजब अली का विवाह ईदुलआरा से हो गया। शादी के बाद रजब अली को ससुराल में ही रहने के लिये कमरा मिल गया। तसलीमा ने लिखा है कि 'सास-ससुर और ढेर सारे साले-सालियों की खातिरदारी पाने के एवज में कैसी भी बीबी हो, चल सकती थी।' आशय इसका यह कि ईदुलआरा देखने में सुन्दर लड़की नहीं थी परन्तु ससुराल की खातिरदारी से प्रलोभित हो रजब अली ने उसे स्वीकार कर लिया। लेकिन पति-पत्नी का दाम्पत्य-जीवन जिस तरह से बीता, उसे दृष्टिगत रखें तो तसलीमा का मन्तव्य स्वीकार करना कठिन जान पड़ता है। सच तो यही जान पड़ता है कि 'लम्ब-तड़ंग और काले घुँघराले वालों' वाले 'अभिनेता उत्तमकुमार' की तरह सुन्दर रजब अली को काले रंग, चपटी नाक, छोटी आँखें और रूखी चमड़ी वाली ईदुलआरा आकर्षित नहीं कर सकी। यद्यपि सन्तानें उन्हें हुई थी लेकिन दाम्पत्य जीवन उनका सुखद नहीं रहा बल्कि कलहपूर्ण ही रहा। पत्नी के प्रति पति के मन में कभी आकर्षण-अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ। उसने पत्नी को अपने हृदय की गहरायी से कभी प्रेम नहीं किया। न कभी उसे पत्नी का दर्जा दिया न सम्मान ही। वैसे तो जो व्यक्ति अपनी सन्तान के प्रति कठोर था और जब-तब क्रूर भी हो उठता था, वह यदि अपनी पत्नी के प्रति भी कठोर हो तो उस कठोरता को उसके चरित्र की संगति में ही देखा जायेगा। लेकिन लक्ष्य करने की बात यह भी है कि सन्तान के प्रति उसके कठोर आचरण की तह में मक्खन-सा कोमल हृदय भी था, लेकिन पत्नी के लिये पति के आचरण की कठोर चट्टान के नीचे बहने वाली प्रेम की धारा सूखी हुई थी या फिर वह किसी दूसरी दिशा में मुड़ गयी थी।

वस्तुतः मुंशीजी से आश्रय पाकर रजब अली उनका कृतज्ञ हो गया था, इतना अधिक कृतज्ञ कि जब उन्होंने अपनी लड़की उसे ब्याहनी चाही, वह उन्हें ना नहीं कर सका। विवाह तो हो गया और सन्तानें भी हुईं परन्तु पत्नी के प्रति प्रेम का आत्मिक-प्रेम का अंकुर उस हृदय में कभी फूटा ही नहीं। यदि स्वयं रजब अली ने ईदुलआरा से विवाह का प्रस्ताव किया होता, तो कोई कारण नहीं था कि वह आजीवन उसके प्रति उदासीन रहता या उसकी उपेक्षा करता। एक जगह तो ईदुलआरा पति पर खुला आक्षेप यह भी लगाती है कि इन्होंने 'मुझसे रूपये की खातिर शादी की थी।'

पिता के इस पक्ष के विषय में तसलीमा का यह पर्यवेक्षण ज़्यादा तीक्ष्ण और सटीक जान पड़ता है जो उसने माँ को सम्बोधत करते हुए व्यक्त किया है -

> असल में, अब्बू मुझे किसी भी दिन तुम्हारे पति जैसे नहीं लगे। वह इंसान अब्बू के रूप में ही शोभा देता था। वह बेटा, पोता, पर-पोता, भतीजा, पिता, काका, जेठ, मामा हर रूप में शोभा देता था। सिर्फ़ पति के रूप में ही वह फिट नहीं बैठता था। ख़ासकर तुम्हारे पति के रूप में।

अवश्य ही, पत्नी की बीमारी के दिनों में उसके प्रति पति का रवैया कुछ बदला था लेकिन वह भी अल्पजीवी ही रहा। समग्रतः पत्नी के प्रति उनका रुख उपेक्षापूर्ण ही अधिक रहा।

पत्नी से असंतुष्ट रहने वाला व्यक्ति पर-स्त्री की ओर मुँह करे तो क्या आश्चर्य ! तसलीमा की आत्मकथा में रजब अली के चारित्रिक-शैथिल्य के कई निदर्शन है। रजिया बेगम नाम की एक विवाहित स्त्री से तो उनके अवैध सम्बन्ध भी थे। ये सम्बन्ध जग ज़ाहिर भी हुए। एक बार तो शहर में यह अफवाह भी फैल गयी कि रजब अली ने रजिया बेगम से निकाह कर लिया है! पति के रजिया से ये सम्बन्ध ही पत्नी के कलेजे में आग लगाते थे।

यह रजिया बेगम चाकलादार की बीबी थी। वह अपनी पत्नी के इन अवैध सम्बन्धों से अनभिज्ञ नहीं था लेकिन हैरानी की बात यह थी कि उसने कभी रजब अली को घर में आने से नहीं रोका। बाद में, जब रजिया का चाकलादार से तलाक हो गया, उसने रजब अली पर दबाव डाला कि वे उससे बाकायदा निकाह कर लें। पिता के पर-स्त्री से शादी करने का जो उल्लेख तसलीमा ने किया है, वह स्त्री रजिया ही होनी चाहिये। ईदुलआरा को तो इसमें भी कोई शक था नहीं कि रजिया से उत्पन्न पुत्र उनका ही था ! तसलीमा ने एक और औरत से उनके सम्बन्ध का उल्लेख किया है। न्यूयार्क से ढाका लौटकर पिता ने एक स्त्री को फ़ोन पर आश्वस्त किया था कि तीन महीने की ही बात है, पत्नी का जीवन इतना ही है, इसके बाद वे झमेला-मुक्त हो जायेंगे। यह फ़ोन पत्नी ने सुन लिया था और सुनकर वे रो पड़ी थीं। इसी तरह, उनके दो-एक और सम्बन्धों का पता भी बड़े भाई ने लगाया था। पिता के मरने से पहले भाईजान उनसे वसीयत करवा लेना चाहते थे। उनकी सम्पत्ति पर किसी और के सम्भावित दावों को ख़त्म करने के लिये उन्होंने पिता से खोद-खोदकर पूछा था कि उन्होंने किन-किन से नाता जोड़ रखा है। पिता ने जिनके नाम बताये, भाईजान ने उनको पिता का हस्ताक्षरित तलाकनामा भिजवा दिया। इस तरह, पिता की सम्पत्ति में उनकी दावेदारी उन्होंने ख़त्म कर दी। इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि पिता की प्रगाढ़ता चाहे रजिया से ही रही हो, उनका खुदरा-धन्धा भी खूब फैला हुआ था।

असल में, वे आशिक-मिजाज और स्त्री-लोलुप पुरुष थे। गोरी चमड़ी की सुन्दर औरत को देखते ही फिसल जाते थे। सालियों के साथ तो उनका व्यवहार कामुक-सा ही होता था। वे उन्हें अपने पास खींचकर बिस्तर पर बैठा लेते थे। फिर, उनके साथ अश्लील हँसी-मजाक करना, उनके पेट में गुदगुदी करना, उनके स्तन दबा देना आदि उनका सामान्य आचरण था। वे कभी आयशा से आँखे लड़ा बैठे थे, तो कभी फरीदा अख्तर के इश्क में भी पड़े थे। यास्मिन की एक सहेली की कुकलश खाला के साथ भी उनका लन्द-फन्द चलता था। वे यास्मिन को संगीत-शिक्षा के लिये रूकैया के यहाँ भी ले जाते थे, लेकिन ईदुल जानती थी कि वहाँ पर भी असली नीयत उनकी, उसकी बहन आयशा के साथ रंग-रस की होती थी।

छुटपुट प्रसंग और भी थे लेकिन ईदुल में सौतिया डाह ज़्यादातर रजिया को लेकर ही कुलबुलाता था। पति के घर आने पर वे कभी मुँह बनातीं, कभी बिगड़ती और कभी बड़बड़ाने लगती थीं। पति प्रायः पत्नी की बड़बड़ाहट और गालियों की अनदेखी किया करता था। लेकिन वह जब ज़हर उगलने में अति कर देती थी, पति का हाथ उठ जाता था। एक बार आवेश में आकर उन्होंने उसे बुरी तरह से पीटा। पहले उसे बालों से खींचकर ज़मीन पर गिरा दिया और फिर बाघ की तरह झपट कर उसके शरीर को रौंद डाला। अपने बाटा जूते पहने पाँवों से उन्होंने उस पर प्रहार किये। उसका पेशाब निकल गया और सारे कपड़े उसमें सन गये। वह बुरी तरह चिल्लाती रही लेकिन कोई भी उनकी सहायता के लिये नहीं दौड़ा। बच्चे असहाय खड़े वीभत्स दृश्य देखते रहे लेकिन किसी में भी पिता को रोकने का साहस न था। दूसरे दिन रजब अली के साले हाशिम को जब इस काण्ड की खबर लगी, उसने जीजा को रास्ते में ही रोककर खूब धुनायी की। उसे अधमरा करके 'बालू के बोरे' की तरह लादकर वह उसे घर में फेंक गया। साथ में, वह धमकी भी दे गया कि मेरी बहन पर अब दुबारा हाथ उठाओगे तो तुम्हारी लाश कुत्तों को खिला दूँगा।' हाशिम ने रजब को मारा इतनी बुरी तरह से था कि 'लोहे की तरह मजबूत' वह आदमी सात दिनों तक बिस्तर से नहीं उठ सका ! लेकिन यही इस नाटक का पटाक्षेप नहीं था।

एक अन्य अवसर पर जब गुस्सा करके पति का जवाब पत्नी भी गुस्से में देने लगी, पति ने आपा खो दिया। उसने चाबुक से मार-मारकर उसे लहूलुहान कर दिया। 'गर्दन तराशी हुई मुर्गी की तरह' वह चीत्कार करते-करते मारे दर्द के आँगन में उछाल मारती रही। वह रोती और गिड़गिड़ाती रही और प्राणों की भीख माँगती रही। उसके अंग-अंग से खून झरता रहा। लाचार लड़कियाँ पथरायी आँखों से वीभत्स दृश्य देखती रहीं लेकिन किसी में भी इतनी हिम्मत नहीं थी कि आगे बढ़कर पिता के हाथों से चाबुक छीन लेती ! पिता के घर से निकल जाने के बाद छोटा भाई कमाल घर में आया। उसने जब अम्मी की करुण कातर दशा देखी, उसे क्रोध हो आया। वह पिता के क्लिनिक गया और वहाँ उनकी मेज पर पड़ा उनका नामांकित काठ का टुकड़ा उठाकर उसने उनके सिर पर दे मारा। वह गया उनका खून करने के इरादे से था लेकिन देवयोग से वे बचे गये। उनके सिर पर चोट लगकर ही रह गयी।

ऐसा जान पड़ता है कि पत्नी के साथ कैसा भी व्यवहार करना पति रजब अली को अपना अधिकार जान पड़ता था। उन्हें यह गँवारा नहीं था कि कोई उनके निजी जीवन में हस्तक्षेप करे और, अपनी पत्नी जैसी सर्वथा नाचीज़ और अवांछित-सी जीव की ऐसी (कु)चेष्टा तो उनके लेखे सर्वथा अनधिकृत थी और इसीलिये उनके बर्दाश्त के बाहर भी।

परन्तु कई बार पिट कर भी पत्नी चुप नहीं रह जाती थी। इससे वे क्षुब्ध रहते थे और उसे तरह-तरह से प्रताड़ित करते रहते थे। अति-सामान्य-सी भौतिक वस्तुओं जैसे साबुन, तेल, कन्घी आदि के लिये भी वे उसे तरसाते थे और दैहिक सुख के लिये भी। वह उनके सामने शर्म-लज्जा छोड़कर अपनी देह उन्मुक्त कर देती थी लेकिन वे करवट बदलकर सो जाते थे ! उन्होंने उसे कभी भी पत्नी होने का मान-सम्मान और अधिकार नहीं दिया। वास्तविकता तो यह है कि वे उसका अपमान ही करते रहते थे। उसका सामाजिक अपमान करने में भी वे कभी संकोच नहीं करते थे। बड़े बेटे नोमान की शादी के समय बहू हसीना के गृह-प्रवेश की रस्म जो सास होने के नाते ईदुलआरा को अदा करनी थी, वह भी उन्होंने एक ओर धकेलकर, एक अन्य औरत से करवाई ! एक पति द्वारा पत्नी के सामाजिक अपमान की यह पराकाष्ठा थी ! कालान्तर में, बहुओं में सास के अपमान का जो हौसला बढ़ा, वह ऐसी घटनाओं की वजह से ही बढ़ा। लेकिन क्योंकि वे स्वयं पत्नी की इ़ज्जत करते नहीं थे, इसलिये बहुओं के हाथों उसकी बेइ़ज़्ज़ती भी उन्हें अखरती नहीं थी।

अपने पूरे दाम्पत्य-जीवनकाल में रजब अली पत्नी के प्रति कुछ संवेदनशील दिखायी पड़ते भी हैं तो न्यूयार्क रहते हुए ही। उसे कैंसर पीड़ित पाकर ही उन्हें उसकी बीमारी की गम्भीरता का अहसास हुआ जान पड़ता है अन्यथा, रक्तस्त्राव से पीड़ित तो वे कोई बीस वर्षों तक रहीं ! वे समझती रहीं कि स्त्राव वबासीर से होता है और पति से उपचार के लिये बार-बार कहती भी रहीं लेकिन पति ने, स्वयं डॉक्टर होते हुए भी, न तो कभी पत्नी के रोग की कोई जाँच करवाई, न ही कभी उसे कोई दवाई ही दी ! स्वयं तसलीमा ने भी डॉक्टर बन जाने के बाद भी, माँ की बीमारी कभी समझनी नहीं चाही। वे अपनी कमज़ोरी दूर करने के लिये दूध, केला और अण्डा खाना चाहती रहीं लेकिन पति या बच्चों ने भी उनके पौष्टिक भोजन के लिये उतना-सा खर्च भी कभी नहीं उठाया ! उनके साथ कभी दो मीठे बोल भी नहीं बोले। अवश्य ही, न्यूयार्क में जब वे मरणासन्न थीं तब ज़रूर पति में कुछ सहानुभूति का संचार हुआ था। वे उन्हें साथ बैठाकर खाना खिलाते थे, हाथ पकड़कर बाथरूम ले जाते थे, ज़रूरत पड़ने पर रात में जागते भी थे, उसका बदन भी सहलाते थे लेकिन यह प्यार भी वहाँ तक ही रहा। ढाका लौटने पर तो हम उन्हें अपनी प्रेमिका के लिये अधीर होते और फ़ोन पर उसे आश्वस्त करते ही अधिक देखते हैं ! यही फ़ोन खुद पत्नी ने भी सुन लिया था और यह जानकर वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी कि उसके जीवन के तीन माह ही शेष बचे हैं और पति है कि उसकी मृत्यु के दिन गिन रहा है ! मैमनसिंह पहुँचने पर तो पति की दिनचर्या में पत्नी के लिये कोई समय बचा ही नहीं ! उन्होंने पुनः अपने क्लिनिक जाना शुरु कर दिया था। घर में हम उन्हें पत्नी की मृत्यु के लिये दिन गिनते और उसकी क़ब्र, कफ़न और कुदाल आदि के लिये बड़े बेटे के साथ योजना बनाते ही देखते हैं जबकि अभी पत्नी की साँसें चल रही थीं ! तसलीमा ने बड़ी तड़प के साथ लिखा है कि जिसने पत्नी के साथ इतने वर्ष गुज़ार दिये लेकिन कभी भी उसे प्यार नहीं किया, कभी उसका इलाज नहीं किया, वहीं व्यक्ति अधीरता से उसे दफ़नाने की योजना बना रहा था ! उसने बड़े ही तल्ख स्वर में पूछा है कि इंसान का वर्षों का रिश्ता क्या इतना खोखला होता है ?और, जब उसकी मृत्यु हो भी गयी, तब भी उनकी आँखों में आँसू नहीं थे !

स्पष्ट है, पति के रूप में पत्नी के प्रति भावुक होते या अपने दायित्त्व का विचार करते रजब अली कहीं भी दिखायी नहीं पड़ते। सम्भव है, इस्लाम में पुरुष को चार शादियाँ करने की जो छूट मिली हुई है, उस वजह से रजब अली को

अपने विवाहेत्तर प्रेम-सम्बन्धों में कुछ भी ग़लत न लगता रहा हो परन्तु तब भी पत्नी के प्रति उनकी आजीवन क्रूर उदासीनता का कोई औचित्य दिखायी नहीं पड़ता।

यहाँ यह देखना भी प्रासंगिक होगा कि जिस पति ने पत्नी की बीमारी पर कौड़ी भी व्यय नहीं की, उसी ने उसके मरने के बाद रीति-रस्मों के निर्वाह पर डोंडी पिटवाने, शामियाना लगवाने और बड़े पैमाने पर भोज और अन्य रस्मों पर खूब खर्च किया ! क्या इसलिये कि उपचार में व्यय करना तो उसके साथ अपने बँधन को कुछ और दृढ़ करना और उसे और झेलना होता जो उनके लिये अनचाहा था जबकि मृत्योपरान्त बड़े भोज आदि का आयोजन तो उससे मुक्ति का उत्सव था !

बहरहाल, पति के रूप में न सही, पिता के रूप में अपने दायित्त्व के प्रति वे खूब सजग थे। अपने प्रेम-सम्बन्ध उन्होंने घर में बच्चों के सामने कभी प्रकट नहीं होने दिये। जिनसे भी प्रेम या विवाह उन्होंने किया, उन्हें कभी घर में नहीं लाये और न उन सम्बन्धों की चर्चा कभी बच्चों के सामने की। अपनी जगह उनका सोच ठीक ही था लेकिन यह लगभग आँखें मूँद लेने भर से अँधेरा हुआ मान लेने जैसा था। उनकी सारी सावधानी के बावजूद एक प्रसंग तो घर में ही उजागर हो गया था। एक रात वे घर की नौकरानी के साथ रसोईघर में ही संसर्गरत थे कि पत्नी की आँखें खुल गयी। वह रसोईघर की ओर गयी, तब भेद खुला।

पिता ने चाहे कितना भी न-चाहा हो, तब भी उनके चारित्रिक स्खलन का प्रभाव बच्चों पर आये बिना नहीं रहा। कमाल ने गीता मित्र से प्रेम-विवाह करके ही पिता से हड्डी-पसली तुड़वाई थी। उसके गीता से विवाह से पहले भी दो-एक औरतों से प्रेम-सम्बन्ध थे और वे विवाह के बाद भी पलते रहे ! फिर, गीता को त्यागकर जब उसने जूही से विवाह किया, तब भी एक-दो इतर सम्बन्ध भी उसने बनाये रखे थे ! यास्मिन ने भी अपने प्रेम-सम्बन्धों के कारण पिता से मार खायी थी और घर से भागकर ही प्रेम-विवाह किया था। यही कुछ स्वयं तसलीमा ने भी किया और बार-बार किया। अवश्य ही, बड़े भाईजान नोमान को अपवाद कहा जा सकता है। उनका विवाह प्रबन्धित था, प्रेम-विवाह नहीं ; लेकिन प्रेम का स्वाद तो उन्होंने भी चखा ही था। शीला के साथ उनके प्रेम-सम्बन्ध विवाह के पहले भी थे और बाद में भी बने रहे ! बच्चों में यह प्रवृत्ति उनके अपने सोच-विचार से भी उत्पन्न हुई हो सकती है और परिवेश का प्रभाव भी आया हो सकता है लेकिन यह कुप्रभाव पिता के चाल-चलन से भी आया हो तो उससे इनकार कैसे किया जायेगा ? इतना ही नहीं, स्वयं ईदुलआरा के अपने देवर अमानुल्लाह के साथ सम्बन्धों की जो पदचाप हमें आत्मकथा में यत्र-तत्र सुनायी पड़ती है, क्या उसके लिये रजब अली ही दोषी नहीं कहे जायेंगे ?

रजब अली की एक दुर्बलता यह थी कि वे शक्की स्वभाव के व्यक्ति थे। वे कंजूस भी थे। घर-खर्च वे खुद चलाते थे। पत्नी पर उन्होंने कभी विश्वास नहीं किया। बाजार से राशन वे स्वयं लाते थे इसलिये उन्हें पता रहता था कि घर में चावल-दाल, तेल-मसाले, शक्कर आदि की खपत कितनी होती है। नहाने-धोने का साबुन-तेल आदि कितना चाहिये। वे सभी चीज़ें नपी-तुली लाते थे। जब कभी उनके निर्धारित हिसाब से पहले ही सामान खत्म हो जाता था, वे झल्ला उठते थे और सत्रह तरह के सवाल करने लगते थे। तब वे बावर्चीखाने की आलमारी को ताला लगा देते थे और गिन-गूँथ कर सामान देते थे। कई बार प्रतिक्रिया में वे घर के राशन में कटौती कर देते थे, तब सभी लोगों को

छोटी-छोटी चीज़ों के लिये भी उनका मुँह ताकना पड़ता था। वे घर भर को तेल और नमक तक के लिये तरसा देते थे ! घर-खर्च में कटौती करने के लिये कभी-कभी वे सड़ी हुई मछली ले आते थे कि पत्नी उसे साफ़ करके बना लेगी !

असल में, उनके मन में यह शक घर कर गया था कि उनकी पत्नी राशन में से कुछ सामान निकालकर चोरी-चुपके पीहर भेज देती है। इस सन्देह में सत्य कितना था, कहना कठिन है, लेकिन ऐसे प्रसंग आत्मकथा में हैं कि वह घर से छिपाकर कुछ सामान धार्मिक-केन्द्र पीरबड़ी ले जाती थी, तो कभी कमाल को दे आती थी ! प्रेम-विवाह के बाद जब कमाल को घर से निकाल दिया गया था, तब माँ चुपचाप कुछ राशन बेटे को पहुँचा आया करती थी ; इसलिये रजब अली का शक सर्वथा निर्मूल तो नहीं था। इसी वजह से वे नपी-तुली चीज़ें लाते थे और उनके जल्दी खत्म होने पर चिढ़ते थे और शक हो जाने पर उन्हें ताले में भी रखते थे। अकाल के दिनों में तो चावल के ड्रम पर वे सदा ताला रखते थे!

जब उनका शक बढ़ गया, उन्होंने घर की व्यवस्था पत्नी से छीनकर बहू गीता को सौंप दी। यह अलग बात है कि तब चीज़ें और भी जल्द खत्म होने लगीं ! नौकरानी से उन्हें भनक लग गयी कि बहू अपने पीहर के नौकर के हाथ कुछ सामान बाहर भेजती है। (नौकरों से वे प्रायः इस तरह की जासूसी करवाया करते थे)। इसके बाद घर की व्यवस्था पुनः पत्नी को सौंपी गयी। बाद में, यह व्यवस्था उन्होंने बहू हसीना को सौंप दी। इसका विचार उन्होंने कभी नहीं किया कि उनके इस तरह के व्यवहार से उनकी पत्नी को अपने ही घर में बहुओं के आगे कितना अपमानित होना पड़ता है ! हसीना के आगे तो उन्होंने अपनी पत्नी को कई तरह से अपमानित किया था।

स्वभाव से वे कंजूस थे। हिसाब भी वे पाई-पाई तक का रखते थे ! लड़कियाँ पढ़ने के लिये स्कूल-कॉलेज रिक्शे में जाती थीं। पिता घर से निकलें, उससे पहले दोनों बहनों को रिक्शा किराये के पैसे उनसे माँगने पड़ते थे। वे गिन-गूँथकर पैसे देते थे ; बच्चों को भी और पत्नी को भी और उसका हिसाब भी ध्यान में रखते थे। तसलीमा का रुद्र से प्रेम-प्रकरण उजागर होने के बाद पिता सख़्त नाराज़ हो गये थे। तसलीमा नाराज पिता का सामना करने से कतराने लगी थी। उसने पिता से रिक्शा किराया माँगना भी बन्द कर दिया था। इससे पिता का दम्भ कहीं तिलमिला उठा। उन्होंने पत्नी से पूछा, 'वो छंडी कॉलेज जाती है, रिक्शा किराया कौन देता है? तुम देती हो?' पत्नी ने मना करते हुए कहा, 'हम भला कहाँ से देवों? हमरे हाथ में तुम कउनों रूपया-पैसा देत हो?' 'तो पैसे उसे कहाँ से मिलते हैं?' वे ताड़ गये, उसी मरदूद से मिलते हैं याने रुद्र से। पत्नी चाहती थी कि पति बिना माँगे बच्चियों को रिक्शा किराया दें। उनका कहना था, 'वह मेरे घर से दफ़ा हो जाये.....जिस मरदूद से रूपये ले रही है, उसी के पास चली जाय।' इस पर पत्नी ने तमक कर जो उत्तर दिया, वह पति के कृपण स्वभाव पर अच्छा व्यंग्य है -

> 'ऊ चली जाय तो आपको खुस्सी होगी ?अब तो नोमान, कमाल को भी रूपइया-पइसा नाहीं देवे पड़त। हमका तो कुछ देते ही नहीं। रह गई दू बिटिया, अब ऊ आपसे सहन नाहीं होतीं। अपनी धन-दौलत अकेले तुम ही भोगे चाहत हो, तो भोगो। बेटियाँ तो आज नाहीं तो काल, ई घर छोड़कर चली ही जावेंगी। अभी से भगाने पर काहे तुले हैं ?'

इस तरह के प्रसंग और भी हैं। वे यही दिखाते हैं कि अपना धन वे दाँतों से पकड़े रहते थे। खर्च के लिये उनका हाथ खुला नहीं था। अवश्य ही, बच्चों की पढ़ाई के लिये उन्होंने कई ट्यूटर लगा रखे थे, लेकिन गृह-शिक्षकों को उनका वेतन देने के मामले में भी वे ऐसी ही कंजूसी बरतते थे। उन लोगों का भुगतान तीन-चार महीनों तक बकाया रखते थे और उन्हें तरसाते रहते थे। कभी-कभी तो स्थिति इतनी शर्मनाक हो जाती थी कि उन्हें अपना वेतन लेने के लिये उनके क्लिनिक पर धरना देना पड़ता था !

घर में भी स्थिति यह होती थी कि कई बार प्याज नहीं, तो कई बार तेल और नमक नहीं होता था ! बहुधा नहाने का साबुन भी खत्म हो जाता था ! अम्मी को तो कपड़े धोने के साबुन से ही सिर धो लेना पड़ता था ! वैसे भी, अम्मी के लिये कपड़े, साबुन-तेल-कंघी आदि की ओर से भी वे उदासीन ही रहते थे ! इस तरह, लगता है, खींचतान करके, जहाँ भी और जैसे भी, बचत हो सकती हो, वे कर लिया करते थे।

लेकिन तस्लीमा की तीक्ष्ण दृष्टि ने उनके इस स्वभाव का दूसरा पहलू भी देखा है। वह कहती है कि यदि वे अपना पैसा व्यर्थ खर्च नहीं करते थे, तो दूसरों के धन पर भी उनकी नीयत नहीं रहती थी। तसलीमा ने उनके प्रति अपना प्रेम दर्शाते हुए यह चाहा था कि वह उनके लिये एक कार खरीद दे। उसके कहने से वे कार खरीदेंगे नहीं, यह वह जानती थी, इसलिये उसने भाईजान से कहा कि वे अब्बू के लिये कार खरीद दें। इसी निमित्त से उसने उनको लगभग चार लाख रुपये भेज भी दिये। कार खरीद भी ली गयी। परन्तु पिताजी ने वह कार कभी अपने काम में नहीं ली। अन्ततः वह कार भाईजान और उनके परिवार के लिये ही काम आयी। क्या पिता के मन में तसलीमा के प्रति कोई गाँठ थी ? सम्भव है, तसलीमा के विवाह प्रसंग को लेकर कोई गाँठ उनके मन में ऐसी बँध गयी हो कि अन्यथा जीवन-व्यवहार में उसके प्रति सामान्य हो जाने के बाद भी उनकी वह गाँठ कभी खुल नहीं पायी। इसीलिए जब तक बन पड़ा उसका पैसा उन्होंने कभी अपने हाथ में नहीं लिया। उस स्थिति में हम कह सकते हैं कि कार की अवहेलना तसलीमा के प्रति बँधी गाँठ की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति थी। लेकिन यहाँ प्रति-तर्क हो सकता है कि अपने उपचार में तो उन्होंने तसलीमा के धन को स्वीकार किया ही था ! हम उन्हें उसका विरोध करते कहीं नहीं देखते। यह तसलीमा का पैसा ही था जो स्वीडन और बांग्लादेश दोनों जगह पिता के उपचार में काम आया था (और माँ के भी)। अतः इस विषय में तसलीमा का विश्लेषण ही संगत जान पड़ता है कि पिता मूलतः गाँव-देहात के, ज़मीन से जुड़े हुए आदमी थे और इस बात को उन्होंने कभी भुलाया भी नहीं था, इसलिये वे विलासिता की वस्तुओं से दूर ही रहे।

माँ की बीमारी के दिनों में जब तसलीमा ने पिताजी के कमरे में माँ का पलंग बिछाया था, तब उसने कमरे के साथ-साथ पिताजी की अलमारी की भी सफाई की थी। वह यह देखकर दंग रह गयी कि भाईजान, छोटे भाई, यास्मिन और स्वयं उसने समय-समय पर जो उपहार उन्हें दिये थे, जैसे परफ्यूम, लोशन, शेविंग किट्स, यूडी कोलन, यूडी टॉयलेट आदि सब उनकी अलमारी में रखे हुए थे, ज्यों के त्यों, बिना इस्तेमाल किये हुए। उन्होंने उनको खोलकर भी नहीं देखा ! कई शर्ट और जूते भी बिल्कुल नये ही रखे हुए थे !

वस्तुतः उनका जीवन सादगीपूर्ण ही था। विलासी वस्तुओं और भौतिक उपादानों के लिये उनमें कोई आकर्षण नहीं था। जीवनभर उन्होंने शर्ट-पैंट और कोट ही पहना था। कपड़े और जूते जब तक फट नहीं जाते थे, वे दूसरा नहीं

खरीदते थे। मामूली कटने-फटने या उधड़ने पर वे उनकी सिलाई करवा कर पहन लेते थे। टूथब्रश भी जब रेशा-रेशा हो जाता था, तब नया काम में लेते थे। तसलीमा नया खरीद भी लाती थी, तब भी वे उसे सहेज कर रख देते थे। रेजर भी बाबा आदम के ज़माने का काम में लेते थे। कई बार उससे गाल कट जाता था पर वे उसे फेंकते नहीं थे। तसलीमा का कहना है, और सही है, कि वे ऐसा किसी आर्थिक अभाव की वजह से नहीं, स्वभाव की वजह से करते थे।

धन-दौलत की कोई कमी उन्हें नहीं थी। परिजनों में तो यह कानाफूसी भी थी कि वे घूस भी खाते हैं ! यद्यपि तसलीमा के लिये यह जानकारी अविश्वसनीय थी। एक दिन उसके शराफ मामा ने अपनी बहन (तसलीमा की अम्मी) को फटी साड़ी पहने देखा तो टोक दिया, 'ऐसी फकीरनी क्यों बनी रहती हो, बड़ी आपा? इधर, दूल्हा भाई तो हैवी रूपइय्ये कमा रहे हैं.... पोस्टमार्टम करते हैं न !' तसलीमा ने प्रतिवाद किया तो उसने खोलकर समझाया कि पोस्टमार्टम ऐसा काम है जिसमें डॉक्टर से अपने पक्ष में रिपोर्ट लिखवाने के लिये दोनों पार्टियाँ उसे पैसा देती हैं, जो मामले में (झूठे) फँसे होते हैं वे भी, और जिन्होंने मामला किया होता है, वे भी। कत्ल और आत्महत्या में कभी-कभी मामूली-सा अन्तर होता है। अतः फैसला जाँचकर्ता की रिपोर्ट पर निर्भर करता है। उसने यह भी कहा कि दूल्हा भाई ने पूरा-का-पूरा नंदाइल खरीद लिया है। आशय यह कि बिना धन के ज़मीन-जायदाद कैसे खरीदी जा सकती है !

आदर्शवादी और सिद्धान्तवादी पिता ऐसा भी कर सकते हैं, यह उसकी कल्पना में भी नहीं था। उसे विश्वास नहीं हुआ, 'जो शख्स दिनभर सैकड़ों मनीषियों की वाणियाँ दोहराता रहता है और विद्यार्थियों को इंसान बनाने के लिये ऐसा कोई काम नहीं जो वह नहीं करता हो, वह वादी-फरियादी दोनों पक्षों से रूपये हज़म कर अदालत जाता है ! उसके मन में पिता के लिये एक बार हिकारत हो आयी।

ज़मीन-जायदाद का लोभ अवश्य ही उन्हें था। जब वे जर्मनी में थे, होटल से ही फोन पर बांग्लादेश से जमीं-जायदाद की बातें करते रहे थे जिसका पाँच हजार मार्क का बिल तसलीमा ने चुकाया था ! तसलीमा ने यह भी लिखा है कि पत्नी की उपेक्षा, औरतबाजी और जमीन का लालच, इन अवगुणों के अलावा कोई ऐब उनमें नहीं था। लेकिन क्या एक लोकप्रिय डॉक्टर अपनी प्रेक्टिस से इतना नहीं कमा लेता है कि जमीं-जायदाद खरीद सके ?घूसखोरी की कमाई तो अनचाहे ही सही, विलासिता में धकेल देती है। आत्मकथा में ऐसे कई अन्य पुख्ता प्रसंग नहीं हैं जो रजब अली का विलासी वैभव दिखाकर उनकी घूसखोरी की पुष्टि करते हों !

तसलीमा ने पिता की एक और बिल्कुल अलग ही दुर्बलता की चर्चा की है। वह लिखती है कि-

> अब्बू को तो मैं जन्म से ही पहचानती हूँ। मैं जितनी उनकी ताकत जानती हूँ, उतनी ही उनकी कमज़ोरियाँ भी जानती हूँ। अब्बू चिरकाल ही सबके सामने शक्तिमान ही बने रहे ; अन्दर कहीं कमज़ोर भी रहे तो उसे कभी किसी दिन ज़ाहिर नहीं किया उन्होंने ! लेकिन जो प्यार करता है, उसे पता चल जाता है। पता चल जाता है न माँ ! शक्तिमान के पास भी एक दिल होता है और वह कभी टूटता भी है।

अपनी वह टूटन उन्होंने यथाशक्य प्रकट नहीं होने दी। कमाल के प्रेम-विवाह के प्रसंग में वे सचमुच बहुत टूटे थे। बेटियों के प्रसंग में भी वे टूटे ही थे लेकिन उस टूटन को उन्होंने मन-ही-मन में दबा लिया था। परन्तु जिसे उन्होंने दबाया, उसने भीतर-ही-भीतर उनको तोड़ा।

तसलीमा ने यह भी लिखा है कि 'अब्बू कितने स्वाभिमानी थे, वह मैं पहले न भी समझ पाई होऊँ, मगर अब समझती हूँ। क्या इससे भी कहीं उनका स्वाभिमान ही आहत होता था कि वे बेटी की दी हुई कार इस्तेमाल करें ? जो चीज़ें वे खुद खरीदने की सामर्थ्य रखते हैं, वह बेटी की दी हुई इस्तेमाल करें ! उस बेटी की, जिसे उन्होंने दिया कुछ भी नहीं ! उस बेटी से कुछ भी किस मुँह से लें ! एक बाप का अहं इस स्थिति से बचना चाहता रहा हो तो क्या आश्चर्य?हाँ ! बीमारी पर उसने खर्च किया, पर वह अलग बात है। उस मामले में उनके स्वाभिमान और आत्म-विश्वास ने अपने को अलग तरह से प्रकट किया था। वे अपना इलाज स्वयं करते थे और उस पर उनका विश्वास अलग तरह से अटल था। तसलीमा लिखती है -

> अब्बू अपनी बीमारी के बारे में किसी से सलाह नहीं लेते थे। वे अपना इलाज खुद करते थे। मानती हूँ कि वे इलाज जानते थे मगर कभी तो उन्हें बड़े और भिज्ञ डॉक्टर के पास जाना चाहिये था। ..... वैसे अब्बू का ज्ञान और तजुर्बा इतना अधिक था कि विलायतयाफ्ता एफ.आर.सी.एस. पास किये हुए डॉक्टरों के हाथों रोगी जब मृतप्रायः हो उठता था तो अब्बू की शरण में आकर दुबारा जी उठता था। (परन्तु फिर भी) मैं अब्बू से बार-बार कहती थी कि वे किसी बड़े डॉक्टर को दिखायें, मगर वे कभी राजी नहीं हुए। कलकत्ते में डॉक्टर ने जो दवायें दी थीं, वे सब कब कितनी लेनी हैं, मैंने एक बड़े-से कागज पर लिख दिया था, ताकि अब्बू दवा लेना भूल न जायें, ज़रूरत हो तो उसे कमरे की दीवार पर टाँग रखें। देश लौटकर अब्बू ने वह कागज फेंक-फाँक दिया और डॉक्टर की दी हुई दवाएँ भी नहीं लीं। बस, वे अपनी मनमर्जी की दवाएँ लेते रहे।

यही स्वभाव तसलीमा का है। दवाइयाँ वह भी अपनी मनमर्जी की ही लेना चाहती है। बहरहाल, अब्बू की जहाँ तक बात है, उन्हें रक्तचाप था और मधुमेह की शिकायत भी। एक बार उन्हें मायोकार्डियल इन्फार्कशन भी हो चुका था। लेकिन अपनी सभी रोगों को उन्होंने अपनी दवाइयों से नियन्त्रित कर रखा था। यह तो माँ के नहीं रहने से और भाईजान और हसीना की लापरवाही से उनका खान-पान बिगड़ा और उससे मधुमेह बढ़ गया और तबीयत ज़्यादा ख़राब हुई अन्यथा उन्हें कोई व्यसन नहीं था; उन्होंने न कभी सिगरेट पी, न शराब।

उनकी अपनी ही दुनिया थी, वह उनकी अपनी ही बनाई हुई थी और वे उसमें मस्त थे। उनकी इस दुनिया के विषय में तसलीमा ने लिखा है कि -

> वह दुनिया, हम सबकी दुनिया से बिल्कुल अलग थी। वहाँ मरीज थे,

> मरीजाएँ थी ! वहाँ रोग-शोक, चिकित्सा, बन्धु-बान्धव, अड्डा, गपशप, चनाचूर, मूँगफली वगैरह थी। अर्से से अब्बू की यह रची-गढ़ी दुनिया थी। कोई भी कोशिश-तदबीर उन्हें उस दुनिया से अलग नहीं कर सकी। अर्से पहले, अब्बू ने अपनी इच्छा जाहिर करते हुए कहा था - वे चाहते हैं कि उनकी मौत, उनके चैम्बर में, उनकी कुर्सी पर, मरीजों के लिये नुस्खा लिखते-लिखते, अचानक आये।

यह तो जब उनकी किडनी खराब हुई और भाईजान ने उनके चैम्बर जाने पर रोक लगा दी थी और उन्हें घर में कैद करके एक तरह से उनसे उनकी दुनिया छीन ली थी, तब वे लाचार हो गये। उनकी इस दुनिया के छिन जाने ने ही उनको, जितने वे थे, उससे कहीं ज़्यादा बीमार कर दिया और अन्ततः उनका सर्वनाश भी कर दिया।

अब्बू बड़े सख़्त मिज़ाज़ के व्यक्ति थे। उनकी पसन्द और नापसन्दी भी बड़ी कठोर थी। जिस व्यक्ति को नापसन्द करते थे, उसे कभी बर्दाश्त नहीं कर पाते थे। उसके प्रति अशिष्ट व्यवहार करने में भी उन्हें कोई झिझक नहीं होती थी। एक बार तसलीमा को गिटार सीखने की धुन सवार हुई, सिखाने के लिये उसने शहर के विख्यात गिटार-शिक्षक शहादत हुसैन खान हीलू को राजी कर लिया था। वह सिखाने के लिये घर आने लगा। लेकिन उसके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू यह था कि वह शहर का नामी गुण्डा था। एक दिन पिता ने उसको घर में देख लिया। देखते ही वे गरज उठे। उन्होंने तसलीमा को गाली देते हुए उसे घर से बाहर निकाल दिया। इस घटना ने एक बार तो तसलीमा के मन में पिता के प्रति क्रोध और नफरत भर दी। इसी तरह, उन्होंने जब रुद्र को घर में देखा, तब भी वे क्रोध से तिलमिला गये और तमक कर 'गैट आउट' कहकर उसे घर से बाहर निकाल दिया था। रुद्र इस अपमान को जीवन-भर नहीं भुला पाया।

रुद्र का वह अपमान तसलीमा को भी बहुत अखरा था। उसी के प्रतिकार में वह भी अवकाश से निकल गयी थी। इसी तरह, अपनी वसीयत में पिता ने बेटियों के साथ जो अन्याय किया, वह भी उसे गले नहीं उतरा। वह वसीयत स्वयं उन्होंने लिखी या भाइयों ने लिखकर उनसे दस्तख्त करवा लिये, यह ज्ञान नहीं है, लेकिन बेटियों का हिस्सा नगण्य है। तसलीमा कहती है कि अपनी जिन्दगी के आखिरी समय में वे दोनों बेटियों के साथ चरम क्रूरता कर गये। उन्होंने दोनों बेटियों का 'असम्भव-अपमान' किया। परन्तु इस सबके उपरान्त भी देखने की बात यह है कि वह अब्बू को नहीं भुला पाती है। 'फिर भी अब्बू के लिये मुझे दुख होता है। इसके बावजूद अब्बू का न-होना मुझे रुलाता है।' अपने निर्माण का एकान्तिक श्रेय वह उन्हें ही देती है। भौतिक सम्पदा उनसे चाहे न भी मिली, जो आत्मिक-सम्पदा उसने उनसे पायी, वह उसे अनमोल जान पड़ती है। उसी के बूते वह रूपये-पैसे के महत्व को और तथाकथित दुनियावी वैभव को नकारती और प्रलोभनों को ठुकराती आयी है। पिता के नहीं रहने से वह अपने को सर्वथा अकेली और बेसहारा पाती है। अपने निर्माण का श्रेय वह अब्बू को ही देती है।

डॉ. रजब अली के व्यक्तित्व का एक धन-पक्ष यह था कि अपने विचारों में वे प्रगतिशील थे ; शिक्षा और धर्म दोनों क्षेत्रों में। लड़कियों को शिक्षित करने और धर्म की पोंगापंथी नकारने के मामले में उनकी प्रगतिशीलता विशेष रूप से दिखायी पड़ती है। शिक्षा के लिये व्यय करने के मुद्दे पर उन्होंने लड़के-लड़की में कोई भेदभाव नहीं किया। दोनों की

पढ़ाई पर समान रूप से व्यय किया बल्कि लड़की पर ही अधिक व्यय किया। लड़कों के डॉक्टर नहीं बन पाने पर उन्हें गहरी निराशा हुई थी लेकिन यह निर्द्वन्द्व भाव से कहा जा सकता है कि दोनों लड़के और लड़की यास्मीन, जितनी भी पढ़ी, उसमें पिता के प्रयत्नों की ही महती भूमिका रही। यदि वे उदासीन हो जाते तो बच्चे उतना भी नहीं पढ़ पाते, जितना पढ़े। तसलीमा अवश्य ही, पढ़ने में होशियार थी लेकिन यदि वे लगातार उसे कोंचते नहीं रहते, वह भी कभी डॉक्टर नहीं बन पाती। सच तो यह है कि पिता के इरादों में मजबूती नहीं होती तो वह भी भाषा, साहित्य या कला के किसी क्षेत्र में चली गयी होती, डॉक्टर नहीं बन पाती। यदि हम उस ज़माने के सन्दर्भ में विचार करें जिसमें मनीरुद्दीन की पीढ़ी स्त्री-शिक्षा की विरोधी थी (डॉ. रजब अली ने पत्नी ईदुलआरा द्वारा आगे पढ़ने की इच्छा व्यक्त करने पर उसे भी स्कूल में भर्ती करा दिया था लेकिन पिता मनीरुद्दीन ने उसकी स्कूल छुड़वा दी थी) तो हम रजब अली की अपनी लड़की को डॉक्टर बनाने की जिद को प्रगतिशीलता की दिशा में एक लम्बी छलांग के रूप में देख सकते हैं। उन्होंने जिस तरह से तसलीमा को रसोई और घर के गोरखधन्धे से अलग रखा और उसे प्रसाधनों और आभूषणों से भी विरत रखा, वह भी उनकी प्रगतिशीलता ही दर्शाता है।

बड़ी हो रही और कॉलेज में पढ़ रही लड़कियों के लिये बड़े घरानों से रिश्ते आने लगे थे लेकिन लड़कियाँ जब तक अपनी पढ़ाई पूरी नहीं कर लें, तब तक उनकी सगाई-शादी की बात नहीं की जायेगी, इस विषय में भी वे दृढ़निश्चयी थे।

परन्तु उनकी प्रगतिशीलता की सीमाएँ भी स्पष्ट दिखायी देती हैं। लड़कियों की शिक्षा के पक्षधर होते हुए भी वे लड़कियों की आजादी के पक्ष में बिल्कुल नहीं थे। वे लड़के-लड़कियों का खुला मेलजोल पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए लड़कियों को शिक्षा उन्होंने लड़कियों की स्कूलों में ही दिलवायी, सह-शिक्षा वाले स्कूलों में नहीं। कमाल के प्रेम-विवाह कर लेने के बाद वे डर-से गये थे कि कहीं लड़कियाँ भी उस पथ पर न चल पड़ें ! इस आशंका से मुक्त होने के लिये उन्होंने लड़कियों को छात्रावास में भर्ती करा दिया था। लेकिन जब उनकी पत्नी उन्हें छात्रावास से वापिस घर ले आयी, तब उन्होंने सुरक्षा की दृष्टि से घर की दीवारें ऊँची उठवा दी ताकि कोई बाहरी व्यक्ति घर में ताक-झाँक न कर सके। उन्होंने लड़कियों का छत पर जाना भी निषिद्ध कर रखा था। छत पर दीवारें ऊँची उठवा दी गयी थीं।

तसलीमा की लड़कों के साथ पत्र-मैत्री भी उन्हें गवारा नहीं थी। एक बार किसी लड़के के नाम तसलीमा का अधलिखा पत्र उनके हाथ पड़ गया था, इस पर उन्होंने उसे बुरी तरह से डाँटा और पीटा भी था। उसकी पत्र-मैत्री भी उन्होंने तत्काल बन्द करवा दी थी। एक बार एक लड़के का तसलीमा के नाम लिखा पत्र का कुछ हिस्सा उनके हाथ लग गया था। एक बार रुद्र का (तसलीमा के नाम) पत्र भी उनके हाथ पड़ गया था और उन्होंने तसलीमा के घर से बाहर निकलने पर कठोर पाबन्दी लगा दी थी।

पिता ने अपने एक मित्र की कृतज्ञता से उऋण होने के लिये उसके पुत्र रतन को अपने घर में आश्रय दिया था। रतन घर में रहते हुए तसलीमा से प्रेम करने लगा था। एक दिन तसलीमा के नाम लिखा हुआ रतन का प्रेम-पत्र उनके हाथ लगा। उसी समय उन्होंने रतन को घर से निकाल दिया और अपने मित्र को लिख दिया कि वे कभी दुबारा उसे उनके घर नहीं भेजें। कमाल और बेबी के इस तरह के बढ़ते सम्बन्ध लक्ष्य कर ईदुलआरा ने भी ऐसा ही कदम उठाया था।

उन्होंने भी बेबी को घर से निकाल दिया था।

स्पष्ट है कि लड़कियों की शिक्षा के पक्षधर होते हुए भी पिताजी लड़कियों की आजादी के पक्ष में बिल्कुल नहीं थे। समाज-व्यवस्था में परिवर्तन के पक्ष में भी वे शायद ही थे। एक प्रसंग उनकी भांजी से जुड़ा हुआ है ; वह यहाँ स्मरणीय है। अपनी बहन के कहने पर उन्होंने उनके दामाद याने अपनी भांजी के पति के लिये नौकरी की व्यवस्था कर दी थी लेकिन यही भांजी जब मामा के पास शिकायत लेकर आयी कि उसका पति उसे मारता-पीटता है, तब उन्होंने उसे सलाह यह नहीं दी कि वह उसके विरुद्ध पुलिस में शिकायत दर्ज़ करवाये बल्कि यह (सलाह) दी कि -

> कोई बात नहीं, मारपीट करता है तो करे। पति अगर अपनी तनख्वाह के पैसों से उसे दाल-भात खिलाता है तो जुबान बन्द रखकर ऐसे पति की गिरस्ती चलानी चाहिये।

कदाचित अपनी पत्नी से भी उनकी अपेक्षा यही थी। उनकी सामाजिक-दृष्टि उनके सोच की आत्मनिष्ठता से ऊपर नहीं उठ सकी थी ! हद तो यह है कि जब इसी भांजी के पति ने दूसरा विवाह कर लिया, तब भी उसे उनकी सलाह यही थी कि -

> जा सौतन की गिरस्ती में काम-काज करके अपना पेट पाल।

हम स्मरण कर सकते हैं कि अपनी 'मातृत्व' कहानी में तसलीमा ने अंशतः इसी थीम को विन्यस्त किया है। ऐसा जान पड़ता है कि स्त्री-शिक्षा और स्त्री के आर्थिक-स्वाबलम्बन के पक्ष में वे चाहे कितना ही क्यों न रहे हों, प्रचलित सामाजिक-व्यवस्था में परिवर्तन की कोई बात वे नहीं सोचते थे।

यह विस्मयकारी ही लगता है कि लड़कियों की पढ़ाई पर इतना बल देने वाले और उनकी नौकरी पर भी कोई ऐतराज नहीं करने वाले व्यक्ति की वैचारिकता में उनके अधिकारों के लिये कोई चिन्ता नहीं थी। यह इसी का प्रति-फलन है कि अपनी वसीयत में उन्होंने बेटियों को अपनी सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं दिया ! तसलीमा को इस पर रोष तो बहुत है, पर उसे विश्वास नहीं होता कि यह अन्याय पिता ने किया। इसे वह भाइयों की दुरभिसन्धि मानती है। लेकिन यास्मीन अब्बू की वसीयत को उनकी प्रकृति की अनुरूपता में ही पाती है। तसलीमा ने लिखा है -

यास्मिन को पक्का विश्वास है कि अब्बू ने यह वसीयत अपनी मर्जी से, ठण्डे दिमाग से तैयार की थी। यास्मिन को इसका भी पक्का विश्वास है कि अब्बू पुरुषवादी मानसिकता के इंसान थे। उनके लिये उनके बेटे ही उनके खानदान में शामिल थे, बेटियाँ नहीं।

जहाँ तक धर्म का प्रश्न है, रजब अली की धर्म में कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने कुरान कभी नहीं पढ़ी। वे किसी भी दिन मस्जिद नहीं गये, न उन्होंने मदरसे में ही कदम रखा ; ऐसा कुछ बनवाना तो दूर की बात थी। उनके मित्रों ने तो मस्जिद-मदरसे बनवाये थे लेकिन उन्होंने तो ऐसे कामों के लिये चन्दा भी शायद ही कभी दिया हो ! परन्तु वे घोषित नास्तिक या अधार्मिक भी नहीं थे। वे साल में दो बार नमाज पढ़ने के लिये खड़े होते थे, वह भी ईद के मैदान में। लेकिन किसी सूरा की कोई जानकारी उन्हें नहीं थी। नमाज पढ़ना भी वे नहीं जानते थे। जब सब लोग सिर

झुकाते-उठाते थे, वे भी उनके अनुकरण में वैसा ही कर लेते थे; यही उनकी नमाज होती थी। अवश्य ही रोजा वे रखते थे और ईद धूमधाम से मनाते थे। इस अवसर पर वे नये कपड़े सिलवाते थे ; अपने लिये ही नहीं, घर के सभी सदस्यों के लिये भी।

धर्म का आडम्बर उन्हें सख्त नापसन्द था। अमीरुल्लाह (जो उनका साढू था) मैमनसिंह में पीरबाड़ी में धर्म का जाल बिछाकर इस्लाम में आस्था रखने वालों को फँसा लिया करता था। रजब अली उसे 'धन्धेबाज' आदमी कहते थे। उनकी अपनी पत्नी का पीरबाड़ी के फेर में पड़ना, उन्हें कतई नहीं रुचता था लेकिन जितना अधिक वह पति और बहुओं से अपमानित होती थीं, उतना ही अधिक वह पीरबाड़ी की ओर झुकती थी। वह तसलीमा को भी धर्मपथ पर ले जाना चाहती थी लेकिन एक तो वहाँ की जुगुप्साकारी गतिविधियाँ देखकर उसके मन में धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही हुई ; दूसरे, पिता ने भी उसे उस पथ पर बढ़ने से दृढ़तापूर्वक रोक दिया।

धार्मिक आडम्बरों की आलोचना वे निडर होकर करते थे लेकिन अपनी सामाजिक-अप्रतिष्ठा से वे डरते थे। इस अप्रतिष्ठा से बचने के लिये ही वे ईद की नमाज में शामिल होते थे। इसी सबब से उन्होंने कुर्ता-पजामा सिलवा रखा था। कमाल के प्रेम-विवाह कर लेने पर उन्होंने उसकी जो पिटाई की थी, उसका भी एक बड़ा कारण यह था कि उन्हें डर था कि बेटे के इस कदम से उनकी सामाजिक बदनामी होगी। 'सुगन्धा' में तसलीमा की चरित्रहीनता पर लेख पढ़कर उसे जो पीटा, वह भी इसलिये कि बेटी की वजह से बाप की बदनामी होगी। ईदुलआरा ने तो आगे बढ़कर यहाँ तक कहा है कि अप्रतिष्ठा से बचने के लिये ही वे घर-गृहस्थी से बँधे हुए थे -

घर-परिवार में किसी के प्रति उनके मन में कोई चिन्ता नहीं है, लोग बदनाम न करें इसलिये दिखाने के लिये उन्होंने गृहस्थी का जुआ सम्भाल रखा है अन्यथा रजिया बेगम के अलावा वे किसी के नहीं हैं।

तलाकशुदा तसलीमा जब घर आकर बैठ गयी थी, तब भी वे तसलीमा के भावी जीवन के लिये जितने चिन्तित थे, उससे भी ज़्यादा त्रस्त वे उसकी वजह से समाज में होने वाली अपनी निन्दा से थे इसीलिये वे उस पर तत्काल दूसरा विवाह करने का दबाव डालते रहते थे।

रजब अली ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा की जितनी चिन्ता की, उतनी चिन्ता अपने परिवार की नहीं की इसलिये बच्चों में उनके प्रति विरोध की भावना पल्लवित होने लगी थी यद्यपि उनके विरोध में जाकर बच्चों ने जो कदम उठाये, वे स्वयं उनके लिये भी हितकारी नहीं रहे, तब भी यह कहना निरापद है कि बड़े हो रहे बच्चों के प्रति उन्हें अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता थी लेकिन उन्होंने उनके प्रति वही निरंकुश व्यवहार रखा जो बचपन में रखा था। यदि वे बड़े हो रहे बच्चों के साथ सम्वाद कायम कर सके होते और पत्नी के प्रति भी उनका व्यवहार शिष्ट और संयत रहता तो पारिवारिक वातावरण और जीवन कुछ भिन्न होता है ! अस्तु।

लेकिन यह देखकर सचमुच हैरानी होती है कि जिस बड़े बेटे नोमान पर उनका सबसे ज़्यादा भरोसा था, जिसके लिये उनका हाथ सदैव खुला रहता था, जिसे अपनी जमीं-जायदाद के सारे भेद उन्होंने बताये, उस बेटे ने भी न तो पिता की हार-बीमारी की कभी चिन्ता की, न उनके खान-पान का ही कभी कोई ख़्याल रखा बल्कि पिता के प्रति सबसे ज़्यादा क्रूर वही निकला। वे हृद्‌य-रोगी पहले से ही थे, फिर उन्हें मधुमेह भी हो गया था। जब तक ईदुलआरा रही,

वह उनके खान-पान का पूरा-पूरा ख़्याल रखती रही लेकिन उसके नहीं रहने पर ज़िम्मेदारी पुत्रवधू हसीना की थी। हसीना को उन्होंने पत्नी से भी ज़्यादा मान-सम्मान दिया था और उसके व्यक्तित्व के विकास में भी भरपूर सहायता दी थी लेकिन उसी हसीना ने उनकी और उनके खान-पान की सर्वथा उपेक्षा की। हसीना और नोमान दोनों ही जैसे इस सोने की मुर्गी को जल्द से जल्द हलाल करके सोने के अण्डे एक साथ पा लेना चाहने लगे। घर में ठीक खाना न मिलने पर उन्होंने बाहर खाना शुरू कर दिया। उससे मधुमेह बढ़ गया और किडनी भी खराब हो गयी। उनका अपने क्लिनिक में बैठना भी उनके लिये जीवनदायी था। बेटे ने उनका क्लिनिक जाना भी रोक दिया और लोगों का उनसे मिलना-जुलना भी। उसने उनको एक तरह से नज़रकैद कर दिया। उनकी इस गिरती अवस्था का लाभ उठाकर उसने अपने मनोनुकूल वसीयत तैयार करवा कर उनके दस्खत करवा लिये। उनकी सारी चल-अचल सम्पत्ति दोनों भाइयों ने आपस में बाँट ली; बहनों को उन्होंने कुछ भी नहीं दिया ! तसलीमा को जब पिता की किडनी खराब होने की सूचना दी गयी, तब उसने भाईजान से कहा कि वे उनका पूरा इलाज करवायें ; वह उन पर होने वाला सारा खर्च वहन करेगी। उसने पैसा भेज भी दिया। लेकिन पैसा हाथ में आने के बाद वह भाईजान का ही हो जाता था। उसे खर्च करने, नहीं करने, कितना और कैसे करने के मालिक वे ही हो जाते थे। पिता की तबीयत बिगड़ने पर वे उन्हें लेकर ढाका गये। यह यात्रा उन्हें बस में करवाई गयी ! जबकि घर में तसलीमा की दी हुई कार भी थी ! वहाँ डॉक्टरों ने उनको अस्पताल में भर्ती कर लेना चाहा लेकिन उन्हें वहाँ रखना खर्चीला जानकर वे उन्हें घर ले गये। जो दवाई ड्रिप के साथ दी जानी थी, उसे वे गोलियों के रूप में मुँह से देने की जिद करने लगे और उसमें भी पाँच रूपये वाली गोली के बजाय पचास पैसे वाली एंटीबायोटिक ले आये। नतीजे में पिता की तबीयत बिगड़ने लगी। उन्हें बेहोशी की दशा में पुनः अस्पताल ले जाया गया। लेकिन तब तक उन्हें सेप्टिसेमिया हो गया था। रक्त के कण-कण में बैक्टीरिया फैल गया। वे अचेतन अवस्था में चले गये। वाणी का लोप हो गया। दिमाग ने भी काम करना बन्द कर दिया। तसलीमा ने टेलीफोन पर बात करनी चाही लेकिन वे कुछ बोल सकने की स्थिति में नहीं थे। थोड़े अन्तराल से ही तसलीमा को सूचना दी गयी कि अब्बू अब साँस नहीं ले रहे हैं। उसके लिये यह जीवन का सबसे बड़ा धक्का था। वह कुछ तसल्ली कर सकती थी तो इतनी-सी कि जाने से पहले उसकी दो किताबें- मेरे बचपन के दिन और उत्ताल हवा- उन्होंने देख ली थी और उसका लेखन उन्हें भा गया था।

पिता ने अपने बच्चों के लिये पढ़ाई के दिनों में साहित्य-संगीत-कला आदि के क्षेत्र प्रतिबन्धित कर रखे थे लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य आदि की समझ उन्हें नहीं थी। सुलिखित रचना का वे खूब आनन्द भी लेते थे। तसलीमा की आत्मकथा 'मेरे बचपन के दिन' (और बाद में 'उत्ताल-हवा' भी) उनके जीवनकाल में ही प्रकाशित की गयी थी। तसलीमा ही नहीं चाहती थी कि वे उसे पढ़ें। कारण यह था कि उसमें उसने पिताजी के स्वभाव और जीवन-तथ्यों को भी छिपाया नहीं था। उसका सोच यह था कि यदि आत्मकथा उनके हाथ लगी तो उन स्थलों को, जिनमें उनकी अपकीर्ति का वर्णन है, पढ़ना उन्हें व्यर्थ ही कष्ट देगा। लेकिन संयोग कुछ ऐसा हुआ कि जिन दिनों वह कलकत्ता आयी थी, पिताजी भी उससे मिलने आये थे। वहीं यह किताब उनके हाथ लग गयी। तब, उसने उनको पढ़ने से नहीं रोका। बाद में, उसने उनसे फोन पर पूछा, 'किताब कैसी लगी ?' इस पर वे उत्साह से बोले, 'बहोत अच्छी।' इसके बाद उन्होंने फिर कहा, 'तुम्हारा लेखन बहुत प्यारा है। भाषा बेहद खूबसूरत है। तुम बहुत अच्छा लिख लेती हो।' कहने की आवश्यकता नहीं कि उसकी इस संक्षिप्त-सी टिप्पणी में पुस्तक की दो प्रमुख विशेषताएँ

निदर्शित हैं। तीसरी का निदर्शन उन्होंने अपनी चुप्पी से कर दिया।

पुस्तक में उनकी अपकीर्ति के प्रसंग भी हैं। वे भी उनके पढ़ने में आये ही होंगे लेकिन उन्हें पढ़कर भी उन्होंने उससे यह शिकायत नहीं की कि उन्हें लिखकर उसने उनकी इज्जत मिट्टी में क्यों मिलायी है। उन्होंने समझ लिया कि आत्मकथा में लेखक को ईमानदार रहना होता है और उनकी बेटी ईमानदार रही है। इसलिये इस प्रसंग में वे चुप ही रहे।

पिता के मुँह से अपनी प्रशंसा सुनकर तसलीमा की आँख भर आयी। उसने लिखा है कि 'अब्बू के मुँह से तारीफ सुनकर मेरी आँखें छलछला आई। अब्बू के सामने मुझसे और कुछ बोला ही नहीं गया। मेरी आवाज रुँध आयी।' उनके सामने मैं जैसी छोटी हो आई। अपनी अपकीर्ति के मुद्दे पर उसे कुछ कहने के बजाय चुप रहकर उन्होंने जो बड़प्पन दिखाया, उसी ने उसे छोटा बना दिया। उन्होंने किताब को आत्मनिष्ठ दृष्टि से नहीं देखकर वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखा था इसीलिये उन्होंने कोई शिकायत नहीं की। लेकिन तसलीमा लिखती है कि उनका किताब की आलोचना नहीं करना, उसे डाँटना-फटकारना भी नहीं, उसे और-और सताता रहा और छोटा करता रहा !

बाद में भाईजान ने उसे बताया कि 'उत्ताल हवा' (आत्मकथा द्वितीय) भी उनके हाथ आ गयी थी। इन दोनों पुस्तकों को वे तकिये के नीचे रखते थे और सोने से पहले पढ़ते थे। भाईजान को भी आत्मकथा की भाषा बहुत पसन्द आयी। वह उन्हें काव्यात्मक जान पड़ती है। तसलीमा ने भाईजान को कहा कि इन पुस्तकों की एक-एक प्रति वे जतीन सरकार को दे आयें। लेकिन पिताजी ने मना कर दिया। कदाचित् शर्म के मारे ही। यद्यपि दुनिया तो इन्हें पढ़ ही रही थी ! तब भी, तसलीमा कहती है कि अच्छा ही हुआ, बांग्लादेश में ये किताबें निषिद्ध हो गयी वर्ना लोग पढ़ते और अब्बू को ताना मारते कि 'बेटी ने तो अपने दुश्चरित्र बाप की कीर्तिकथा लिख मारी है !'

पिता के प्रति तसलीमा का श्रद्धा-भाव उनके निष्ठावान अध्यापक-रूप और डॉक्टर-रूप को देखकर और भी दृढ़ हुआ। 'अवकाश का थका और खीझा हुआ व्यक्ति अपने क्लिनिक 'आरोग्य-वितान' में खूब चुस्त-दुरुस्त डॉक्टर होता था। इसी तरह, अवकाश (घर) का क्रोधी और क्रूर अब्बू कॉलेज में खूब शिष्ट, मधुर भाषी और विनम्र व्यक्ति था। वह मेहनती और प्रभावी अध्यापक था।' जूरिसप्रूडेंस विभाग के वे अध्यक्ष थे। पढ़ने में अन्यथा भी उनकी गहरी अनुरक्ति थी। जब समय मिलता, वे एनाटॉमी से लेकर मेडिसन और सर्जरी तक की किताबें पढ़ते रहते थे। जिस दिन उन्हें क्लास का लेक्चर देना होता था, उसकी पूर्वरात्रि में वे दो बजे तक पढ़ते थे और लेक्चर तैयार करते थे। जब कॉलेज जाते थे, तब तसलीमा को भी रिक्शे में अपने पास बैठा लेते थे। वह उन दिनों मेडिकल-छात्रा थी ; वे उसे रास्ते में कक्षा में विचारणीय विषय की प्रमुख बातें समझाते हुए जाते थे -

> क्लास में लिवर सिरोसिस पढ़ाने वाले होते थे, रिक्शे में समूचे रास्ते वे उस बारे में इतनी खूबसूरती से समझाते रहते कि वह सब सुनते हुए मैं इतना कुछ सीख लेती थी जितना भारी-भरकम किताबें पढ़कर या प्रोफेसर के लम्बे-लम्बे लेक्चर सुनकर भी नहीं सीख पाती थी।

पिता के सुचिंतित ज्ञान और मँजे हुए अध्यापन-कौशल की वजह से ही छात्र उनके प्रति श्रद्धा-भाव रखते थे। अन्य

प्रोफ़ेसर जब क्लास लेते थे, विद्यार्थियों की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक होती थी, लेकिन डॉ. रजब अली पढ़ाते थे तब क्लास भरी रहती थी। उसे अपने पिता पर गर्व हो आता था। दृढ़ीभूत होते इस गर्व मिश्रित श्रद्धा भाव ने ही उसके मन में पिता के अवगुणों पर भी पर्दा डाल दिया था।

कॉलेज के बाहर भी एक डॉक्टर के रूप में पिताजी की खूब ख्याति थी। वे निर्लोभी डॉक्टर थे। अमीर-गरीब सभी उनसे इलाज कराने आते थे। उनका चैम्बर रोगियों से भरा रहता था। नये विशेषज्ञ और पुराने अनुभवी भी समान रूप से जटिल मामलों में उनसे परामर्श लेने आते थे, यह बात देखकर तसलीमा को गर्व होता था ! उनका यह गुण भी उसे मुग्ध करता था कि वे गरीबों का इलाज बिना फीस लिये भी करते थे। पैसे का लोभ उन्हें कम नहीं था लेकिन अपने पेशे के प्रति वे बड़े ईमानदार थे और पूरे सदाशयी भी। गरीब का इलाज बिना फीस लिये भी उतने ही मनोयोग से करते थे जितना फीस लेकर अमीर का करते थे।

पिता के चरित्र की कई परस्पर विरोधी बातों के कारण तसलीमा को उनका व्यक्तित्व रहस्यमय लगता है। उसने माता-पिता के व्यक्तित्व का तीखा विश्लेषण करते हुए लिखा है कि -

> अब्बू का रहस्य जितना-जितना देखती थी, उतनी ही मेरी चाह तीखी होती जाती थी कि उनके अँधेरे कमरे की तरह ही (व्यक्तित्व के) अँधेरे की इस रहस्य की चादर को भी उधाड़ फेंकूँ। अम्मी के छुटपुट दुःख-सुख मेरे इस कदर जाने-पहचाने थे ! अम्मी के होठों की हँसी! विरक्ति ! इन सबकी वजह इतनी स्पष्ट थी, मानों अम्मी पढ़ी हुई किताब हों या लिखी हुई कॉपी हों। अम्मी मुझमें कौतूहल नहीं जगाती थीं, कौतूहल जगाते थे, अब्बू ! अम्मी का प्यार बिना माँगे ही मिल जाता था, अब्बू का प्यार पाने के लिये तपस्या की ज़रूरत थी। इसके बावजूद उनका प्यार मिल ही जायेगा, यह भी तय नहीं था। ज़िन्दगी काफी कुछ जुआ की तरह थी। अम्मी की अथाह ममता हमें नज़र नहीं आती थी, अब्बू की नरम लहजे में एकाध पुकार, दिनभर के लिये दिल खुश कर देती थी।

इस आदर्शवादी पिता के अनेक चारित्रिक गुणों को आत्मसात करके तसलीमा ने अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। अपने संघर्ष के क्षणों में वह पिता के आदर्शों से ही सम्बल पाती रही है।

उसके स्वच्छन्द हो जाने से पिता को बड़ा धक्का लगा था। बाद में, उसके धर्म-विरोधी लेखन की वजह से बांग्लादेश में जो जनाक्रोश उग्र हुआ था, उसका आघात उन्हें भी झेलना पड़ा था। जब उसके विरुद्ध गैर जमानती वारण्ट जारी हुआ था, उन दिनों एक ओर पुलिस गिरफ्तार करने के लिये, तो दूसरी ओर कट्टरवादी प्राण लेने के लिये उसकी तलाश में थे। उन दिनों उसकी वजह से ही पूरा परिवार साँसत में था। जब वह कट्टरवादियों के हाथ नहीं लगी, तब उन्होंने उसके घर में और पिता के क्लिनिक में भी तोड़फोड़ की थी। गुण्डों ने पिता के साथ मार-पीट भी की थी। उसे

अपने अज्ञातवास में और बाद में विदेशी-प्रवास में भी, ये सब खबरे मिलती रहीं। पिता की प्रताड़ना और अपमान का विचार कर जो अपराध-बोध उसमें जागा, उसने कविता-'पिता को पत्र' में अपनी अच्छी अभिव्यक्ति पायी है -

> इस 'धर्मद्रोही' लड़की को/पैदा करने के अपराध में/जो लोग तुम पर फेंकते हैं पत्थर/वे छीन तो नहीं लेते तुम्हारा स्टेथस्कोप ?/एक्स-रे मशीन ?/माइक्रोस्कोप ?/ स्कालपेल/ फोरसेप ?/तुम अकेले पड़े रहते होगे-अकेले और खामोश/कनपटी की टपकती नसों को/ दोनों हाथों से दबाकर/तुम्हारे लिये बड़ा दुःख होता है/बड़ी तकलीफ होती है। (यह दुःख यह जीवन, पृष्ठ १४४)।

वह जिस पिता से हौसला पाती रही है, उस पिता को अपने कारण लानत-मलानत सहते हुए देखकर उसे बड़ी आत्म-ग्लानि होती है। संकट की इस घड़ी में वह पिता को ढाँढस बँधाती है -

> बाबा, तुम टूट मत जाना
> जिस तरह तुमने मुझे सिखाया था
> रीढ़ सीधी करके खड़े रहना
> वैसे ही खड़े रहना तुम।
> आज हम भले ही हार गये हों
> लोग बरसा रहे हों हमारी पीठ पर कोड़े
> लेकिन एक दिन देखना.....
> मेरे सपने भी अपनी शाखाएँ
> फैलाकर विकसित होंगे
> धन-दौलत नहीं, सम्मान नहीं
> तुम्हीं बताओ-हमारे सीने में एक निष्कलंक स्वप्न के सिवा और है ही क्या ?

निस्सन्देह, यह एक सशक्त कविता है जो तसलीमा के संकल्प को और पिता के प्रति उसकी भावनाओं को भी पुरजोर व्यक्त करती है।

रूसी संस्कृति का उद्‌भव और विनाश

कमलेश

(भाग-२)

वेलिमीर ख्लेब्निकोव

वेलिमीर ख्लेब्निकोव बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस के महान कवि के रूप में उदित हुए। पहले इन्होंने 'भविष्यवाद' की आधारशिला रखी। 'भविष्यवाद' के कारण ही इन्हें मायकोव्स्की से जोड़ लिया जाता है। परन्तु दोनों की कविताओं में बहुत अन्तर है। ख्लेब्निकोव की कविताएँ रूसी भाषा में अनवरत प्रयोगात्मकता में सतत् संलग्न रहने की उदाहरण हैं। उनकी कविताओं के पूरे महत्व को समझने के लिए रूसी भाषा का अभिन्न ज्ञान आवश्यक है जो रूसी भाषियों के लिए ही सम्भाव्य है। इसी कारण उनकी कविताओं का अनुवाद अत्यन्त कठिन है।

रूसी साहित्य के विद्यार्थी ख्लेब्निकोव को बीसवीं शती के महानतम रूसी कवितयों में गिनते हैं। कई लोग उन्हें पास्तेरनाक और मायकोव्स्की से भी बड़ा कवि मानते हैं। जो लोग यूरोपीय साहित्य से परिचित हैं, वे उन्हें आधुनिक साहित्य के महान कवियों में मानते हैं। कुछ लोग उन्हें सार्वकालिक महान कवियों में स्थान देते हैं।

ख्लेब्निकोव का जन्म अस्त्राखान के मालिए देरबेती इलाके में १८८५ में हुआ था। वे उच्च शिक्षा के लिए १९०३ में कजान विश्वविद्यालय में भर्ती हुए और गणित और विज्ञान का अध्ययन करते रहे। वे १९०८ में सेण्ट पीटर्सबर्ग आ गये और वहाँ विश्वविद्यालय में दाखिल हो गये।

उन्होंने कविताएँ लिखना इसके पहले ही शुरू कर दिया था। शीघ्र ही उनकी कविताएँ सेण्ट पीटर्सबर्ग की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं। १९१३-१४ में उनके तीन कविता-संकलन प्रकाशित हुए। १९१६ में उनका नाटक ओशिब्की स्मेर्ती (मौत की ग़लतियाँ) प्रकाशित हुआ। एक लम्बी कविता 'नोच व अकोपे' (खन्दक में रात) १९२१ में

प्रकाशित होकर बहुचर्चित हुई।

ख्लेब्निकोव कभी किसी एक जगह बस नहीं पाये। वे एक खानाबदोश की तरह रूस के विभिन्न शहरों में घूमते रहते थे। उनकी अधिकांश रचनाएँ उनकी मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हो पायीं। उनकी मृत्यु १९२२ में हो गयी थी। इस प्रकार वे सोवियत क्रान्ति के बाद हुई विभिन्न विभीषिकाओं को देखने से और उन पर टीका-टिप्पणी करने से बच गये।

मनुष्य जब करते हैं प्यार

मनुष्य जब प्यार करते हैं
वे अपनी आँखें फैलाते हैं
और आहें भरते हैं
जानवर जब प्यार करते हैं
उड़ेल देते हैं उदासी आँखों में
और झाग से बनाते हैं लगाम का दहाना।
सूर्य जब प्यार करते हैं
ढँक देते हैं रातों को पृथ्वी से बने वस्त्र से
और जाते हैं मित्रों के पास नृत्य करते हुए।
देवता जब प्यार करते हैं
कीलित कर देते हैं ब्रह्माण्ड के कम्पन को
जैसे पुश्किन ने किया था वोल्कोन्स्की की नौकरानी की प्रेमाग्नि को।

(अनु.- वरयाम सिंह)

जब मरते हैं

जब घोड़े मरते हैं वे हाँफने लगते हैं,
जब घास मरती है वह सूख जाती है?
जब सूर्य मरते हैं वे बुझ जाते हैं,
जब मनुष्य मरते हैं-वे गीत गाते हैं।

(अनु.- वरयाम सिंह)

कुछ नहीं चाहिए

कुछ नहीं चाहिए!
बस, टुकड़ा-भर रोटी
बूँद भर दूध
यह आकाश
और ये बादल!

(अनु.- वरयाम सिंह)

मुझे मालूम नहीं

मुझे मालूम नहीं, पृथ्वी घूमती है या नहीं
यह इस पर निर्भर कतरा है कि शब्द
पंक्ति में ठीक बैठ रहा है या नहीं।
मुझे मालूम नहीं, मेरे दादा या दादी कभी बन्दर रहे या नहीं
इसलिए कि मुझे मालूम नहीं मैं जानता हूँ कि मैं उबलना चाहता हूँ
चाहता हूँ कि कोई साझा कम्पन मिला दे
सूर्य को मेरे हाथ की नसों से
चाहता हूँ कि तारे की किरणें चूमे मेरी आँख की किरणों को
जैसे एक हिरण चूमता है दूसरे को

(अनु.- वरयाम सिंह)

पतझर

पतझर के ठगों की सभा
ठगों के पतझर के विचार
चोटियाँ बनाती हुई हवा के बीच
किरणों की नींद।
हवा में आर्तनाद फेंकते
विवेक के होठ।
नदी के पानी का रुकना
बिछना मोटे कपड़े के जैसे बर्फ़ीले रास्ते का।
अनुमान लगाती तीन लड़कियाँ-
कौन-सा छोकरा
किसका?
उड़ते हुए कबूतर
आखिर उनकी उम्र भी क्या!
हर जगह क्षीण पड़ती छाया,
मेरी ओर बढ़ती आती बाड़,
ओ नहीं!

(अनु.- वरयाम सिंह)

'आधुनिक रूसी कविता'- रोमन याकोब्सन

रोमन याकोब्सन विश्व के महान भाषाशास्त्रियों में थे। उनके विद्या-जीवन का आरम्भ मास्को में बीसवीं शताब्दी के

दूसरे दशक में हुआ था। वे मास्को भाषाशास्त्रीय सम्प्रदाय के संस्थापकों में थे। अक्टूबर क्रान्ति की विकृतियों को देखने के बाद वे मास्को छोड़ कर प्राग चले गये। प्राग में उनके नेतृत्व में भाषाशास्त्रियों का एक और सम्प्रदाय स्थापित हुआ। अन्ततः वे अमरीका चले गये और आजीवन भाषाविज्ञान के विभिन्न पक्षों पर कार्य करते रहे। इन्होंने अनेक भाषाओं में कार्य किया है, ये अपने शोध लेख रूसी, फ्रांसीसी, जर्मन, चेक और अंग्रेज़ी के अलावा कुछ अन्य भाषाओं में भी लिखते थे। भाषा के ध्वनि विज्ञान पर इनका महत्वपूर्ण कार्य है। इसके नाते ये शैली शास्त्र के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके कार्यों का सारे विश्व के भाषाविज्ञानों पर प्रभाव पड़ा।

प्रारम्भिक जीवन में रूसी साहित्य पर उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए थे। वे मायकोव्स्की के प्रशंसकों में थे। उनका 'ए जेनरेशन दैट स्क्वैण्डर्ड इट्स पोएट्स' रूसी कवियों पर प्रसिद्ध लेख है। उन्होंने ख्लेब्निकोव पर भी अनेक लेख लिखे थे। यहाँ उनके लेख 'आधुनिक रूसी कविता' से ख्लेब्निकोव सम्बन्धित अंश दिये जा रहे हैं।

> ''हमें समकालीन काव्य भाषा के प्रत्येक रूप का इनके तीन आवश्यक सम्बन्धों में अध्ययन करना चाहिए- वर्तमान काव्य परम्परा, वर्तमान काल की दैनन्दिन भाषा, और विकासमान काव्यात्मक प्रवृत्तियों से नयी काव्य प्रवृत्ति का सम्बन्ध।
>
> ''ख्लेब्निकोव ने इनमें से उत्तरवर्ती तत्व का इस प्रकार वर्णन किया है- मैंने जब देखा कि पुरानी कविता अचानक धुँधली पड़ने लगी और उसमें अन्तर्निहित भविष्य अकस्मात आज का दिन बन गया तब मैं समझ गया कि सृजनात्मक कृति का जन्मस्थान भविष्य में है। कविता के देवताओं की उड़ान भविष्य से ही शुरू होती है।''

जब हम अतीतकालीन कवियों की चर्चा करते हैं तो इन परिस्थितियों की पुनर्रचना करनी पड़ती है। लेकिन इस कार्य में बहुत कठिनाई है और इसमें आंशिक सफलता ही मिलती है।

जब पुश्किन की कविता पहले पहल प्रकाशित हुई थी तो उस समय की एक साहित्यिक पत्रिका में यह घोषणा की गयी थी कि 'पुश्किन की कविता रूसी भाषा और उसमें छन्द रचना के इतिहास की एक बड़ी घटना है।' तत्कालीन आलोचक 'पुश्किन के भव्य विचारों' की बात नहीं कहते थे। वे यह प्रश्न पूछते थे कि इन सुन्दर कविताओं में अर्थ कैसे पैदा हुआ है। हम उन्हें सुन कर जितना प्रभारिवत हो सकते हैं, हम पर इन कविताओं का उससे ज़्यादा प्रभाव क्यों बना रहता है?

आज घर-घर में 'पुश्किन के भविष्य विचारों' पर बात होती है। पुश्किन आज हर (रूसी) घर के सदस्य हैं। उनकी कविताएँ महान कविताएँ हैं- यह सिद्ध करने के लिए बहस नहीं होती। यह सबका विश्वास बन चुका है। यह एक तरह की पूजा है। और यह जड़ीभूत हो गयी है। आश्चर्य नहीं की लर्नर और श्शेगोलेव जैसे पुश्किन-विशेषज्ञ एक युवा कवि द्वारा पुश्किन की कविता के नाम पर प्रचारित की गयी एक नकली कविता से धोखा खा गये।

आज कल पुश्किन जैसी छद्म कविताएँ प्रकाशित करना उतना ही आसान है जैसे केरेन्स्की के जमाने के नकली नोट छापना। इनमें से किसी का कोई मूल्य नहीं होता।.....

..... काव्य भाषा का कोई सिद्धान्त तभी विकसित हो सकेगा जब कविता को समाज का एक तथ्य माना जाने लगेगा, जब कविता की एक 'डायलेक्टोलॉजी' विरचित होने लगेगी।.....

ख्लेब्निकोव को भविष्यवादी कहा जाता है। उनकी कविताएँ भविष्यवादियों के कविता संग्रहों में प्रकाशित होती हैं। भविष्यवाद यूरोपीय कला का एक नया आन्दोलन है। मैं इसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं दे पाऊँगा। ऐसी परिभाषाएँ बहुत सारी कविताएँ प्रकाशित होने के बाद उनमें निहित कठिन तत्त्वों का विशलेषण करके ही बनायी जा सकती हैं।.....

(यूरोप में मारीनेत्ती के नेतृत्व में साहित्य और कला में 'भविष्यवाद' का आन्दोलन चला था। उन लोगों ने भविष्यवाद की परिभाषाएँ भी की थीं। याकोब्सन ने इनका विस्तृत विवरण दिया है। इसके बाद लिखा है कि रूसी भविष्यवादियों ने बिलकुल अलग स्थापना की थी।

> 'अगर कोई नया 'रूप' रचित होता है तो उसके साथ नया 'अन्तर्तत्त्व' भी होता है। इस तरह 'रूप' 'अन्तर्तत्त्व' को प्रभावित करता है।
>
> वाणी के सृजनात्मक निरूपण से सकल पदार्थ नये प्रकाश में उभरते हैं।
>
> वास्तविक नवीकरण की परिभाषा नये विषय पदार्थों से नहीं विरचित होती।
>
> प्राचीन विश्व पर नया प्रकाश पड़ने से अत्यन्त कल्पनापूर्ण बातें सामने आती हैं।
>
> (क्रूशोनिक के संग्रह 'द थ्री' से)

यहाँ पर कविता के लक्ष्य को स्पष्टता निरूपित किया गया है। रूसी भविष्यवादियों ने ही 'विकासमान आत्मा' और 'शब्द द्वारा प्रमाणित आत्मा' को कविता की दृश्य सामग्री बनाया था। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि ख्लेब्निकोव की कविताएँ कभी-कभी पाषाण युग की गहराइयों को प्रकट करती हैं, कभी उनमें रूस-जापान युद्ध की चर्चा होती है, कभी प्रिन्स व्लादिमीर के काल का उल्लेख होता है... विश्व के भविष्य के बारे में सोचा जाने लगता है।

एक छोटे-से शहर में

एक छोटे-से शहर में शिशिर की हवा
शहर जो अपनी उपस्थिति से चमकता है मानचित्र पर
(मानचित्र बनाने वाला शायद अधिक उत्साह में था
या नगर के न्यायाधीश की बेटी के साथ सम्बन्ध बना चुका था)।
अपनी विचित्रताओं से यह जगह
उतार फेंकती है जैसे महानता का बोझ और
सीमित हो जाती है मुख्य सड़क तक।
और काल रूखी नज़र से देखता है औपनिवेशिक दुकान की तरफ,
दुकान के भीतर भरा है सब कुछ
जिसे पैदा कर सकती है हमारी दुनिया
दूरबीन से लेकर छोटी-सी सुई तक।

इस शहर में सिनेमा है, सैलून हैं और
चिक से ढका एक अदद कॉफी हाउस है
ईंट से बनी बैंक की इमारत है
जिसके ऊपर एक बाज बना है फैले पंखों वाला
और एक गिरजाघर है जिसे भूल चुके होते लोग
यदि पास में न होता अनेक शाखाओं वाला डाकघर।
और यदि यहाँ बच्चे पैदा नहीं किये जाते होते
तो पादरी को नाम देने के लिए कोई न मिलता
सिवा मोटरगाड़ियों के।
यहाँ की खामोशी को सिर्फ़ टिड्डे तोड़ते हैं
छह बजे शाम को जैसा परमाणु युद्ध के बाद
दिखायी नहीं देता एक भी आदमी।
चाँद तैरता हुआ प्रवेश करता है वर्गाकार खिड़की में।
कभी-कभी कहीं दूर से आती शानदार हेडलाइट
रोशन कर देती है अज्ञात सैनिक के स्मारक को।
यहाँ तुम्हारे सपनों में निकर पहने कोई औरत नहीं आती
बल्कि दिखायी देता है लिफ़ाफ़े पर लिखा अपना ही पता।
यहाँ सुबह फटे हुए दूध को देख कर
दूध देने वाला जान लेता है तुम्हारी मौत के बारे में।
यहाँ जिया जा सकता है यदि भूल सको पंचांग
पी सको ब्रोमाइड और निकल न सको बाहर कहीं
दर्पण में देख सको
जिस तरह सड़क की बत्तियाँ
देखती हैं सूखे पोखर को।

(अनु. वरयाम सिंह)

मरणशय्या पर लेनिन के आदेश

क्रान्ति के तुरन्त बाद लेनिन ने जर्मनी के साथ ब्रेस्ट-लिटवोस्क की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार अनेक रूसी क्षेत्र जर्मनी को दे दिये गये। लेनिन ने यह सन्धि करने के लिए पार्टी के सभी नेताओं पर दबाव डाला था। इसके कारण पार्टी के भीतर लेनिन की स्थिति शर्मनाक हो गयी थी।

सोवियत संघ और पार्टी की आर्थिक नीति पूरी तरह बुखारिन के हाथों में थी। त्रात्स्की ने लिखा है :

१९१८ के आरम्भ में लेनिन ने अपनी 'शान्ति पर थीसिस' में लिखा कि रूस में समाजवाद की सम्पूर्ण

> विजय में अभी कुछ समय लगेगा। कम से कम कुछ महीने तो लगेंगे ही। आज (१९२४ में) ये शब्द बिलकुल समझ में नहीं आते। क्या लिखने में ग़लती हो गयी थी, क्या वे वर्षों के बजाय महीने लिख गये थे? नहीं, मुझे पूरी तरह याद है कि स्मोलनी में जन-कमिस्सारों की परिषद् की बैठक में लेनिन हमेशा यही दोहराते रहते थे कि समाजवाद छः महीने में आ जायेगा और हमारा राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली हो जायेगा।

शासन पर बोलशेविकों का अधिकार होते ही उन्होंने तुरन्त बाद निम्नलिखित निर्णय लिये गये। इनके जरिये

(क) कानून बनाने,
(ख) वैदेशिक सम्बन्ध निर्धारित करने,
(ग) निजी सम्पत्ति समाप्त करने,
(घ) व्यापार सरकारी हाथ में लिये जाने, और
(च) मुद्रा को समाप्त करने के अधिकार सुप्रीम सोवियत ने अपने हाथ में ले लिया।

मुद्रा को समाप्त करने के लिए राज्य ने स्वयं मुद्रास्फीति बढ़ाने में पहल की। १९१९ के उत्तरार्ध में मुद्रा की छपाई में सोवियत राज्य के कुल बजट का ४५ से ६० प्रतिशत खर्च हो रहा था। १९२० में पोलैण्ड पर आक्रमण का प्रयत्न करते समय लाल सेना के कमिस्सार को लेनिन ने यह निर्देश दिया :

> यह सुन्दर योजना है। जर्झिन्स्की से इसको समझ लीजिए। 'हरितों' के वेष में हम लोग १०-२० 'वर्स्ट' भीतर जायेंगे और कुलकों, पादरियों, भूस्वामियों की हत्या कर देंगे। हर हत्या के लिए एक लाख रूबल दिये जायेंगे।

१९२१ तक एक लाख रूबलों की कीमत युद्धपूर्व के मात्र दो कोपेक के बराबर रह गयी थी। जिन नीतियों को बाद में 'युद्ध कम्युनिज्म' कहा गया, उसके दौरान शहरों में रहने वाले बहुत कठिनाई से काला बाजार से भोजन प्राप्त कर रहे थे। इसे कानूनी रूप दे दिया गया। 'युद्ध कम्युनिज्म' का अन्ततः परिणाम यह हुआ कि देश का औद्योगिक आधार समाप्त हो गया और सोवियत संघ यूरोपीय इतिहास के सबसे बड़े दुर्भिक्ष का शिकार हो गया।

लेनिन ने १९ मार्च १९२२ को लिखा :

> अब कहीं जाकर और अब ही दुर्भिक्ष से प्रभावित क्षेत्रों में नरभक्षिता के प्रमाण मिल रहे हैं। सड़कों पर यदि हज़ारों नहीं तो सैकड़ों लाशें बिछी पड़ी हैं। हमें चर्च के पास पड़े सारे बहुमूल्य पदार्थों को पूरी खूँखारी और निर्दयता से छीन लेना चाहिए। उनके विरोध को कुचलने के लिए हर तरीका अपनाना चाहिए। जब किसान भूख से व्याकुल हो रहे होंगे तभी उनमें इतना गुस्सा, इतनी निर्दयता, और इतना साहस आयेगा कि हम उनके लिये जो करने जा रहे हैं उसके साथ उनमें सहानूभूति पैदा हो। वे हमारे साथ इस संहार के काम में लग जायें, कम से कम पादरियों का साथ तो नहीं ही दें। हमको पादरियों पर इसी समय निर्णायक हमला करना चाहिए, इतनी क्रूरता के साथ कि वे इसे पूरे जीवन भर याद रखें। प्रतिक्रियावादी बुर्ज्वावाद जितना ही विरोध जतायेगा, प्रतिक्रियावादी पादरी जितना ही विरोध करेंगे, हम अपना कार्य सम्पादन उतने ही बेहतर तरीके से कर सकेंगे।

चर्च के दस्तावेजों के अनुसार उस वर्ष २,६६१ पादरी, १,६६२ भिक्षु और ३,४४७ भिक्षुणियों की हत्या कर दी गयी थी। रूस में इसके पहले १८६१ में दुर्भिक्ष पड़ा था। उसमें केवल ५ लाख लोगों के मरने का अनुमान है। उस समय राहतकार्य करना राष्ट्र की प्राथमिकता थी। तोलस्तोय और चेखोव जैसे महान लेखक अकाल पीड़ितों के लिए सार्वजनिक भोजनालय और चिकित्सालय चला रहे थे। उन दिनों केवल एक आदमी ने इस राहतकार्य में भाग लेने से इन्कार किया था। क्षेत्रीय राजधानी समरा में २२ वर्ष की आयु के एक युवक ने न केवल राहतकार्य में भाग लेने से इन्कार कर दिया, उसने राहत कार्य की पूरी निन्दा की। इस युवक का नाम था लेनिन। इसके एक मित्र के अनुसार लेनिन ने खुल कर कहा कि दुर्भिक्ष के अनेक अच्छे परिणाम होंगे। दुर्भिक्ष प्रतिगामी किसान अर्थव्यवस्था का नाश कर रहा है। इससे समाजवाद आयेगा। दुर्भिक्ष के कारण ज़ार के प्रति आस्था खत्म होगी ही, किसानों की ईश्वर में आस्था खत्म हो जायेगी। इस प्रकार दुर्भिक्ष को पार्टी के चार अस्त्रों में एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र मान लिया गया था। अन्य तीन अस्त्र थे- आतंक, दासता और असफलता। निःसीम और आत्यन्तिक असफलता।

रूस के बौद्धिकों के बारे में लेनिन ने (१५ सितम्बर १६२२) को मैक्सिम गोर्की को एक पत्र लिखाः

> व्लादिमीर कोरोलेंको फालतू लेखकरूपिया है। वह बूर्ज्वा पूर्वाग्रहों से भरा पड़ा है। एक साम्राज्यवादी युद्ध में करोड़ों लोगों की मृत्यु का वह समर्थन कर सकता है। लेकिन भूस्वामियों और पूँजीपतियों के साथ एक न्यायोचित लड़ाई में लाखों लोगों की मृत्यु पर वह कराहने लगता है।

लेनिन मई १६२२ में पक्षाघात के शिकार हो गये। उन्होंने सितम्बर १६२२ में गोर्की को एक और पत्र लिखा। इसके पहले उन्होंने जुलाई में उन बौद्धिक रूसियों की सूची तैयार करवा ली थी जिन्हें देशनिकाला, या जेल की सजा दी जानी थी। यह सूची क्रुप्सकाया के मार्गदर्शन में तैयार की गयी थी। क्रुप्सकाया को साहित्यिक मूल्यों की कोई समझ नहीं थी। वह अपने ही जैसे नासमझ लोगों के साथ मिल करके क्रान्ति के बाद लेनिन से सामीप्य का लाभ उठा रही थी और इस तरह के कार्यों में संलग्न थी।

इससे एक महीना पहले लेनिन के डाक्टरों ने लेनिन से १२ x ७ का गुणाफल निकालने के लिए कहा। लेनिन तीन घण्टों में भी यह काम नहीं कर पाये। लेनिन के एक जीवन चरित लेखक दिमित्री वोलकोगोनोव ने लिखा है कि लेनिन के पास एक नोट पैड था जिसके २१ पन्ने केवल टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से भरे हुए थे अर्थात महीनों से लेनिन की मानसिक अवस्था एक चार वर्ष के बच्चे से भी बदतर हो गयी थी और यह आदमी लाखों रूसी बौद्धिकों की नियति तय कर रहा था। आगे देखिए, वह और क्या-क्या कर रहा था?

लेनिन पर पक्षाघात के और भी आक्रमण हुए। बाद में उनकी पत्नी क्रुप्सकाया ने उनको 'कृषक', 'श्रमिक', 'जनता', 'क्रान्ति' जैसे शब्द बार-बार रटा कर याद कराने की कोशिश की। फिर भी वे कुछ संकेत दिये जाने पर ही ये शब्द उच्चारित कर पाते थे। लेनिन अपने मरणकाल में (और बहुत बार अपने जीवनकाल में भी) बिलकुल बचकाने लेकिन भयानक कार्य किया करते थे। अपने जीवन के अन्तिम १० महीनों में तो वे किसी एक शब्दांश का ही उच्चारण कठिनाई से कर पाते थे- 'वोत-वोत' (यहाँ-यहाँ) और 'सेज्द-सेज्द' (कांग्रेस-कांग्रेस)। फिर भी वे सोवियत राज्य के महत्वपूर्ण आदेश स्वयं जारी करते थे।

रूसी बौद्धिकों का भारत-आकर्षण

प्राचीन देश- जिनमें भारत भी था, सीमाहीन होते थे। इनकी सीमाएँ किन्हीं अन्य देशों की सीमाओं से नाप कर अलग की गयी नहीं होती थी। नदियों, पर्वतों और वनों को सीमा मान लिया जाता था, वे उल्लंघनीय भी होते थे। कभी कभी भारतवर्ष की सीमा यूनान के नज़दीक पहुँच जाती थी। अभिप्राय यह है कि जब ये दो संस्कृतियाँ आपस में आदान-प्रदान करने लगती थीं, इनके बीच की राजनीतिक सीमा भी अदृश्य होने लगती थी।

प्राचीन इतिहास में सिकन्दर का अनोखा व्यक्तित्व रहा है। वे अपनी सेनाओं के साथ फारस को परास्त करने के बाद भारतवर्ष की तत्कालीन सीमाओं पर स्थित राज्यों पर अधिकार करने का प्रयत्न कर रहे थे। मध्य एशिया, ईरान, अरब देश, मिस्र आदि में उनके आगमन और विजय की दन्तकथाएँ काफ़ी प्राचीन काल से भिन्न-भिन्न रूपों में प्रचलित रही हैं। उनके आगमन के पहले भी भारतवर्ष के मनीषियों और व्यापारियों का यूनानियों से सम्बन्ध रहा था। ये सम्बन्ध पश्चिम में अलेक्जेन्द्रिया से लेकर आयोनिया (यूनान) तक सदियों पहले शुरू हुए होंगे। आज के ताज़िकिस्तान (तूरान), अफ़गानिस्तान और ईरान के कुछ भाग शताब्दियों तक यूनानियों और भारतीयों की मिलनस्थली रहे। देवप्रिय अशोक के शिलालेख इन क्षेत्रों में भी हैं और उन पर बुद्ध का सन्देश तत्कालीन यूनानी लिपि में अंकित है। यह अंकन भारतवर्ष में पाटलिपुत्र और तक्षशिला के बीच में ही कहीं हुआ होगा। अर्थात, भारत में उन दिनों अनेक ऐसे लोग थे जो यूनानी लिपि में अंकन कर सकते थे, संस्कृत-पाली-अपभ्रंशों से यूनानी में अनुवाद कर सकते थे, यूनानी लिपि और भाषा जानते थे। 'मिलिन्द राजा के प्रश्न' सम्भवतः यूनानी भाषा में ही हुए और उत्तर भी उसी भाषा में दिये गये होंगे। बाद में इसे अपभ्रंश में लिपिबद्ध कर लिया गया। उत्तर-पश्चिमी भाग के कुछ लोग और कालान्तर में गंगा घाटी के कुछ लोग भी, अत्यन्त प्राचीनकाल से यूनानी संस्कृति और भाषा से परिचित रहे हैं। उसी तरह यूनानी दार्शनिक भी भारतीय भाषाओं, दर्शन और चिन्तन से परिचित थे। दोनों देशों के दार्शनिक एक दूसरे के दार्शनिक विवादों में भाग लेते थे।

रूसी संस्कृति के सम्बन्ध में हो रही इस चर्चा में इस उल्लेख के कारण को जरा समझा जाए। हमें पहले पुश्किन ने यह बतलाया है कि रूसी भाषा पूर्णतः यूनानी भाषा पर आधारित होकर अद्वितीय भाषा बन गयी थी। जब भारतीय भाषाओं का यूनानी से सम्बन्ध रहा होगा तो सम्भव है वह कभी-कभी रूसी भाषा तक भी पहुँचा हो। विशेषकर तब जबकि भारत से रूस का व्यापार 'रेशमी मार्ग' से भी होता था और मध्य-एशियाई व्यापार पथों पर भी होता था। इस विशाल क्षेत्र में उत्खनित पुरातात्त्विक सामग्री में भारतीय देवी देवताओं और भगवान बुद्ध के मूर्ति चिन्ह भारी मात्रा में मिले हैं और आज वहाँ के संग्रहालयों में पड़े हुए हैं।

पूरे पश्चिमी जगत में अनादि काल से ही वहाँ के सामान्य जनों में को भी भारत की समृद्धि, यहाँ की देवी- देवता विषयक दन्त कथाओं और 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', नल-दमयन्ती आदि की कहानियों से परिचय था। सिकन्दर की कहानी का अंग बनी कुछ दन्त कथाएँ भी इनमें थीं। महाकवि वर्जिल के 'एनिड' में 'भारतवर्ष' का और 'जार्जिक्स' में 'गंगा' का उल्लेख है। ऐसे उल्लेखों के विषय में लैटिन साहित्य के जर्मन इतिहासकार रॉबर्ट कर्टियस ने लिखा है कि यूरोप में 'भारत' एक रूपक जैसा था। ऐसा ही एक रूपक सिकन्दर से मिलने वाले योगी दार्शनिकों का था। एक अन्य रूपक 'बरलाम और जोसाफ़ात' की कथा का रूप लेकर प्रचलित हुआ। यह बुद्ध कथा संस्कृत से फ़ारसी में अनूदित

होकर लैटिन और यूरोपीय भाषाओं में प्रचलित होने तक ईसा मसीह के चरित्र के साथ जुड़ गयी थी। बाद में यह कथा शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का भी अंग बनी। दो-चार पश्चिमी यात्रियों के वृतान्तों से भी लोगों में जानकारी और दिलचस्पी बढ़ी। १५वीं शताब्दी में भारत आये रूसी व्यापारी अफ़ानासी निकितिन के यात्रा विवरण पर ख्वाजा अहमद अब्बास द्वारा एक रूसी निर्देशक के साथ मिलकर बनायी गयी फ़िल्म 'परदेसी' प्रसिद्ध है। इन सबको भारत विषयक ज्ञान कहना तथ्यपरक नहीं होगा। १८वीं शताब्दी में 'शकुन्तला' के लैटिन भाषा में हुए अनुवाद से अन्य यूरोपीय भाषाओं सहित रूसी में भी अनुवाद हुआ, भारतीय साहित्य में रुचि बढ़ी और अन्य अनुवादों का मार्ग प्रशस्त हुआ। गन्धर्व कथा 'सुलेमान और कितोवरास' और भारतीय स्रोतों से निकली हुई 'राजा शखइसा के बारह स्वप्न', 'ग़रीब लियो', और 'सौदागर का बेटा ईवान' आदि भारतविषयक कथाएँ ग्रीक, फ्रेंच, फारसी और तुर्की माध्यमों से रूसी भाषा में पहुँची और लोकप्रिय हुईं।

१६७५ ई. में जार एलेक्सी मिखाइलोविच ने कजान के एक तातार मोहम्मद यूसुफ़ कासिमोव को औरंगज़ेब के दरबार में राजदूत बना कर भेजा था। लेकिन औरंगज़ेब के सलाहकारों को यह सम्बन्ध पसन्द नहीं आया। १७वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ज़ार पीटर महान ने एक रूसी सौदागर सेमेन मालिंकोव को आगरा और दिल्ली भेजा लेकिन उसे भी यहाँ से सम्बन्ध बढ़ाने में कोई सफलता नहीं मिली।

भारत और रूस के बीच सम्बन्ध और रूस के साहित्यिकों को भारतीय विषयों का तथ्यपरक ज्ञान भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित हो जाने के बाद बड़े पैमाने पर सम्भव हो पाया। १७९५ में भारत आये रूसी संगीतज्ञ ग्रैसिम स्तेपानोविच लेबेदेव को बंगाली रंगमंच को स्फुरित करने का श्रेय प्राप्त है। १७९७ में रूस वापस पहुँच कर उन्होंने अपनी भारत विषयक पुस्तक १८०५ ई. में सेण्ट पीटर्सबर्ग में प्रकाशित की। जार अलेक्सान्द्र प्रथम ने उन्हें देवनागरी 'टाइप' की ढलाई करने का भी आदेश दिया था। संस्कृत और रूसी भाषाओं की समानता पर भी सेण्ट पीटर्सबर्ग में नोवीकोव के नेतृत्व में कार्य चल रहा था। कजान विश्वविद्यालय में भी संस्कृत पढ़ायी जाती थी। वहाँ के प्रोफेसर पेत्रोव बाद में सेण्ट पीटर्सबर्ग आ गये। उन्होंने कल्हण की 'राज तरंगिणी' का रूसी में अनुवाद किया। उनके समकालीन मिनाऐव एक अन्य संस्कृतज्ञ थे जिनकी कृतियों से रूस के बौद्धिक वर्ग में बौद्ध धर्म और दर्शन का ज्ञान प्रचारित हुआ। इसके बाद भारतीय भाषाओं, इतिहास, पुरातत्व, साहित्य और दर्शन पर लिखने वालों की संख्या बढ़ने लगी और रूसी साहित्यकारों को भारत विषयक तथ्यपरक ज्ञान मिलने लगा। इस ज्ञान का उन्होंने अपने लेखन में भी उपयोग किया।

रूसी कवि झुकोव्सकी ने औरंगज़ेब की पुत्री के जीवन पर एक काव्य 'लल्ला रुख' (१८१७) लिखा। पुश्किन द्वारा शादेव को १८ सितम्बर १८३१ को लिखे गये पत्र में वाल्मीकि के रामायण की चर्चा है। उनकी कविता 'प्रोरोक' में 'कुण्डलिनी' का वर्णन है। एक अन्य कविता 'अनचार' में कल्हण से 'विश्ववृक्ष' का रूपक लिया गया है। इस काल के रूसी कवियों द्वारा प्रयुक्त हाथी, रेशम, छुरी और कटार आदि के भारतीय रूपक बाद के कवियों में भी प्रचलित रहे। लरमन्तोव की कविता 'वोस्तोचनाया प्रिवोस्त' 'तप्त भारतीय आकाश के तले' स्वर्णिम और प्रेमपूर्ण परिवेश में विरचित है। उनके समकालीन मिखाइल देलार्यू ने 'अमरुक शतक' का एक चयन रूसी में प्रकाशित किया और दिमित्री ओजनाबीशिन ने मृच्छकटिक पर आधारित 'वसन्त सेना' नाटक का प्रणयन किया। रूसी भाषा में भर्तृहरि के तीनों शतकों, 'बुद्ध चरित' आदि के कई रूपान्तरण हुए। आलोचक बेलिन्सकी ने कलकत्ता में अंग्रेज़ों की करतूतों पर

एक लेख कहीं से अनुवादित करके प्रचारित किया था। कृष्ण पर लिखे गये उनके एक लेख को ज़ार की गुप्त पुलिस ने समतावाद का प्रचार मान कर कुछ कार्रवाई भी की थी। १८५७ की राष्ट्रीय क्रान्ति के समय दोब्रोल्यूबोव ने भारत के इतिहास पर एक लम्बा लेख लिखा और अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की ने तमिल स्रोतों के आधार पर एक नाटक- 'देवदासी' लिखा। तोलस्तोय का भारत, बौद्ध धर्म, और हिन्दू धर्म से परिचय तथा आप्रवासी तारकनाथ दास व महात्मा गांधी से हुए उनके पत्र व्यवहार प्रसिद्ध हैं।

इस समय सेण्ट पीटर्सबर्ग में फ्रांसीसी राजदूत दि' वोग ने भारत और रूस में समानताएँ ढूँढते हुए एक पुस्तक लिखी। इसी पुस्तक में 'निर्वाण' और 'निहिलिज्म' में भी समानता ढूँढी गयी थी और रूसी उपन्यासकार दोस्तोएव्स्की और तोलोस्तोय की कृतियों की भी पहली बार विवेचना हुई थी। दि' वोग की पुस्तक के इस अध्याय का शीर्षक था- 'हाथी दाँत, लंगूर और मोर'। १९वीं शताब्दी के अन्त में कॉन्स्टैण्टिन लियोन्तीव ने भी तोलस्तोय के उपन्यासों के विषय में लिखते हुए शिव, शिवालय और विशालकाय हाथी के रूपक इस्तेमाल किये थे। तोलस्तोय ने बच्चों के लिए पाठ्य पुस्तकें बनाने में भी भारतीय सामग्री का उपयोग किया था। उन्होंने पाल कारुस कृत 'कर्म/निर्वाण' की भूमिका भी लिखी थी। कुछ लोगों ने दोस्तोएव्स्की के 'महामूर्ख' के पात्र प्रिंस मिश्किन और बुद्ध में कुछ समानताएँ ढूँढ़ी हैं। कुछ लोगों ने दोस्तोएव्स्की की कृतियों में 'ऋग्वेद' और 'महाभारत' में आयी जुआड़ी की आत्मप्रतारणाओं का स्वर भी सुना है। यूक्रेनी कवि ईवान फ्रैंको ने महाभारत और मार्कण्डेय पुराण की कथाओं के आधार पर कई कविताएँ लिखीं। तुर्गनेव कभी इंग्लैण्ड में मैक्समूलर के साथ ठहरे थे और ए.एफ. कोनी ने तुर्गनेव में महावाक्य 'तत्त्वमसि' की अनुगूँज सुनी थी। चेखोव के मित्र-सहपाठी व्लादिमीर खावकिन १८९३ में भारत आ गये थे और १९१५ तक बम्बई में कालरा और प्लेग के नियन्त्रण पर कार्य करते रहे। उनके सम्मान में ही हॉफकिन (खावकिन) इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गयी थी, जो आज भी वर्तमान है।

भारतीय विचारों के प्रसारण में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य कवि और दार्शनिक व्लादिमीर सोलोव्येव का रहा है। ये जाने-माने मौलिक आध्यात्मिक चिन्तक और विद्वान थे। बीसवीं शताब्दी के सभी महान लेखक-कवि सोलोव्येव से प्रभावित हुए। इनसे पहले की पीढ़ी के महान उपन्यासकार तोलस्तोय और दोस्तोएव्स्की भी इनके व्याख्यान सुनने के लिए गये थे। ये दोनों वहाँ पर अपने जीवन में पहली बार मिलने का परम संयोग गँवा बैठे। इन्होंने खुल कर ईसाई विचारों की तुलना में बौद्ध विचारों की सराहना की। 'बुद्ध ने विश्व के धार्मिक इतिहास में प्रथम बार श्रावक संघ की स्थापना की।' सोलोव्येव की अत्यन्त प्रभावशाली कृति 'जस्टीफिकेशन ऑफ द गुड' में नैतिकता की धारणा के विकास में त्यागी संन्यासियों की भूमिका का विवेचन किया गया है। उनके लेखन में परमात्मन, पुरुष, प्रकृति, और अद्वैत प्रायः आते रहते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'बौद्ध धर्म के प्रवर्तन के पहले भी मानव व्यक्तित्व के अन्दर नकारात्मक अनन्त की प्रतीति अनेक दार्शनिकों को हुई थी। लेकिन मनुष्य जाति के सामूहिक जीवन में इसको ऐतिहासिक अभिव्यक्ति पहली बार बौद्ध धर्म में मिली। बुद्धि के बजाय भावना से अनुस्यूत सामान्य व्यावहारिक नैतिकता के आधार पर सामूहिक जीवन-सत्यों का अनुगमन करने वाले श्रावकों के संघ की रचना जिसमें सभी जातियों और देशों के लोग सम्मिलित हो सकते थे, इतिहास में पहली बार बुद्ध धर्म में ही सम्भव हुआ।' उन्नीसवीं शती के अन्त और बीसवीं शती के प्रारम्भ के अधिकांश रूसी साहित्यकार, कवि, कलाकार, चिन्तक सोलोव्येव के प्रभाव में आ चुके थे। रूसी आप्रवासियों के माध्यम से सोलोव्येव के विचारों का प्रभाव यूरोप और अमेरिका में भी पहुँचा।

रूस की कला, संगीत और नृत्य में भी भारतीय प्रेरणा का कुछ अंश रहा है। प्रख्यात रूसी बैले में कई बार 'भारत', 'ब्रह्मा' और 'लक्ष्मी' जैसे प्रस्तुतीकरण हुए। दियाघिलेव के 'बैले रुस' के पेरिस के प्रदर्शनों में भी दो प्रदर्शनों का विषय भारत से सम्बन्धित था। महान संगीतज्ञ स्क्रियाबिन के संक्रामक भारत अनुराग की पहले चर्चा हो चुकी है। स्क्रियाबिन का पास्तेरनाक सहित अनेक साहित्यकारों पर प्रभाव पड़ा था। स्त्राविन्स्की द्वारा विरचित संगीत रचना 'सैक्रे दु प्रिन्तेम्प्स' को बीसवीं शताब्दी की महानतम संगीतकृति माना जाता है। इसकी भी पहली प्रस्तुति दियाघिलेव के 'बैले रुस' के एक प्रदर्शन में हुई थी। 'बैले रुस' के एक चित्रकार निकोलस रोरिक का भारतीय आध्यात्मिकता से ऐसा प्रेम था कि वे मध्य एशिया और तिब्बत घूमते हुए अन्ततः भारत में ही बस गये। रूसी चित्रकार वेरेशायगिन और प्रिंस शॉल्त्यकोव भी भारत आये और भारतीय विषयों पर बनाये गये उनके चित्रों की रूस में अनेक बार प्रदर्शनियाँ हुईं। शॉल्त्यकोव कृत 'भारत वृतान्त' का अनुवाद फ्रांसीसी में छपा। कार्ल मार्क्स को भारत का पहला परिचय इसी पुस्तक से मिला था। भारतवर्ष में फादर जेम्स लांग ने एक पुस्तक 'विलेज कम्युनिटीज इन इण्डिया एण्ड रशिया' प्रकाशित की।

रूस के बौद्धिकों का भारतीय विषयों से परिचय और उनके प्रति लगाव से सम्बन्धित यह विवरण बीसवीं शती के महान रूसी लेखकों-कवियों को समझने में सहायक हो सकता है। हिन्दी पाठकों की इसमें दिलचस्पी होनी चाहिए।

स्वेज नहर खुलने के बाद १८७१ में बम्बई और ओडेसा के बीच समुद्री जहाजों का आवागमन शुरू हो गया। अब रूस-भारत की यात्रा दुष्कर नहीं रह गया थी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूस में भारत विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी। इसके प्रमाण 'बिबिलियोग्राफिया इण्डी' की पुस्तक सूचियों के विभिन्न खण्डों में मिलते हैं।

आश्चर्य नहीं है कि अग्रगामी प्रतीकवादी कवि कांस्टैण्टिन बेलमॉण्ट ने भारत की यात्रा (१९१२) भी की और संस्कृत भी सीखी। उनके दो कविता संग्रहों के शीर्षक भारत से सम्बन्धित थे। एक का शीर्षक महावाक्य 'तत्वमसि' था। उनकी कविताओं में माया, चम्पक, योगी, मन्त्र, ब्रह्म, कमल जैसे रूपकों की भरमार है। वे शंकराचार्य के उद्धरण भी देते हैं। उनकी एक कविता 'योनि-लिंगम' है। इसमें भारतीय के अतिरिक्त यूनानी दन्त कथा से एफ्रोडाइट, एडोनिस, आइसिस, इश्तर, पैन और मेलिट्टा का भी उपयोग है। उन्होंने 'बुद्ध चरित', 'शकुन्तला' और 'शतकत्रय' के अलावा मीर तकी मीर, शाह सलीम, मियाँ जंगू और मीर सोज के कुछ शेरों के अनुवाद भी किये थे। उनकी आलोचना कृति 'जादू के समान कविता' (१९१५) का समकालीन रूसी कवियों पर बहुत प्रभाव पड़ा था। बेलमॉण्ट भी १९२० में लेनिन द्वारा देशनिष्कासन पाकर आप्रवासी होकर पेरिस में बस गये। इसलिए बोलशेविक सरकार ने सोवियत संघ या उसके बाहर उनके साहित्य का कभी प्रचार या उल्लेख नहीं किया। इसी कारण उन्हें भारत में कम जाना जाता है।

एक अन्य प्रतीकवादी कवि दिमित्री मेरेझकोवस्काई को ज्ञान का भाण्डार माना जाता था। १८९३ लिखी गयी उनकी पुस्तक 'पतन के कारण और आधुनिक रूसी साहित्य की नयी प्रवृत्तियाँ' का प्रभाव अक्टूबर क्रान्ति के बाद वर्षों तक बना रहा। उनकी कुछ कविताओं के शीर्षक 'निर्वाण', 'बुद्ध', 'शाक्यमुनि', 'उर्वशी' (कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीयम्' पर आधारित) हैं। उन्होंने महाभारत के हरिवंश और उशीनर के आधार पर भी कविताएँ लिखी हैं।

प्रतीकवादी वैलेरी ब्यूसोव (१८७३-१९२४) की एक कविता में भारतीय नारियाँ गोदावरी नदी के जल पर केले के पत्तों पर फूल प्रवाहित कर रही दीखती हैं। कुछ फूलों के अव्यवस्थित हो जाने पर अशुभ की आशंका की जाती है। इस कविता में 'लक्ष्मी', 'श्री', 'काम', 'काली' आदि देवी-देवताओं का उल्लेख है। उन्होंने 'अमरु' का अनुकरण करते हुए श्रृंगारिक कविताएँ भी लिखीं और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं का भी अनुवाद किया।

महान प्रतीकवादी कवि अलेक्सान्द्र ब्लोक ने भारत विषयक कविताएँ तो नहीं लिखीं लेकिन उनके पत्रों में कालिदास, ब्राह्मण और काशी के उल्लेख मिलते हैं। उनके समकालीन महान कवि और उपन्यासकार आन्द्रे बेली वेदों और उपनिषदों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म और शोपेनहावर के दर्शन से भी पूरे परिचित थे। उनकी एक कविता 'परवो स्विदानी' में बुद्ध-अनुगामी आनन्द, धर्मोत्तर, उपनिषद, अनुपपादक जैसे शब्द आये हैं। उन्होंने अपने उत्तरकालीन जीवन में धर्मकीर्ति कृत 'न्यायबिन्दु' का भी अध्ययन किया। अपने महान उपन्यास 'पीटर्सबर्ग' के प्राक्कथन में उन्होंने उल्लेख किया है कि इस उपन्यास को बुद्ध-अनुयायी निकोलाई अपोलोविच ने देख लिया है। लगता है कि बेली ने संस्कृत व्याकरण का भी अध्ययन किया था और उन्हें एतत्सम्बन्धित भाषा विज्ञान का भी ज्ञान था। उनके यहाँ नाद ब्रह्म और आत्मा-बुद्धि-मनस् जैसी अवधारणाएँ भी मिलती हैं। उनके अनुसार भारत की वैचारिक और दार्शनिक धारणाएँ सृष्टि जितनी पुरानी हैं। उनके साथी प्रतीकवादी व्याश्लाव इवानोव (१८६६-१९४९) के एक कविता संग्रह में रूसी में 'श्लोक' लिखे गये हैं। 'प्रसाद', 'शान्तत्व', 'वन', 'कर्म' जैसे संस्कृत शब्दों के रूसी अनुवाद मोटे टाइप में छपे हैं। उन्होंने हिन्दू मन्दिरों पर उत्कीर्ण मूर्तियों पर भी कविताएँ लिखी है।

इस विवरण से यह नहीं समझना चाहिए कि रूसी बौद्धिकों ने जर्मन या फ्रांसीसी प्रभावों से अपना मुँह मोड़ लिया था। वहाँ के प्रभाव तो सतत बने रहने वाले थे। लेकिन भारत के प्रति उनकी उन्मुखता भी बढ़ती गयी। भारत विषयक ज्ञान भी बढ़ता गया। इससे उनकी रचनाएँ भी प्रभावित हुईं।

अक्टूबर क्रान्ति के बाद साहित्य के क्षेत्र में भी भारत-सोवियत सम्बन्धों का निर्धारण केन्द्रीकृत हो गया। रूस में अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक सम्बन्धों के बारे में सारे निर्णय उच्च स्तर पर और बाद में सोवियत लेखक संघ की विभिन्न समितियों द्वारा लिये जाने लगे। सोवियत संघ में भारतीय कृतियों के अनुवाद में भारत के प्रगतिशील लेखकों की प्रधानता होने लगी। लेकिन रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुवाद सोवियत संघ की अनेक भाषाओं में लगातार होते रहे। यही बात सुमित्रानन्दन पन्त और प्रेमचन्द के विषय में भी कही जा सकती है। हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि महान कवियित्री अन्ना आख्मातोवा ने पंक्तियों के शाब्दिक रूपान्तरणों के आधार पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सुमित्रानन्द पन्त की तमाम कविताओं के अनुवाद किये थे। यह कार्य उन्होंने द्वितीय महायुद्ध के काल में ताशकन्द में रहते हुए किया था। आख्मातोवा भारतीय साहित्य में रुचि रखती थीं।

स्त्राविन्स्की- 'वसन्त ऋतु में मृत्यु संस्कार'

यह विवरण आज से ठीक १०० वर्ष पहले का है। पेरिस की जलवायु में कुछ गर्मी सी आ रही थी। 'थिएटर दे शैम्प एलाईसीज' के द्वार एक महीने पहले ०२ अप्रैल को खुल चुके थे। इसकी सीटें नगर के बौद्धिकों, कलाकारों, धनी-मानी शिष्टों और औपचारिक पहनावे पहने अन्य लोगों से भरी रहती थी। २९ मई १९१३ की सन्ध्या थी। आज 'बैले रूस' द्वारा 'द राइट ऑफ स्प्रिंग' का प्रदर्शन होने जा रहा था। इस बैले की संगीत रचना २७ वर्षीय युवा

संगीतकार ईगोर स्त्राविन्स्की ने की थी। इसके पहले स्त्राविंस्की मास्को के बोलशेविक थिएटर में 'द फायर बर्ड' और 'पेत्रूश्का' जैसी संगीत रचनाएँ और बैले प्रस्तुत कर चुके थे जिनको पूरी वाहवाही मिली थी। इसलिए सर्ज दियाघिलेव की बैले संस्था- 'बैले रुस'- की इस नयी प्रस्तुति को लेकर दर्शकों में बहुत आशाएँ थीं। पात्रों की वेशभूषा, मंच की साज-सज्जा और पर्दे विख्यात रूसी चित्रकार निकोलस रोरिक ने चित्रित किये थे। बैले नृत्य के महानतम नर्तक माने जा चुके वास्लाव निजिन्स्की ने इस प्रस्तुति में नृत्य रचना की थी।

कार्यक्रम का संगीत शुरू होने के कुछ मिनटों में ही दर्शकों-श्रोताओं में कुछ गड़बड़ी सी फैलने लगी। संगीत की मनोहर शब्दावली के विपरीत उनको ऐसा संगीत सुनायी पड़ रहा था जो वाद्यों की सीमा के बाहर था। श्रोताओं को आश्चर्य होने लगा कि क्या यह 'बैसून' है। श्रोताओं का एक वर्ग सीटियाँ बजाने लगा और शोर करने लगा। श्रोताओं में कुछ लोग इस नये संगीत को सुनना भी चाहते थे। वे शोर मचाने वालों से झगड़ने लगे। कुछ ही देर में आपाधापी शुरू हो गयी।

लेखक, कलाकार और फिल्म निर्माता ज्याँ काक्तेउ भी श्रोताओं में थे। उस रात्रि स्त्राविंस्की उनके साथ भोजन करने वाले थे। बाद में उन्होंने कहा कि श्रोता दो भिन्न वर्गों के लोग होते हैं। एक तो रूढ़िवादी रुचि वाला धनिक वर्ग होता है। दूसरा वर्ग 'बोहेमियन' लोगों का होता है जो हर नयी चीज का, वह अच्छी हो या बुरी, समर्थन करता है। ये लोग ऊपर 'बाक्सों' में बैठे हुए अभिजात वर्ग से घृणा करते हैं। लेकिन संगीत आलोचक भी आपस में बंटे हुए थे। कुछ लोग इस संगीत रचना को प्रेरणापूर्ण और नये मार्गों का अन्वेषक कह कर इसकी सराहना कर रहे थे। उनके विरोधी इसे संवादी- विवादी स्वरों का पंचमेल और आत्ममुग्धतापूर्ण अहंकार कह रहे थे।

उस दिन जो घटा उसे लेकर आज तक विवाद चल रहा है। संगीत निर्देशक लोग कहते हैं कि उस दिन श्रोता किस बात को लेकर क्रुद्ध हुए थे, कहना मुश्किल है। एक तो नृत्य में कोणीयता थी, बाहों में लिपटे लोगों को जैसे दूर फेंका जा रहा था। कूल्हों पर थप्पड़ मारे जा रहे थे। संगीत 'एटोनल' था। वैसे कभी अचानक बन्द होते फिर अचानक शुरू होते संगीत में भारी लयात्मकता थी।

उस शाम श्रोताओं में व्यवस्था लाने के लिए पुलिस बुलानी पड़ी। उन्होंने चालीस श्रोताओं को जो शोरगुल मचा रहे थे निकाल बाहर किया। लेकिन मध्यान्तर के बाद भी शोरगुल जारी रहा। इस बीच दियाघिलेव ने अपने कुछ लोगों को श्रोताओं के बीच बैठा दिया था। ये लोग अवसर देख कर ताली बजाते हुए वाहवाही कर रहे थे। इस पर शोर मचाने वाले और चिढ़ गये। वे इनको पीटने लगे।

शोरगुल इतना तेज था कि मंच पर नर्तकों को आरकेस्ट्रा का वादन भी नहीं सुनायी पड़ रहा था। इसलिए दियाघिलेव और निजिन्स्की मंच के पार्श्व से नर्तकों को संकेत देने का प्रयत्न करने लगे। दियाघिलेव ने नृत्य निर्देशक पिएर मोंत्यो को निर्देश दे रखा था कि जो भी हो संगीत बन्द नहीं होना चाहिए, बैले के पूरा होने तक, बाद में पात्रों द्वारा श्रोताओं के समक्ष आने तक, श्रोताओं का अभिवादन स्वीकार करने तक संगीत चलते रहना चाहिए। यह पश्चिमी संगीत और नृत्य दोनों ही क्षेत्रों में क्रान्ति का क्षण था। उसके बाद तो 'वसन्त ऋतु में मृत्यु संस्कार' विश्व की सर्वाधिक प्रस्तुत संगीत कृति, बैले कृति और 'कंसर्ट' कृति हो गयी है और इसके असंख्यों बार रिकॉर्ड जारी हुए हैं। पश्चिमी संगीत इसके बाद वही नहीं रह गया जो पहले था। न ही पश्चिमी नृत्य अब वह है जो कभी हुआ करता था। २९ मई १९१३

को सब कुछ बदल गया।

'वसन्त ऋतु में मृत्यु संस्कार' ('द राइट ऑफ स्प्रिंग') का उपशीर्षक था 'पैगन रूस के चित्र दो भागों में'। एक प्रकार से इसमें वसन्त ऋतु की अतीव सृजनात्मकता के विस्फोट के रहस्य की मीमांसा थी। स्त्राविन्स्की ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि एक दिन मैं 'द फायर बर्ड' के अन्तिम पृष्ठों पर काम कर रहा था। अचानक मेरी कल्पना में एक पैगन संस्कार के चित्र उभरने लगे। वृद्धगण चारों ओर गम्भीर मुद्रा में बैठे हुए हैं और बीच में एक तरुणी नृत्य कर रही है, वह नृत्य करते-करते मृत्यु को प्राप्त हो जाने वाली है। ये लोग वसन्त ऋतु के देवता 'यारिला' के लिए उसकी बलि दे रहे थे।

जुलाई १९११ में स्त्राविंस्की निकोलस रोरिक के अतिथि थे। रोरिक को रूसी लोक कला और प्राचीन रूसी संस्कारों का सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञ माना जाता था। इन दोनों ने मिल कर 'वसन्त ऋतु ...' का दृश्यालेख तैयार कर लिया। रोरिक उन दिनों प्रिंसेज मारिया तेनिशेवा के साथ स्मोलेंस्क में रुके हुए थे। इस दृश्यालेख की रचना में प्रिंसेज का बड़ा योगदान था। उनके पास लोक वेशभूषा और लोक सामग्रियों का बहुत बड़ा संग्रह था।

महान संस्कृति का निष्क्रमण

पीटर महान की नीतियों, विश्वविद्यालयों की शिक्षा के स्तरीकरण, अकेडेमी ऑफ साइंसेज की स्थापना, वैज्ञानिक शोधकार्यों, साहित्य की विवेचना, भाषाशास्त्रियों द्वारा साहित्य के मौलिक विश्लेषण, दार्शनिक विवेचन, विद्यालयों में अध्यापकों का उच्च विद्यास्तर, संगीतज्ञों, बैले नर्तकों और नर्तकियों का उत्कृष्ठ कार्य, अध्यात्मिक चिन्तकों द्वारा धर्म, मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्धों पर निरन्तर चल रहा विचार, यूरोप से आ रहे दर्शनों और कम्युनिज्म जैसी प्रवृत्तियों- रूसी संस्कृति पर इन सबका प्रभाव शताधिक वर्षों से पड़ रहा था। उन्नीसवीं शती के अन्त और बीसवीं शती के प्रारम्भ की रूसी संस्कृति को महान संस्कृति ही कहा जा सकता है। इस संस्कृति में तरह-तरह के राजनीतिक-सामाजिक चिन्तन भी चल रहे थे। रूसी समाज का जो वर्ग इस सारे कार्य में संलग्न था वही 'इण्टेलिजेंशिया' कहलाता था।

इण्टेलिजेंशिया राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल का साक्षी ही नहीं था, वह उसमें आगे बढ़ कर भाग लेता था। उसका प्रभाव साहित्यिक जीवन में भी दृष्टिगोचर हो रहा था। लेनिन इण्टेलिजेंशिया के इन सदस्यों के घोर विरोधी थे। लेकिन रूसी समाज में इन लोगों की ऐसी प्रतिष्ठा थी कि न तो इनको बन्दी बनाया जा सकता था, न ही इनकी हत्या की जा सकती थी। बोलशेविक सरकार अभी अस्थिर ही बनी हुई थी फिर भी १९२० में लेनिन ने तय किया कि इण्टेलीजेंशिया के लोगों को एकसाथ देश से निकाल दिया जाए। उन्होंने १६०० लेखकों, कवियों, कलाकारों, संगीतज्ञों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों आदि की सूची बना कर उनको एकसाथ यूरोप भिजवा दिया। इनमें रूस के श्रेष्ठतम कलाकार, संगीतकार, दार्शनिक, समाजशास्त्री, विद्वान, इंजीनियर, डाक्टर, कवि और लेखक थे। कुछ ही समय में केवल फ्रांस में रूसी आप्रवासियों की संख्या दो लाख तक पहुँच गयी। इतनी बड़ी संख्या में इतने महत्वपूर्ण लोगों के रूस छोड़ने का रूसी संस्कृति पर क्या असर पड़ा होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। ये लोग अधिकतर चेकोस्लोवाकिया, स्विटरलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड और अमरीका गये। आप्रवासियों की सबसे बड़ी बस्ती फ्रांस में थी जहाँ दो लाख रूसी आप्रवासी रहते थे। वहाँ रूसी भाषा के अनेक प्रकाशनगृह खुल गये और कई पत्र-पत्रिकाएँ

निकलने लगीं। रूस के महान साहित्यकार, महान कथा लेखक, कवि, नाटककार और आलोचक, संगीतज्ञ और बैले नृत्यों के प्रस्तोता, चित्रकार और मूर्तिकार, इंजीनियर और वैज्ञानिक अब रूस में नहीं रह सकते थे। उन्हें देश निकाला दे दिया गया था। ये सभी लोग देशभक्त थे। देश में रह गये अपने साथियों से उनके सम्बन्ध बहुत दिनों तक बने रहे। स्तालिन काल में इस सम्बन्ध को जुर्म बना दिया गया। इसके आधार पर लोगों को जेल, साइबेरिया में सश्रम प्रवास और फाँसी तक की सज़ा हो सकती थी। आप्रवासियों द्वारा रूस के बाहर के देशों में भी विशिष्ट प्रकार के रूसी साहित्य और संस्कृति का पल्लवन हुआ। जब सोवियत संघ के भीतर महान रूसी कवियों के प्रकाशन नहीं हो पाते थे तो रूसी भाषा में ये प्रकाशन आप्रवासी प्रकाशनगृहों द्वारा प्राग, बर्लिन, पेरिस, जेनेवा, न्यूयार्क, आदि नगरों से किये जाते थे।

व्लादिमीर मायकोव्स्की

हम पहले देख चुके हैं कि महान समकालीन रूसी कवि अपने समसामयिक कवि व्लादिमीर मायकोव्स्की को कम ही पसन्द करते थे। कारण वे ही थे जो (यहाँ अन्त में उद्धृत) आप्रवासियों की शोकसभा में दिये गये थे। हालाँकि त्स्वेतायेवा जैसे कवि उनके घोर प्रशंसक थे। लेकिन सोवियत शासन के लिए मायकोव्स्की अनिवार्य बन चुके थे।

व्लादिमीर मायकोव्स्की का जन्म १८९३ में ट्रान्सकाकेशिया के एक छोटे से गाँव में हुआ था। उनके पिता इस दूरवर्ती वनाच्छादित पहाड़ी प्रदेश में वन विभाग के कर्मचारी थे। उनका जन्म शिष्ट वर्ग में हुआ था। लेकिन गरीबी के कारण उन्हें नौकरी करनी पड़ रही थी। मायकोव्स्की को न तो काकेशस पसन्द था न ही वहाँ के स्कूल, वे छोटे कस्बे में रहते हुए बड़े नगरों के सपने देखा करते थे। उनके पिता की १९०६ में मृत्यु हो गयी। मायकोव्स्की १५ वर्ष की आयु में अपने परिवार के साथ मास्को चले आये।

मायकोव्सकी ने १९०८ में बोलशेविक पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर ली। उन्होंने भूमिगत होकर मज़दूरों के बीच पार्टी का प्रचार किया। शीघ्र ही वे गिरफ़्तार कर लिये गये। ग्यारह महीनों तक जेल में बन्दी रहते हुए उन्होंने कविता लिखना शुरू किया। जेल से छूटने के बाद कुछ समय के लिए वे क्रान्तिकारी कार्य से विरत हो गये। उनमें बचपन से ही चित्र बनाने की प्रतिभा थी। वे चित्र भी बनाने लगे, साथ ही कविताएँ भी लिखते रहे।

उन्होंने जब पहली बार अपनी कविता सुनायी तो उस कविता को किसी महान प्रतिभाशाली कवि की कविता के रूप में मान्यता मिल गयी। मायकोव्स्की रातों-रात प्रसिद्ध हो चुके थे। एक भविष्यवादी चित्रकार डेविड बर्लिक मायकोव्स्की को महान प्रतिभाशाली के रूप में लोगों से परिचित कराने लगे। यह सन् १९११ की बात है।

पास्तेरनाक ने अपनी आत्मकथा में लिखा है:

> १९१४ की गर्मियों में 'अरबत' के एक कॉफी हाऊस में दो प्रतिद्वन्द्वी साहित्यिक समूहों के बीच में मुकाबला होने वाला था। हमारे पक्ष में मेरे अलावा बोबरोव थे। दूसरे पक्ष का प्रतिनिधित्व त्रेत्याकोव और शेरशेनेविच करने वाले थे। वे अपने साथ मायकोव्स्की को भी ले आये।
>
> मुझे तभी यह याद आया कि मैं इस नये आदमी को पहले से जानता हूँ। मैंने उसे 'पाँचवे जिमनाज़ियम'

(एक स्कूल) के हॉल में देख रखा था। वहाँ वह मुझसे दो साल पीछे पढ़ रहा था। मैंने उसे 'सिम्फनी' (संगीत हॉल) में भी देखा था। मध्यान्तर होने पर वह गलियारे में घूमा करता था।

मुकाबला शुरू होने के पहले मुझे मायकोव्स्की के एक अन्धानुयायी ने उनकी एक सद्यःप्रकाशित रचना दिखलायी। उन दिनों मायकोव्स्की को यह पता नहीं था कि भविष्य में उनका 'ईश्वर' कौन हो जायेगा? लेकिन वह नव्यता, उपहास और क्रोध अवश्य प्रदर्शित करते थे। ये बातें निरर्थक थीं और प्रतिभाशून्यता का लक्षण थीं। लेकिन मुझे एक कविता बहुत पसन्द आयी। यह उनका पहला सर्वोत्कृष्ट प्रयोग थी। यह कविता बाद में उनके पहले कविता संग्रह में छपी।

उस दिन कॉफी हाऊस में न केवल कवि, कवि की कविता भी पसन्द आयी। मेरे सामने गम्भीर मुखाकृति वाला एक सुन्दर युवा बैठा हुआ था जिसके कण्ठ से सुमधुर स्वर निकलते थे लेकिन उसके हाथ किसी बाक्सिंग करने वाले के हाथ थे। उसकी बातों में कहीं दया नहीं थी। उसकी उक्तियाँ भी हत्यारी होती थीं। वह किसी समुद्री लुटेरे और स्पेनी आवारागर्द के बीच का कोई व्यक्तित्व था।

मुझे शीघ्र ही प्रतीत हो गया कि इस सुन्दर व्यक्ति में वाक्पटुता और प्रतिभा जितनी भी हो, वह इसका मुख्य लक्षण नहीं है। उसके बारे में मुख्य बात यह है कि उसने अपने अन्तर्तम को लोहे की जकड़न से ढक रखा है। यह लौह जकड़न उसके शिष्ट जनोचित व्यवहार पर भी पड़ी हुई है और इसके कारण मायकोव्स्की जितना है अपने को उससे कम सुन्दर, कम वाक्चतुर, कम प्रतिभावान नहीं प्रदर्शित कर पाता।

अचानक उसके दृढ़संकल्प ने, अपनी पाँचों उंगलियों से अपनी जुल्फों को सँवारते हुए उसने मुझे एक संश्लिष्ट भूमिगत चरित्र की याद दिलायी जो दोस्तोयेव्स्की के उपन्यासों का पात्र था- एक कनिष्ठ, देहाती, आतंकवादी।

मायकोव्स्की की प्रारम्भिक रचनाएँ भविष्यवाद का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी काल में उन्होंने 'जनरुचि पर तमाचा' लिखी। यह उनके पहले संग्रह का ही शीर्षक थी। भविष्यवादी यन्त्र सभ्यता को गौरवान्वित करते थे। कुछ ही दिनों में मायकोव्स्की को यह समझ में आया कि यन्त्र सभ्यता को गौरवान्वित करना पूँजीवाद को प्रतिष्ठित करने जैसा है। उन्होंने प्रथम महायुद्ध के समय युद्धविरोधी कविताएँ लिखीं- 'पतलूमधारी बादल', 'मेरुदण्ड बाँसुरी', 'युद्ध और शान्ति' आदि इस काल की श्रेष्ठ कविताएँ हैं।

मायकोव्स्की को क्रान्ति से, आधुनिक और विशालाकार निर्मितियों से, मशीनरी और वास्तु निर्माणों से बहुत प्यार था। अधिकांश रूसी कवियों के विपरीत उनमें प्रकृति के प्रति कोई संवेदना नहीं थी। उनकी कविताओं में एक विशाल महानगर में विरचित हो रहे वृहदाकार अमूर्त विचार, वृहदाकार प्रतीक और वृहदाकार आकृतियाँ मिलती हैं। इनके मध्य में इन सबकी तुलना में सबसे अधिक वृहदाकार मायकोव्स्की होते हैं। उन्होंने एक पूर्णतया नयी कविता लिखी जिसका ताना-बाना असंस्कृत था। उसमें देहाती, तुकबहुल, बहुबोले शब्दों की भरमार थी। लेकिन इस वाह्यरूप के भीतर मायकोव्स्की की आरम्भिक और अन्तिम दौर की कविताओं में मर्मभेदी गीतात्मकता भी थी। मायकोव्स्की का आत्मप्रचार आत्मदया में बदल जाता है। यह बात उनके बड़बोले शब्दों वाली कविताओं में भी नहीं छिप पाती।

कुछ शब्द अपनी माँ के बारे में

नीलपोथा के फूलों के चित्रों से घिरी हुई है माँ।
और मैं घूम रहा हूँ मोर के पंख पहने
पैरों से रोंदते हुए कर्पूर फूलों के गुच्छों को।
गेहूँ के खेतों में सरसरा रही है हवा,
मैं बैठ जाता हूँ खिड़की के पास
इस विश्वास से
कि फिर दिख सकेगा
घर के ऊपर बैठा बादल।
लोगों की आवाजें हैं बीमार माँ के पास
भागती हुई चारपाई और खाली कोनों के बीच।
मालूम है माँ को-
शुस्तोव कारखाने की छतों से निकलते
ये पागल झुण्ड हैं विचारों के।
और जब मेरा माथा
नमदे की टोपी से ढका हुआ
चोट खायेगा जंग लगे चौखटे से
मैं चीखुँगा
हवा की दहाड़ को दबाते हुए:
''माँ!
मेघनृत्य में डूबी मेरी एड़ियों से टूटे
दुखों के तुम्हारे फूलदान का
अफ़सोस होने लगे जब मुझे
किसका मिल सकेगा स्नेहभरा स्पर्श?
अवान्त्सो की दुकानों के साईनबोर्ड की मार खाये
इन सुनहरे हाथों को
किसका मिल सकेगा स्नेहभरा स्पर्श...?

स्तालिन युग में मायकोव्स्की हर तरफ छाये रहे। उनकी सैकड़ों मूर्तियाँ, उनके विशालाकार फ़ोटो चित्र आज भी रूस की सड़कों पर दिख जायेंगे। कालान्तर में मास्को के केन्द्र में स्थित मायकोव्स्की स्क्वायर और वहाँ लगी विशालाकार मूर्ति सोवियत संघ के कवियों के लिए आन्तरिक स्वतन्त्रता का प्रतीक बन गयी। स्तालिन की मृत्यु के बाद वहाँ पर हर वर्ष कविता दिवस मनाया जाने लगा। यह सोवियत संघ में उदारीकरण का पहला लक्षण था।

हमें शब्दों की आवश्यकता है- जीवन के लिए (मायकोव्स्की)

''हम उद्देश्यहीन कला को मान्यता नहीं देते। जीवन के प्रत्येक चरण का अपना शब्द सूत्र होता है। रूस में शहरों का तनावपूर्ण जीवन विकसित हो रहा है। जिसे फुर्तीले, किफ़ायती और झकझोरने वाले शब्दों की ज़रूरत है। पर हालत आज यह है कि रूसी साहित्य में तुर्गेनेव के जैसा ज़मीन्दारों का गाँव छाया हुआ है। हम जब हर जीवन्त वस्तु, पुनः पैदा होती हर अनुभूति को ग्रहण करते हैं यह अवश्य देखते हैं कि उनके नामों में सह सम्बन्ध सही है या नहीं। यदि हमें पुराने शब्द शक्तियुक्त नहीं लगते तो हम नये शब्द रच डालते हैं। अवांछित शब्दों को जीवन मिटा डालेगा और वांछित शब्द भाषा में समा जायेंगे।''

(मायकोव्स्की, 'श्वेत ध्वजा के बिना', १९१४)

''मैं ढीठ हूँ जिसे पीली जैकेट पहने ऐसे लोगों के बीच टपक जाने में बहुत मज़ा आता है जो अपने रोवीले सूट-बूट में अपनी भद्रता और तमीज़ सावधानी से बचा कर रखते हैं।

''मैं सीनिक हूँ जिसकी मात्र एक नज़र से ही लोगों के कपड़ों पर प्लेट जितने आकार के देर तक न मिटने वाले चिकने धब्बे पड़ जाते हैं। मैं ठेले वाला हूँ जिसे बैठक में अन्दर आने दिया नहीं कि अभिजात भाषा से अपरिचित ठेलेवालों की बोली भारी कुल्हाड़ी की तरह प्रहार करने लग जाती है।

''मैं प्रचार का भूखा हूँ जो पागलों की तरह इस उम्मीद से अखबारों के पन्ने पलटने लगता है कि उसका नाम कहीं छपा होगा।

''मैं...हूँ।

''तो, मेरे बारे में बोलने और लिखने वालों, आशा है कि इस तरह की स्वीकारोक्ति के बाद आप लोग अपने उच्च शैक्षणिक स्तर के समीक्षात्मक लेखों या भाषणों में यह सिद्ध करने की कोशिश नहीं करेंगे कि मैं बहुत कम आकर्षक हूँ। इसी तरह का हूँ मैं, बाईस वर्ष की आयु का युवक ब्लादीमिर ब्लादीमिरोविच मायकोव्स्की।

''वे जो मेरे इन शब्दों की सत्यता पर अपने विश्वास को और अधिक सुदृढ़ करना चाहें उनसे मेरी प्रार्थना है कि वे इस लेख के साथ छपी तस्वीर को भी ध्यान से देखें...। मैं इस घातक निष्कर्ष तक इसलिए नहीं पहुँचा हूँ कि मैं अपने लेखक बन्धुओं को उनकी ईमानदारी से कमायी गयी रोटी वंचित करूँ बल्कि इसलिए कि सच्चाई यही है लेकिन।

''लेकिन आप लोगों को इससे क्या लेना देना?

''क्या आप धूप या इन्द्रधनुष को भी डाँटते हैं?

''इसलिए कि इन्द्रधनमुष से माँस या कट्लेट काटे नहीं जा सकते और धूप से आप अपनी बीवी के लिए सलवार नहीं सिला सकते? या सम्भव है आप इन्द्रधनुष या धूप को इसलिए डाँटते फिरते हों कि वह स्विट्जरलैण्ड में श्रमिक वर्ग की हालत के प्रति बिल्कुल उदासीन है।

''आप सबको बुद्धिमान व्यक्ति मानते हुए मुझे उम्मीद है कि आप ऐसा नहीं करते।

''इसलिए नहीं करते क्योंकि इन्द्रधनुष के पास अपने विशेष काम हैं जिसे वह ईमानदारी व प्रतिभा के साथ करता है।

''इसलिए कृपया बाईस वर्ष के ढीठ, सैनिक, ठेले वाले को डाँट पिलाने के बाद बिल्कुल अज्ञात कवि ब्लादीमिर मायकोव्स्की को अवश्य पढ़ें''।

(मायकोव्स्की- 'तरह तरह के मायकोव्स्की', १९१५)

मेरुदण्ड-बाँसुरी

(प्राक्कथन)
कविताओं से भरी खोंपड़ी
जाम की तरह उठाता हूँ मैं
तुम सबकी सेहत के लिए
जो मुझे पसन्द रहे और आज भी हैं
जिन्हें अपने हृदय की गुफाओं में
देव प्रतिमाओं की तरह सजाये रखा है मैंने।
अकसर सोचता हूँ मैं-
अच्छा नहीं होगा क्या
अपने अन्त में लगाना गोलियों का पूर्ण विराम।
कुछ भी हो आज दे रहा हूँ मैं
अपने संगीत का कार्यक्रम आखरी बार।
इकट्ठी करो दिमाग के सभागार में
प्रियजनों की अन्तहीन कतारें।
हँसियों के ठहाके उँडेलो आँखों से आँखों में,
शाही शादियों से सजाओ
इस रात को,
खुशियों से भरो जिस्मों को
भूले न कोई यह रात,
आज मैं बजाऊँगा बाँसुरी-
अपनी रीढ़ की हड्डी।

एक

पाँव के पंखों से लाँघता कोसों लम्बी सड़कें
कहाँ जाऊँगा मैं यह नरक छोड़ कर।

किस दिव्य हॉफ्मान की
अभिशप्त तुम आयीं कल्पनाओं में?
तंग पड़ गयी हैं सड़कें
खुशियों के तूफानों को,
नज़र नहीं आता अन्त कहीं
सजे-धजे लोगों के त्योहार का।
सोचने लगता हूँ जब
बीमार और तपे हुए खून के लोदों की तरह
टपकने लगते हैं विचार खोपड़ी से।
त्यौहारों का रचयिता मैं
किसी का भी ढूँढ़ नहीं पाता साथ
त्यौहारों में शामिल होने के लिए।
गिर पड़ूँगा इसी पल धड़ाम से पीठ के बल,
फोड़ दूँगा सिर नीवा की चट्टानों पर।
हाँ, मैंने ही नकारा था खुदा को,
कहा था-खुदा है नहीं।
पर खुदा नारकीय गहराइयों से
निकाल लाया बाहर उसे
थरथराने लगते हैं पहाड़ भी जिसके सामने।
और हुक्म दिया मुझे-
ले, कर प्यार अब इसे।
सन्तुष्ट है खुदा।
आसमान के नीचे ढलान पर
पागलों की तरह चिल्लाता रहा दुखी इन्सान।
खुदा पौंछता है हथेलियाँ।
सोचता है वह-
'ठहर तू, ब्लादीमिर।'
उसे ही तो आया था खयाल
तुम्हारे लिए पति ढूँढ़ निकालने का।
अब यदि चुपके से पहुँच जाऊँ
तुम्हारे शयन कक्ष में
महकने लगेंगे ऊनी कम्बल

धुआँ उठने लगेगा शैतान के माँस का।
ऐसा नहीं किया मैंने
बल्कि थरथराता रहा गुस्से में सुबह तक
कि तुम्हें ले गये प्यार करने के लिए
मैं बस खरोंचता रह गया दिमाग।
क्यों न खेली जाय ताश
क्यों न शराब में सहलाई जाए
मरे हुए दिल की गर्दन।
मुझे जरूरत नहीं अब तेरी।
कुछ फ़र्क नहीं पड़ने का,
मालूम है मुझे
दम तोड़ दूँगा कुछ ही क्षणों में।
ओ खुदा,
सचमुच है तू अगर
तूने ही बुना है अगर तारों का आकाश
तूने ही भेजी है अगर
मुझे परखने के लिए
दिन ब दिन बढ़ती यह तकलीफ़
तो पहन न्यायाधीशों का पहरावा!
मेरे आने का तू इन्तज़ार करना!
मैं आ जाऊँगा ठीक वक़्त पर
एक भी दिन की देर किए बिना।
सुनो,
ओ उच्चतम अन्वेषणाधिकारी!
बन्द कर लूँगा मुँह।
काटे होठों से निकलने न दूँगा एक भी चीख।
बाँध दो मुझे घोड़े की पूँछ की तरह पुच्छल तारे से,
और निकाल फेंको
अपने दाँतों की तरह।
या
जब मेरी आत्मा छोड़ दे यह शरीर
और हाज़िर हो जाए तुम्हारे दरबार में,

क्रुद्ध तुम
फाँसी के फन्दे की तरह
झुलाना आकाश-गंगा
और झकझोर डालना
मुझ अपराधी को
चाहो तो टुकड़े-टुकड़े कर डालना मेरे
ओ खुदा,
मैं स्वयं पोछुंगा तेरे हाथ।
सुन इतनी सी बात
ले जा मेरे पास से इस औरत को
बनाया है जिसे तूने मेरी प्रेमिका?
पाँव के पंखों से लाँघता कोसों लम्बी सड़कें
कहाँ जा पाऊँगा मैं यह नरक छोड़!
किस दिव्य हॉफ्मान की
अभिशप्त तुम आयी कल्पनाओं में?

दो

और आसमान
धुएँ के बीच भूल गया अपना रंग,
और बादल हैं जैसे फटीचर शरणार्थी
मैं उदित हूँगा अपने अन्तिम प्यार में चमत्कार हुआ
क्षय रोगी के गालों की लाली की तरह।
ढँक दूँगा खुशियों से
उन लोगों की भीड़ के शोर को
जो भूल गये हैं स्वाद अपने घर और आराम का।
सुनो, लोगों, निकल आओ खाइयों से बाहर।
लड़ लेना बाद में।
अगर विवेकहीन लड़ाई हो भी रही हो
खोलते खून में
बाखुस की तरह
क्षीण नहीं पड़ेंगे प्रेम के शब्द।
प्रिय जर्मन लोगों,

मुझे मालूम है- तुम्हारे होठों पर
ग्रेटखन है ग्योटेकी।
संगीन पर मुस्कराते हुए
मरता है फ्रांसीसी।
मुस्कान खिली रहती है
घायल बेहोश यानचालक के होंठों पर।
ओ त्राविया़ता
याद आता है चुम्बन में डूबा तुम्हारा चेहरा।
मुझे मतलब नहीं उस गुलाबी गोश्त से
नोंचती आ रही हैं जिसे शताब्दियाँ।
आज लेट जाओ नये पाँवों के पास।
ओ सुर्खी किये लाल गालों वाली
गा रहा हूँ मैं आज तुम्हें।
सम्भव है
जब दाढ़ी पर सफ़ेद रंग फेरेंगी शताब्दियाँ
संगीन की धारा की तरह
बाकी बचोगी
तुम
और एक शहर से दूसरे शहर भगाया जाता हुआ मैं।
ले जायेंगे समुद्र पार तुम्हें
रात की खोह में छुपी होगी तुम।
लन्दन की धुन्ध चीरते हुए
तुम्हें भेजे हुए मेरे चुम्बन स्पर्श करेंगे मशालों के होठों का।
मरुस्थलों की लौ में
फैलाऊँगा मैं कारवाँ
जहाँ पहरा दे रहे होंगे शेर,
तुम्हारे लिए
हवाओं द्वारा त्रस्त धूल के नीचे
सहारा की तरह
रख दूँगा अपने दहकते गाल
होठों पर बिठाए मुस्कान
तुम देखती हो-

कितना है सुन्दर वृषयोद्धा
और मैं ईर्ष्या को बैल की आँख की तरह
निकाल फेंक दूंगा दर्शक दीर्घा पर
घसीट लाओगी पुल तक अपने भुलक्कड़ कदम।
सोचोगी-
कितना अच्छा है नीचे।
यह मैं दूँगा सैन की तरह
पुल के नीचे बहता हुआ।
पुकारुंगा, हँस दूँगा, सड़े दाँत दिखाते हुए।
दुलत्ती चलते घोड़े पर बैठी
किसी दूसरे के साथ
तुम लगा दोगी आग
स्त्रेल्का या स्कोनिनिकी में
नग्न और प्रतीक्षारत
यह मैं हूँगा चाँद की तरह तरसाता हुआ।
उन्हें ज़रूरत पड़ेगी
मुझ ताकतवर की।
आदेश मिलेगा :
जा, मार आ अपने को युद्ध में,
तेरा नाम होगा
बम से टुकड़ा-टुकड़ा हुए अन्तिम होठों पर।
मैं मिट जाऊँगा मुकुट
या सेंट हेलेन की तरह।
ज़िन्दगी के तूफ़ान पर लगाम लगाए
मैं हूँ बराबरी का उम्मीदवार
कैद के लिए या ब्रह्माण्ड के सम्राट पद के लिए।
सम्राट होना
लिखा है मेरे भाग्य में-
मैं हुक्म दूँगा प्रजा को
सोने के सिक्कों पर तुम्हारा मुखड़ा कुरेदने का।
और वहाँ
जहाँ टुण्ड्रा की तरह फीकी पड़ जाती है दुनिया,

जहाँ उत्तरी हवाओं से
चलता है नदियों का व्यापार-
हाथों पर खरोंचुँगा लिली का नाम
और चूमुँगा उन्हें कारगार के अन्धकार में।
सुनो लोगों,
तुम जो भूल गये हो आकाश का नीला रंग,
तुम जो बिदक गये हो ढोरों की तरह,
चमक उठा हो इस दुनिया में अन्तिम प्यार।

तीन

भूल जाऊँगा मैं- साल, दिन, तारीख,
बन्द कर दूँगा स्वयं को अकेला कागज़ के पन्ने के साथ,
दिखाओ अपने करिश्मे, ओ अमानवीय जादू,
यातनाओं से आलोकित शब्दों के।
आज प्रवेश ही किया था मैंने
कि महसूस हुआ
सब कुछ ठीक नहीं है इस घर में।
तुम कुछ छिपा रही थी अपने रेशमी वस्त्रों में,
फैल रही थी खुशबू हवा में धूप की।
'खुश हो क्या?'
उत्तर में ठण्डा 'बहुत'।
भय ने तोड़ दी है विवेक की बाड़
दहकता हुआ बुखार में
मैं लगा रहा हूँ निराशाओं के ढेर।
सुनो,
तुम छिपा नहीं सकोगी यह लाश,
ज्वालामुखी के सिर पर ये भयानक शब्द।
कुछ भी हो
तुम्हारी हर माँसपेशी
भोंपू की तरह दे रही है आवाज़-
मर गयी, मर गयी, मर गयी।
नहीं, जवाब दो!

झूठ मत बोलो!
कैसे जाऊँगा मैं वापिस इस तरह?
दो कब्रों के गढ्ढों की तरह
खुद आयी हैं आँखें तुम्हारे चेहरे पर।
गहरी होती जा रही हैं क़ब्रें।
दिखायी नहीं देता कोई तला।
लगता है
गिर पड़ूँगा दिनों के फाँसी के तख्ते से
रस्सियों की तरह टांग दिया है मैंने अपना हृदय,
मैं झूल रहा हूँ उन पर
शब्दों के करतब दिखाता।
मालूम है मुझे
प्यार ने घिसा दिया है उसे।
सैकड़ों लक्षणों के आधार पर
लगा सकता हूँ मैं ऊब का अनुमान।
मेरे हृदय में
प्राप्त करो अपना यौवन!
शरीर के उत्सव से
परिचय कराओ अपने हृदय का।
मालूम है मुझे-
हर कोई चुकाता है औरत की कीमत।
कोई फ़र्क नहीं पड़ेगा।
अगर पेरिस के फैशनेबल कपड़ों के बजाए
तुम्हें पहनाऊँ मैं धुँआ तम्बाकू का।
प्राचीन पैगम्बर की तरह
हज़ारों राहों से ले जाऊँगा अपना प्यार।
जिस मुकुट को बनने में लगे हैं हजारों वर्ष
इन्द्रधनुष की तरह अंकित है उसमें मेरी पीड़ा के शब्द।
जिस तरह वजन उठाने के खेल में
पिर की जीत हासिल की हाथियों ने,
प्रतिभाशाली व्यक्ति की तरह
मैंने कदम-ताल किया है तुम्हारे दिमागों पर।

लेकिन व्यर्थ है यह सब
तुम्हें तो तोड़ नहीं पाऊँगा मैं।
खुश हो लो,
हाँ, खुश हो लो,
तुमने कर डाला है अन्त।
अब दुख हो रहा है इतना
कि बस जा सकूँ अगर नहर तक
पूरा सिर दे डालूँगा पानी में।
तुमने दिये होंठ।
कितने भद्दे ढंग से पेश आती हो तुम अपने होठों से-
हुआ नहीं उन्हें कि ठण्डा पड़ जाता हूँ मैं
जैसे कि तुम्हें नहीं
चूम रहा होऊँ मन्दिर की ठण्डी चट्टानों को।
खड़ाक खुले किवाड़।
उसने किया प्रवेश,
सड़कों की खुशी से भीगा हुआ मैं
विलाप में टूट गया दो हिस्सों में।
मैं चिल्लाया उस पर।
''ठीक है
चला जाऊँगा।
तेरी जीत हुई,
चिथड़े पहना उसे!
कोमल पंखों जैसे जिस्म पर भर गयी है रेशम को चर्बी।
सावधान, कहीं उड़ न जाए तेरी बीबी
बाँध दे उसके गले में हीरों के हार।''
उफ़ यह रात।
स्वयं ही कसता गया और अधिक निराशाओं को।
थरथराने लगा है कमरे का थोबड़ा
मेरे हँसने और रोने से।
और पिशाच की तरह
तुम से दूर ले जाया गया चेहरा उठा।
उसके गालों पर आँखों की तरह चमक उठीं तुम।

किसी नये व्यालिक की कल्पनाओं में
आयी हो जैसे यहूदी सिओना-साम्राज्ञी।
टेक दिये घुटने यातनाओं के आगे।
सम्राट अल्वेर्त
सारे शहर भेंट कर
उपहारों से लदे जन्म-दिन की तरह खड़ा है मेरे साथ।
सोना हो जाओ धूप, फूल और घास में
बहार हो जाओ, ओ सब तत्वों के जीवन!
मैं चाहता हूँ एक ही नशा
कविताओं को पीते रहने का।
ओ प्रिये,
तुम जो चुरा चुकी हो हृदय
हर चीज़ से वंचित कर उसे,
बहुत दुख दे रही हो तुम मुझे।
इससे अधिक, सम्भव है, सोच न पाऊँ कुछ और।
आज की तारीख पर फेरो त्योहारों के रंग।
दिखाओ, सूली से अपना करिश्मा, ओ जादू,
देखो-
शब्दों की कीलों से
कागज़ पर ठुका पड़ा हूँ मैं।

सोवियत संघ के अग्रगामी कलाकारों को यह गुमान था कि जनता बड़ी संख्या में उनकी कृतियों का आस्वादन करेगी। लेकिन क्रान्ति के २० वर्ष बाद भी उन्हें किसी तरह की बड़ी लोकप्रियता नहीं मिली, फिर भी वे सोवियत शासन के लिए उपयोगी बनने का प्रयत्न करते रहे। व्लादिमीर मायकोव्स्की ने इस दिशा में महती प्रयत्न किये। उन्होंने १५ अक्टूबर १९२७ को मास्को में एक भाषण देते हुए कहाः

> मुझे इस बात की कोई परवाह नहीं है कि मैं कवि हूँ या नहीं। मैं कवि नहीं, मैं सबसे पहले और सबसे अधिक वह आदमी हूँ जिसने अपनी लेखनी को वक़्त की सेवा में लगा दिया है। 'सेवा' शब्द पर ध्यान दीजिए। यह जो सही यथार्थ है, जिसका मार्ग सोवियत सरकार और पार्टी दिखलाती है।

बार-बार इस तरह के दावे करने के पीछे एक तरह की दर्दनाक व्यथा छिपी हुई थी। बार-बार वह मुखौटा ओढ़ने की व्यथा जो उसने कम्युनिस्ट वाहवाही पाने के लिए एक बार ओढ़ लिया था। उसे बार-बार ओढ़े रहना असम्भव हो गया था। मायकोव्स्की ने ३६ वर्ष की आयु में १४ अप्रैल १९३० को गोली मार कर अपनी हत्या कर ली। उनकी अन्तिम कृति थी सेर्गेई येसेनिन पर लिखी गयी एक कविता। पार्टी के लोगों ने उनसे येसेनिन पर एक ऐसी कविता लिखने के लिए कहा था जिससे येसेनिन द्वारा आत्महत्या के पूर्व लिखी गयी कविता का खण्डन हो सके। मायकोव्स्की

ने ये कविता लिखी लेकिन उसके तुरन्त बाद वे नहीं रहे।

मायकोव्स्की की आत्महत्या से रूस का सास्कृतिक समाज स्तब्ध हो गया। मास्को के कला विद्यार्थियों का एक दल २१ फरवरी १९२१ को लेनिन से मिलने आया। बातचीत में लेनिन ने उनसे पूछा कि आप लोग क्या पढ़ते हैं?क्या आप पुश्किन को पढ़ते हैं? उत्तर मिला नहीं, पुश्किन बुर्ज्वा साहित्यकार है। हम लोग मायकोव्स्की को पढ़ते हैं। लेनिन की पत्नी नदेझदा क्रुप्सकाया ने इस घटना को अपनी डायरी में दर्ज कर लिया था। क्रुप्सकाया ने लिखा है कि इसके बाद लेनिन मायकोव्स्की से कुछ सहानुभूति करने लगे। स्तालिन तो लेनिन से अधिक व्यवहारिक थे। वह १९३५ में अपने राजनीतिक विरोधियों विशेषकर ग्रिगोरी जिनोवीव, लेव कामेनेव, निकोलाई बुखारिन की हत्या की योजना बनाने में लगे हुए थे। स्तालिन जिस मण्डली में थे उसमें से कुछ लोगों को अपनी ओर भी मिलाना चाहते थे। आखिरकार ये लोग कम्युनिस्ट आदर्शों पर अटूट श्रद्धा करते थे, ईमानदार थे, लगन से काम करते थे और आशावादी थे। संयोग की बात- इन सभी को मायकोव्स्की की कविता पसन्द थी। मायकोव्स्की की आत्महत्या के अगले दिन 'प्रावदा' में एक शोक लेख छपा। इस सर्वाच्च मंच से सोवियत साहित्य का, सोवियत संस्कृति का नया अभियान शुरू हो गया।

मायकोव्स्की की आत्महत्या के बाद अनेक शोक सभाएँ हुईं। एक शोक सभा पेरिस में कम्युनिस्ट लेखकों द्वारा आयोजित की गयी। (मायकोव्स्की स्वयं कभी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं बने थे। लेकिन उन्होंने कम्युनिस्ट शासन के प्रचार के लिए बहुत से कार्य और संगठन किये थे। कम्युनिस्ट शासन से मोह भंग के कारण ही उनको आत्महत्या करनी पड़ी।) फ्रांस के कम्युनिस्ट कवि और उपन्यासकार लूई अरागों की पत्नी एलसा ट्रायलेट मायकोव्स्की की प्रेमिका लिली ब्रिक की सगी बहन थीं। उन्होंने जो शोकसभा आयोजित की उसमें अपने कम्युनिस्ट विचार से विपरीत विचार रखने वालों की पिटाई भी करवायी।

एक शोकसभा आप्रवासी रूसियों ने भी की। इसमें ईवान बूनिन और व्लादिमीर नैबोकोव ने भाग लिया था। उन्होंने निम्नलिखित शोकप्रस्ताव कियाः

> मायकोव्स्की की काव्य प्रतिभा के मूल्यांकन के लिए जो भी सूक्ष्म विचार अपनाये जायें, हम रूसी साहित्यकार अपने साहित्य की वर्तमान अवस्था से ज्यादा परिचित हैं। हम बलपूर्वक यह कह रहे हैं कि मायकोव्स्की कभी भी एक महान रूसी कवि नहीं रहे। वे सोवियत संघ की सरकार और वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े हुए छन्दकार थे।

मायकोव्स्की द्वारा आत्महत्या करने के पीछे उनका सोवियत शासन से विरोध भी प्रकट होता था। इसको नज़रन्दाज करते हुए स्तालिन ने आतंक काल का प्रारम्भ करते हुए १९३५ में कहा- 'मायकोव्स्की हमारे सोवियत युग के सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रतिभाशाली कवि हैं और रहेंगे। उनकी स्मृति और उनकी कृतियों की उपेक्षा अपराध है।' इसके बाद हर क्षेत्र में मायकोव्स्की की कृतियाँ प्रमाण बन गयी हैं। उनका सोवियत जीवन के हर क्षेत्र में प्रचार और उपयोग होने लगा।

मनुष्यकृत दुर्भिक्ष और कीड़े-मकोड़े बन चुके बालक (वसिली ग्रॉसमॉन)

लेनिन ने १९२० में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की स्थापना की और उसके जरिये दुनियाभर में सोवियत हितों का पोषण करने, कम्युनिस्ट विचारधारा को फैलाने, कम्युनिस्ट पार्टियाँ बनाने और उनको शक्तिशाली बनाने, साथ ही

उनकी नीतियाँ निर्धारित करने का कार्यक्रम शुरू किया। इण्टरनेशनल ने अपने प्रतिनिधियों के जरिए सलाह और साधन प्रदान करके भारतवर्ष में भी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना करवायी। दुनियाभर की कम्युनिस्ट पार्टियों की स्थापना सोवियत सलाह और साधनों से ही हुई थी। चार वर्षों तक गृहयुद्ध चलने के कारण रूस में भयंकर आर्थिक दुरवस्था फैली हुई थी। उससे निपटने के लिए 'नयी आर्थिक नीति' की घोषणा हुई। इस नयी नीति का और भी बुरा परिणाम हुआ और भयंकर दुर्भिक्ष फैल गया। १९२३ में सोवियत साम्यवादी गणराज्य संघ का संविधान बना। लेनिन लम्बी बीमारी के बाद १९२४ में चल बसे। उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न १९२७ में त्रात्स्की और उनके समर्थकों के कम्युनिस्ट पार्टी से और देश से निष्कासन और कम्युनिस्ट पार्टी पर स्तालिन का एकाधिकार स्थापित हो जाने के बाद ही सुलझ पाया।

वसिली ग्रॉसमैन सोवियत संघ के उत्कृष्ट कथालेखक थे। सोवियतकाल में उन्होंने सामाजिक यथार्थवाद के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए उपन्यास लिखे। इनके पुराने उपन्यास आज कल न तो छपते हैं न ही इन्हें कोई पढ़ता है। ग्रॉसमैन ने भी इन्हें तज दिया था। लेकिन युद्ध के दौरान उन्होंने मोर्चे से युद्ध की रिपोर्टें भी लालसेना के पत्र के लिए लिखी थीं। इन रिपोर्टो के साहित्यिक महत्व के कारण इनका संकलन अभी २१वीं शती में प्रकाशित हुआ है। बाद में इन्होंने एक उपन्यास 'लाईफ एण्ड फेट' लिखा जिसके प्रकाशन में बहुत बाधाएँ आयीं। सोवियत सरकार के विचार प्रमुख सुस्लोव ने तो यह कह दिया कि यह उपन्यास सोवियत संघ में अगले दो सौ वर्षों तक नहीं छप सकता। सोवियत लेखक संघ के अधिकारियों द्वारा उसके प्रकाशन की अनुमति मिल सके इसके लिए उसमें कई बार काट छाँट भी हुई। अन्ततः इसका प्रकाशन १९५४ (संक्षिप्त संस्करण) और १९५६ (पूर्ण संस्करण) में हो पाया। इसके अलावा उनका अपनी मृत्यु के समय अपूर्ण रह गया उपन्यास 'एवरीथिंग फ्लोज' भी प्रकाशित हुआ है। इसमें ग्रॉसमैन ने लेनिन और स्तालिन के काल के मूल्यांकनों के साथ-साथ रूसी यातना शिविरों के यथार्थ विवरण दिये हैं। इन उपन्यासों में अकाल के दिनों के सामान्य विवरण भी दिये गये हैं और इनमें वैचारिक बहसें भी हैं। ये पुस्तकें आज कल विश्व साहित्य की क्लैसिक कृतियाँ मानी जा रही हैं। 'लाईफ एण्ड फेट' में साइबेरियाई यातनाशिविरों के अलावा १९२०-२४ के दुर्भिक्षों के यथार्थ विवरण हैं। यहाँ इनके कुछ अंश दिये जा रहे हैं।

''बहुत से लोग घोड़े की लीद खाया करते थे। घोड़े की लीद में गेहूँ के साबूत दाने बचे रहते थे। ओलेस्का वोयित्रिखोव्स्की अपने और अपने परिवार का प्राण बचाने के लिए तरह-तरह की बीमारियों से मरे हुए घोड़ों का मांस खाती थी। 'भूख के कारण बच्चों के चेहरे वृद्धों के चेहरे जैसे लगने लगे थे। १० वर्ष में ही जैसे उनकी आयु ७० वर्ष की हो गयी हो। वसन्त ऋतु आने तक उनके चेहरे चेहरे नहीं रह गये थे। उनके सिर चिड़ियों जैसे हो गये और उनमें चोंचें दिखलायी देने लगीं। कुछ बच्चों के चेहरे मेढकों जैसे लगते थे। पतले, चौड़े ओठों वाले मेढकों के सिर। कुछ के चेहरे मछलियों से मिलते थे जिनका मुँह खुला रहता था।

''एक झोपड़े के भीतर जैसे युद्ध छिड़ा रहता था। परिवार का हर सदस्य दूसरे पर निगाह रखता था। पत्नी पति पर निगाह रखती थी और पति पत्नी पर। माता बच्चों से नफ़रत करने लगी थी। किसी अन्य झोपड़े में प्रेम सम्बन्ध समाप्त हो चुके थे। चार बच्चों की माँ अपने बच्चों को परीकथाएँ और अन्य दन्त कथाएँ सुनाती रहती थीं ताकि वे अपनी भूख भूले रहें। अब उसकी जिह्वा भी नहीं हिलती थी, बच्चों को गोद में दबाये रखती थी क्योंकि अगर वह अलग पड़ जाते तो उन्हें पुनः उठाने की भी ताकत उसमें नहीं रह गयी थी। उसके अन्तरतम में कुछ स्नेह भाव बचा

रह गया था। लोगों का कहना था कि जहाँ परिवार के लोग एक दूसरे से नफ़रत करने लगे थे वहाँ लोग बहुत जल्दी मर जाते थे। फिर भी प्रेम के कारण कोई बचा नहीं, पूरा गाँव, सारा का सारा, मर गया। एक भी ज़िन्दा नहीं बचा।

''लोग नरभक्षी हो उठे थे। बड़े पैमाने पर मनुष्य मनुष्यों को खा रहा था। इसके लिए कठोर दण्ड दिया जाता था। इस जुर्म में हज़ारों लोगों को गोली मार दी गयी। एतत्सम्बन्धित दस्तावेज़ों के जरिये इसकी जानकारी मिल सकी है। १९३० के अन्त में यूक्रेन के ३२५ नरभक्षी अभी भी बाल्टिक के यातनाशिविरों में आजीवन कैद की सज़ा काट रहे थे।

''यह अकाल पूरी तरह मनुष्यकृत था। किसानों से उनकी पूरी की पूरी पैदावार छीन ली गयी थी। यूक्रेन के समाचार पत्र 'विस्ती' में ११ जून १९३३ को छपी एक खबर में खुफिया पुलिस के एक सिपाही की सराहना की गयी थी। यह सिपाही एक 'फासिस्ट सैबोट्यूर' को पकड़ने में कामयाब रहा था जिसने एक रोटी घास के एक ढेर में छिपा देने का 'अपराध' किया था।''

प्रथम महायुद्ध में शरीक सभी देशों के मृत लोगों की संख्या ७,८००,००० थी। सोवियत संघ के गृहयुद्ध में माना जाता है कि कुल १,०००,००० असैनिक मरे। लेकिन सोवियत संघ में १,२००,०००० असैनिक और भी मरे। यह गणना रिचर्ड पाइप्स ने अपनी प्रामाणिक पुस्तक 'रशिया अण्डर द बोलशेविक रिजीम' में दी है। अगर जनसंख्या में होने वाली वृद्धि के अनुमानों को भी जोड़ लिया जाए तो मृतकों की संख्या २,३००,०००० हो जाती है। यह कम्युनिस्ट प्रयोग सोवियत संघ में रहने वाले गरीबों की बेहतरी के लिए नहीं किया गया था, यह प्रयोग भविष्य के बच्चों और उनके बच्चों के नाम पर किया गया था।

क्या गृहयुद्ध अपरिहार्य था? क्या रूसियों के बीच में इस तरह की शत्रुता थी कि इतने बड़े पैमाने पर मनुष्यों का वध ज़रूरी हो जाए? जी नहीं, रूसियों के बीच इतिहास में कभी भी इस प्रकार का आपसी दुर्भाव नहीं रहा था। यह दुर्भाव लेनिन में था और गृहयुद्ध उन्हीं की करतूत थी। जब उन्होंने सत्ता पर अधिकार कर लिया तो गृहयुद्ध अपरिहार्य हो गया। गृहयुद्ध के दिनों में कम्युनिस्टों द्वारा लगाये गये नारों, उद्धरणों को इकट्ठा किया जाय तो पता चलेगा कि कम्युनिस्ट पार्टी में गृहयुद्ध के लिए कितना उत्साह था। इसी तरह का उत्साह त्रात्स्की में भी देखा जा सकता है। आखिरकार वह सोवियत सरकार का रक्षामन्त्री था।

मानव स्वभाव से शत्रुता

प्रायः कहा जाता है कि बोलशेविक रूसियों पर इस तरह से शासन कर रहे थे जैसे वे अपने शत्रुओं पर शासन कर रहे हों। प्रथमतया यह तत्व तो कम्युनिस्ट सिद्धान्त में ही निहित था। बोलशेविक अन्तर्राष्ट्रीयवादी थे। सोवियत संघ तो कम्युनिज्म के भूमण्डलीय विजय के मार्ग में एक हेडक्वार्टर जैसा था। जुलाई १९२० में वारसा पर चढ़ाई करते हुए मार्शल चुखासेव्स्की ने इस आधिकारिक कथन को बार-बार दुहराया- 'सफ़ेद पोलैण्ड की लाशों के ऊपर से कम्युनिज्म के विश्व विजय का मार्ग प्रशस्त होगा।' (इस युद्ध में लाल सेना की भयंकर हार हुई। कुछ लोग इस हार में स्तालिन का हाथ देखते हैं। बोलशेविकों को ऐसा लगने लगा कि अन्य भाई-चारे के देशों में अभी कम्युनिज्म की विजय नहीं होगी।) जहाँ तक रूस के कम्युनिस्टों की बात है, लेनिन इस मामले में बिलकुल नस्लवादी थे और स्लावों के अलावा सिर्फ़ जर्मन नस्लों की उत्कृष्टता में विश्वास करते थे। 'एक पुलिस राज्य को कुशलतापूर्वक और

सफलतापूर्वक चलाना मूर्खों और पग-पग पर ग़लतियाँ करने वालों और कोमल हृदय वालों के वश की बात नहीं है।'

बोलशेविक अपने शासितों के ही नहीं, वे दरअसल मानव स्वभाव के ही विरोधी थे। लेनिन ने गोर्की को लिखा था- 'हर धार्मिक विचार, ईश्वर से सम्बन्धित विचार अकथनीय दुष्टता है, सबसे खतरनाक संक्रामक रोग, करोड़ों पाप, हिंसा के कर्म इसकी तुलना में बहुत कम बुरे हैं। चतुराई भरे विचारों का सुन्दर पहनावा पहने हुए ईश्वर का आध्यात्मिक विचार तो सर्वनाशकारी है।'

धर्म प्रतिक्रियावादी हो सकता है लेकिन वह मानव स्वभाव भी है। जान अपडाइक के शब्दों में ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण यह है कि मनुष्य में सामूहिक रूप से उसकी ऐषणा है। धर्म के विरुद्ध युद्ध मानव स्वभाव के विरुद्ध युद्ध का भाग था जिसे मृतप्राय लेनिन के निर्देशन में कई मोर्चों पर लड़ा जा रहा था।

अकाल की ऐसी विभीषिका में लेनिन को दुनिया को दिखलाने के लिए भी कुछ करना था। उन्होंने इस कार्य के लिए गोर्की का उपयोग किया। गोर्की को एक अन्तर्राष्ट्रीय राहत समिति गठित करने के लिए कहा गया। उन्होंने यह कार्य १०-१५ दिनों में ही कर लिया। फिर उनको अमरीका के दौरे पर भेजा गया। विश्व के अन्य देशों की तरह अमरीका में भी सोवियत क्रान्ति के प्रति व्यापक सहानुभूति थी। अमरीकी लोगों ने अपने राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार की अध्यक्षता में सोवियत संघ के दुर्भिक्ष का सामना करने के लिए एक कमेटी बनायी। इस कमेटी ने सोवियत संघ के अकालपीड़ित क्षेत्रों में राहत केन्द्र खोल करके दो वर्षों तक भूखों को मुफ्त भोजन बाँटा। ये राहत केन्द्र पूरे सोवियत संघ में जगह-जगह खुले थे।

कम्युनिस्ट नीतियों के कारण वर्षों तक खेत खाली पड़े थे। जनता की भूख मिटाने के लिए अमरीका से गेहूँ मंगाया जाता रहा। अमरीकी सहायता का यह क्रम द्वितीय महायुद्ध तक और उसके बाद भी बड़े पैमाने पर चलता रहा। एक तरह से सोवियत मनुष्य अमरीकी अन्न खा करके ही जीवित रहा है।

क्रान्ति के समय कम्युनिस्टों ने कारखानों में भयंकर तोड़-फोड़ की थी। इसलिए कारखाने भी नहीं चल पा रहे थे। उन्हें चलाने के लिए भी अमरीकियों से सहायता माँगी गयी।

लेनिन विरचित सोवियत राज्य

लेनिन एक पूर्ण पुलिस राज्य की रचना करके उसे अपने उत्तराधिकारियों को सौंप गये।

क्रान्ति के ५० वर्ष पहले से ही रूस में समाचार पत्रों को स्वाधीनता मिली हुई थी। अक्टूबर क्रान्ति होने के ३-४ दिनों के भीतर ही वह छीन ली गयी।

नवम्बर-दिसम्बर १९१८ में रूसी दण्ड संहिता की पुनर्रचना हुई। इसी समय विश्व कानून के इतिहास में प्रथम बार 'जनशत्रु', 'अन्तर्घात', 'अवसरवाद' जैसे शब्द अपराध की श्रेणी में आ गये। इनके लिए लोगों को तुरन्त गिरफ्तार किया जा सकता था।

नवम्बर में जबरन खाद्य पदार्थों का अधिग्रहण किया जाने लगा।

दिसम्बर तक 'चेका' (गुप्त पुलिस) की स्थापना हो चुकी थी। गिरफ्तार लोगों को हिरासत में थानों में नहीं, पागलखानों में रखा जाने लगा।

१९१८ के शुरू में ही यातनाशिविर स्थापित होने लगे। फिर तो हर तरफ आतंक बरपा होने लगा। गोली मार कर हत्या करने के लिए क्षेत्रीय पार्टी और क्षेत्रीय खुफिया पुलिस के लिए 'कोटा' बँध गया। अपराधों के लिए 'सामूहिक उत्तरदायित्व' का निर्धारण हो गया अर्थात अपराधी के अलावा उसके परिवार, पड़ोसियों, तरह-तरह के जनशत्रुओं -जिन पर कुछ शंका हो उन सभी को गिरफ्तार करके बन्धक बना लिया जाता था। केवल राजनीतिक विरोधियों का नहीं, पूरे के पूरे सामाजिक और जातीय समूहों का सफ़ाया कर दिया जाता था। इनमें 'कुलक', 'अपेक्षाकृत समृद्ध कृषक' और 'कोज्जाक' शामिल थे जिनकी सामूहिक रूप से हत्या की गयी।

लेनिन और स्तालिन के राज्य में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं था। केवल संख्या का, मात्रा का अन्तर था जो स्तालिन के काल में बहुत बड़ा हो गया था।

स्तालिन की यह मौलिकता ज़रूर थी कि उन्होंने समाज में शत्रुओं की एक और श्रेणी ढूंढ ली थी, बोलशेविकों की, जिनका समय-समय पर शुद्धीकरण होते रहना ज़रूरी था।

लेनिन ऐसा क्यों मानने लगे कि बल प्रयोग, आतंक और हत्या से कुछ मिल सकता है?

जनवरी १९१८ में 'डिक्टेटरशिप' की स्थापना हो गयी। इसका अर्थ था शासन कर्मियों को निर्बन्ध अधिकार, कानून प्रदत्त नहीं, बलप्रदत्त अधिकार।

'यह सोचना कि 'नयी आर्थिक नीति' के दौरान आतंक समाप्त हो जाएगा, यह बहुत बड़ी ग़लती है। हम फिर आतंक पर वापस आयेंगे और आर्थिक आतंक भी शुरू होगा।' (लेनिन, मार्च १९२२)।

जिस दिन लेनिन ने सत्ता ग्रहण की उसी दिन 'सोवियतों की दूसरी कांग्रेस' ने मृत्युदण्ड को निरस्त कर दिया था। उस समय लेनिन वहाँ बैठे हुए थे। अपना मुँह मोड़ कर दूसरी ओर देखने लगे थे। उन्होंने कहा कि यह बेमतलब बात है। बिना लोगों की हत्या किये कोई क्रान्ति कैसे हो सकती है? हत्या किये बिना क्रान्ति की बात सोचना ऐसी 'कमज़ोरी' है, 'शान्तिवादी भ्रम' है जिसकी अनुमति नहीं दी जा सकती। 'मृत्युदण्ड' के बिना कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए फ्रांसीसी क्रान्ति को देखें। उसकी तुलना में अंग्रेज़ी क्रान्ति, या अमरीकी क्रान्ति या फरवरी १९१७ की रूसी क्रान्ति क्या थी? लेनिन ने आखिरकार हत्या का अधिकार प्राप्त कर लिया। (केरेन्स्की की सरकार द्वारा मृत्युदण्ड को पुनः वैधानिक बना देने के बाद कम्युनिस्टों ने इसके विरुद्ध आन्दोलन किया था और यह नारा लगाया था- 'केरेन्स्की' द्वारा लगाया गया मृत्युदण्ड, हाय-हाय, हाय-हाय।')

विशेषज्ञों के अनुसार १९१७-२४ के दौरान खुफिया पुलिस द्वारा गोली मार कर जितने लोगों की हत्या की गयी, पूरे गृहयुद्ध में उससे कम लोग ही मरे होंगे। ऐलेन ब्रोसा ने लिखा है कि 'लेनिन के शासन के दौरान मनुष्य के जीवन का कोई मूल्य नहीं रह गया।' ऐसा अगले ३५ वर्षों तक होता रहा। वसिली ग्रॉसमैन के शब्दों में-

> 'जो कुछ भी अमानवीय है उसकी कोई सार्थकता नहीं है, उसका कोई मूल्य नहीं है।.....अमानवीयता के पूर्ण विजय के दौरान यह स्वतः सिद्ध हो चुका है कि हिंसा जिस वस्तु का भी स्पर्श कर लेती है वह मूल्यहीन और अर्थहीन हो जाती है, उसका कोई भविष्य नहीं रह जाता, वह पूर्णतः लुप्त हो जाता है, उसका कोई चिन्ह शेष नहीं रहता।'
>
> लेनिन (वसिली ग्रॉसमॉन)

''लेनिन के एक पुराने मित्र ने उन पर एक पुस्तक लिखी। उसमें एक घटना वर्णित है। वे लोग इतवार की एक सुबह स्विटजरलैण्ड की पहाड़ियों में चढ़ाई करने के लिए गये। चढ़ाई बहुत ऊँची थी, साँस फूलने लगी। ऊपर पहुँच कर लेनिन एक चट्टान पर बैठ गये। लेनिन चट्टान पर बैठे हुए चारों ओर घूरने लगे। उनकी साथी महिला को लगा कि लेनिन आल्प्स की पहाड़ियों के सौन्दर्य में पूरी तरह डूब गये हैं। उसे यह भी लगा कि लेनिन के हृदय में काव्य भाव का प्रवाह चल रहा है। वह उत्साहित हो उठी। थोड़ी देर बाद लेनिन का ध्यान टूटा। वह बोल उठे- 'हम लोगों का काम ये मेनशेविक बिगाड़ रहे हैं।' यह सुन्दर कहानी लेनिन के बारे में बहुत कुछ बताती है। उनके मन में तराजू के एक पलड़े पर सारी सृष्टि चढ़ी हुई थी, दूसरे पलड़े पर अपनी पार्टी थी। अक्टूबर की क्रान्ति के लिए व्लादिमीर ईलिच के व्यक्तित्व में जिन लक्षणों की अपेक्षा थी वे उभर कर सामने आ गये। उस समय जो लक्षण नहीं चाहिए थे वे भीतर दब गये।

''रूसी क्रान्तिकारी आन्दोलन में अत्यन्त अन्तर्विरोधी गुण एकाकार हो गये थे। अनेक रूसी क्रान्तिकारियों के मन में रूस की जनता से सच्चा प्यार था। ये लोग जितने विनम्र, दीन, और दुःख सहने की क्षमता से सम्पन्न थे, ऐसे गुण इसके पहले आदिकालीन ईसाइयों में ही रहे होंगे। ऐसे लोग भी बहुत थे जिनमें मानव पीड़ा के प्रति दुर्दान्त घृणा थी, साथ ही उनमें अमूर्त विचारों का अतिशय सम्मान था। वे सिर्फ़ अपने शत्रुओं से ही नहीं, यदि कोई उनके अमूर्त विचारों की उनसे तनिक भी अलग व्याख्या करता था तो वे उन्हें भी नष्ट कर डालने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे। भविष्य की कल्पित स्वतन्त्रता के लिए वे आज प्राप्त स्वतन्त्रता की बलि चढ़ा देने, भविष्य के नाम पर सामान्य दैनन्दिन नैतिकता को तुरन्त तज देने- ये सारे लक्षण पेस्टेल में, बाकुनिन में, नेचायेव में और 'पीपुल्स विल पार्टी' के सदस्यों में सामान्यतया मौजूद होते थे। वे लोग इसी तरह के प्रश्नों पर बहसें करते थे।

''लोग केवल प्रेम के नाते नहीं, केवल करुणा के नाते नहीं, क्रान्ति के मार्ग पर अग्रसर होते थे। ये लोग किन बातों से उद्वेलित हो रहे थे यह समझने के लिए रूस के हज़ार वर्षों के इतिहास की गहराईयों में जाना पड़ेगा।

''इस तरह के चरित्र पिछली शताब्दियों में भी हुए थे। लेकिन बीसवीं शताब्दी ने रूस में इन्हें मंच के बीच में लाकर खड़ा कर दिया। इस तरह का आदमी एक शल्यचिकित्सक की तरह था जिसकी आत्मा अपने रोगियों, उनके परिवारों, अपने मज़ाकों, अपने तर्कों, गृहविहीन बच्चों के संघर्षों और अवकाश प्राप्त कर रहे मज़दूरों के प्रति सहानुभूति में नहीं, अपने छुरी-उस्तरों में बसती थी। शल्यचिकित्सक के बारे में सबसे महत्वपूर्ण बात उसका अपने सर्वशक्तिसम्पन्न चाकू में अटल विश्वास था। बीसवीं शताब्दी का सच्चा सिद्धान्तकार शल्य चिकित्सक का चाकू है, वही सबसे बड़ा दार्शनिक नेता है।

सोवियत राज्य का वैचारिक चरित्र

यूरोप के मार्क्सवादियों में १९१७ से ही सोवियत संघ के राज्य के चरित्र को लेकर विवाद चलता रहता था। सोवियत संघ मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार 'सर्वहारा की तानाशाही' है या नहीं, यह विवाद शुरू करने वाले मेनशेविक और जर्मनी के मार्क्सवादी थे। अराजकतावादियों ने तो क्रान्ति होते ही उसे 'पूँजीवादी राज्य तानाशाही' कह करके उसकी निन्दा की थी। न तो लेनिन ने, न ही त्रात्स्की ने सोवियत राज्य को समाजवादी राज्य कहा था। लेनिन के अनुसार यह संक्रान्ति का राज्य था। इसमें सर्वहारा ने सत्ता पर अधिकार कर लिया था और वह समाजवाद के लिए आधार तैयार कर रहा था। बोलशेविकों का यह कहना था कि पश्चिम के औद्योगिक देशों में विशेष कर जर्मन मज़दूर वर्ग और

अन्य यूरोपीय मज़दूर वर्ग द्वारा समाजवाद की स्थापना करके मार्क्स और एंगेल्स की भविष्यवाणी सिद्ध की जाएगी। १९२० में लेनिन ने एक व्याख्यान में त्रात्स्की की अत्यन्त कटु आलोचना करते हुए कहा, 'कामरेड त्रात्स्की मज़दूरों के राज्य की बात करते हैं। यह बिलकुल अमूर्त बात है। १९१७ में यह स्वाभाविक था कि हम मज़दूरों के राज्य की बात करते। लेकिन आज हम लोगों का राज्य एक तरह से बेडौल नौकरशाही का राज्य है। यह निन्दनीय परिभाषा हमें अपने राज्य पर चस्पाँ करनी होगी।... ... सर्वहारा को इस तरह के राज्य से अपना बचाव करना पड़ेगा।... ...' ये शब्द १९२० में जितना सही थे उतना ही सही आज १९८० में हैं। हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, और पोलैण्ड में हुई मज़दूरों की हड़तालों और उनके दमन के बाद इन शब्दों से नयी व्यंजनाएँ प्रकट हुई हैं।

वर्षों बाद त्रात्स्की ने लेनिन के इन शब्दों को अपना बना लिया। १९३६ में उनकी पुस्तक 'द रिवाल्यूशन बिट्रेड' प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने 'एक देश में समाजवाद' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। दुनिया के हज़ारों गैर-बोलशेविक मार्क्सवादी इसका प्रतिपादन करने लगे, हालाँकि यह बिलकुल गैर-मार्क्सवादी प्रतिपादन था। इस पुस्तक में पहली बार इस नये राजनीतिक जानवर 'सोवियत राज्य' का सही चरित्र निर्धारित करने का गम्भीर प्रयत्न किया गया था। त्रात्स्की के अनुसार यह पूँजीवाद और समाजवाद का मध्यवर्ती समाज था, जिसमें नौकरशाही समाजवाद के लिए एक अजनबी बेकाबू जाति बन गयी थी। त्रात्स्की यह मानते थे कि इस राज्य में चलने वाले सामाजिक संघर्षों का कुछ ऐसा परिणाम होगा कि यह पतित श्रमिक राज्य नौकरशाही द्वारा स्थापित पूँजीवादी राज्य में बदल जाएगा, या सर्वहारा द्वारा नौकरशाही को हटा कर समाजवादी राज्य का उद्घाटन किया जाएगा। वह यह स्वीकार करने के लिए नहीं तैयार थे कि नौकरशाही का राज्य चलता रहेगा। जब त्रात्स्की का १९३७-१९४० में मैक्स शाष्टमैन और जेम्स बर्नहम से इस विषय पर विवाद चला तब कहीं बहुत अनिच्छापूर्वक उन्होंने इस सम्भावना को स्वीकार किया कि नौकरशाही का राज्य अनिश्चित काल तक चलता रह सकता है, नौकरशाही शोषकों का एक नया वर्ग बन सकती है, और शोषण का एक नया रूप निर्मित कर सकती है। उन्होंने इसकी तुलना यूरोपीय इतिहास में प्राचीन युग के बाद आये अन्धकार के युग से की।

इतालवी मार्क्सवादी ब्रूनो रिज्जी ने १९३९ में प्रकाशित एक पुस्तक में पहली बार यह प्रतिपादित किया कि स्तालिन के रूस में और हिटलर के जर्मनी में जो पूँजीवाद और बूर्ज्वा लोकतन्त्र के उत्तराधिकारी नये राज्य निर्मित हुए हैं वे नौकरशाही समूहाधिकारवाद ('ब्यूरोक्रेटिक कलेक्टिविज्म') का प्रतिनिधित्व करते हैं। रिज्जी की पुस्तक तो मशहूर नहीं हुई लेकिन उसकी स्थापनाएँ जेम्स बर्नहम ('द मैनेजेरियल रिवाल्यूशन') द्वारा प्रचारित हुईं। बाद में स्वतन्त्र रूप से मिलोवन जिलास ने 'न्यू क्लास' लिख कर इस प्रतिपादन को विश्वव्यापी बना दिया। कोस्टास पपियोनू ने एक इतिहासकार के रूप में इस नये वर्ग के उदय का विवेचन किया है। डैनियल बेल की 'पोस्ट इण्डस्ट्रियल सोसायटी' में भी अन्य विषयों के साथ इस विषय पर भी बहुत जानकारी और गहराई के साथ लिखा गया है। फ्रांस्वा फेतो और लेश्येक कोलाकोव्स्की, रेमो आरों, विट्फोगेल, बेटलहाइम आदि ने भी सोवियत संघ की आर्थिक संरचना का अध्ययन करते हुए इन प्रश्नों का विश्लेषण किया है कि सोवियत राज्य पूँजीवादी है, या एकाधिकार सम्पन्न नौकरशाही है या 'एशियायी रीति के उत्पादन' पर आधारित है।

पहले हन्ना आरेण्ड्ट ने, फिर क्लाद लिफोर ने सोवियत समाज के राजनीतिक रूप पर विचार किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य जाति के इतिहास में इसके पहले कभी भी आधुनिक सर्वाधिकारवादी प्रणाली का राज्य नहीं स्थापित हुआ था। केवल मिस्र में फरोआ काल में या चीन में इस तरह के राज्य देखे जाते रहे हैं। एतीन बालास ने

यह बात बहुत स्पष्टता से सिद्ध की है- एक ओर तो बहुत लम्बे समय तक नौकरशाही राज्य का अफ़सरों द्वारा संचालन यह सिद्ध करता है कि त्रात्स्की की मान्यता के विरुद्ध यह संक्रमणकालीन राज्य नहीं है, यह दशकों तक ही नहीं शताब्दियों, या सहस्राब्दियों तक चलता रह सकता है। दूसरी ओर सोवियत संघ और चीनी साम्राज्य में बहुत बड़े भेद भी हैं और वे सभी भेद चीनी साम्राज्य के पक्ष में जाते हैं। ऐलेन बेस्कों ने प्रमाणित किया है कि सोवियत प्रणाली में कम्युनिस्ट विचारधारा का विशेष स्थान एक तरह का 'भ्रमपूर्ण यथार्थ' है। यह ऐसा यथार्थ है जो सत्य, मूर्त और विनम्र यथार्थ से भी ज्यादा बड़ा यथार्थ है। वे इस प्रणाली को 'आइडीओक्रेसी' नाम देते हैं। कार्नेलियस कैस्तोरियादिस ने नौकरशाही पूँजीवाद के दो पक्षों पर बल दिया है। एक ओर तो यह ऐसी जातियों से बना समाज है जिस पर एक विचारधारावादी नौकरशाही हावी है, दूसरी ओर यह सैन्य समाज है। कैस्तोरियादिस के अनुसार लोगों के देखते-देखते कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा शासित समाज एक ऐसे समाज में बदल गया है जिसमें सैन्य वास्तविकताओं और मांगों को प्राथमिकता मिल गयी है। इसलिए उन्होंने सोवियत राज्य को 'स्ट्रैटोक्रेसी' नाम दिया है। (ग्रीक शब्द 'स्ट्रैटोस' = सेना)

इन परिभाषाओं की सूची बहुत लम्बी है। मूल बात यह है कि आज १९८० में कोई भी गम्भीर लेखक यह नहीं कह सकता कि सोवियत संघ समाजवादी राज्य है। इसे लेनिन और त्रात्स्की के अनुसार नौकरशाही द्वारा विरूपित कर दिया गया श्रमिक राज्य भी नहीं कहा जा सकता।

(मेक्सिको के नोबुल पुरस्कार विजेता कवि और विचारक आक्टोवियो पाज़ द्वारा १९८० में लिखे गये एक लेख का अनुवाद।)

साहित्यिक आलोचना और कविता का विकास (विक्टर श्कोलोव्स्की)

''मेरे विश्वविद्यालय में साहित्य के सिद्धान्त की कोई शिक्षा नहीं होती थी। अलेक्सान्द्र वेसेलोव्स्की बहुत पहले दिवंगत हो चुके थे। उनके कुछ शिष्य अभी थे लेकिन उनके भी बाल सफ़ेद हो रहे थे और उन्हें यह नहीं पता था कि उन्हें क्या लिखना चाहिए और क्या करना चाहिए? वेसेलोव्स्की के शिष्यों को अपने गुरु के महत्तर प्रयत्न का, उनकी कला की समझ का और तथ्यों के परस्पर सामीप्य के अनुसार उनका अर्थ निकालने की अपेक्षा उनकी भूमिका और उनके कलात्मक महत्व के अनुसार उनका अर्थ निकालने की आवश्यकता का भी कोई एहसास नहीं था।

''रूसी साहित्यिक आलोचना के दूसरे सिद्धान्तकार अलेक्सान्द्र पोतेब्निया थे। वे वेसेलोव्स्की से पन्द्रह वर्ष पहले १८५१ में ही चल बसे थे। उनकी स्थापना यह थी कि बिम्ब परिवर्तनशील विधेय होता है जिसके साथ एक निश्चित संज्ञा भी जुड़ी होती है उनका निष्कर्ष यह था कि कला विचार करने की विधि है, वह मस्तिष्क की ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं को सुविधाजनक बनाती है, बिम्ब विविध प्रकार की कुंजियों को जोड़ते हैं। यह सिद्धान्त भी धुँधला हो चला था। एक ओर पोतेब्निया के सिद्धान्त के अनुसार कला प्राचीन काव्य भाषा का पुनः स्मरण थी तो दूसरी ओर पोतेब्निया ने (जर्मन वैज्ञानिक) माख के 'जीवन शक्तियों की बचत' के सिद्धान्त को अपना लिया था जिसके अनुसार काव्यकृति यथार्थ को सुपरिचित बनाने का सरलतम उपाय प्रदान करती थी। अर्थात कविता जीवन तक पहुँचने का सबसे सीधा रास्ता थी।

''पोतेब्निया के कला सिद्धान्त को सामान्यतया प्रतीकवाद का सिद्धान्त माना जा सकता है। पोतेब्निया की दृष्टि यह थी कि शब्द पहले से ही उपस्थित रहता है। इसकी अर्थवत्ता का कोई न कोई पक्ष वस्तु की अर्थवत्ता से मेल खाता है। इस प्रकार बिम्ब की सहायता से शब्द की अर्थवत्ता को विस्तार मिलता है। पोतेब्निया मानते थे कि बिम्ब पूर्णतः कविता के क्षेत्र का तत्व है। इस प्रकार शब्द के प्रतीकात्मक और काव्यात्मक गुण परस्पर समान होते हैं। ''भाषा की प्रतीकात्मकता ही वह तत्व होता है जिसे हम काव्य-क्षमता कहते हैं। इसके विपरीत शब्द के आन्तरिक रूप की अस्पष्टता उसे गद्यात्मक बना देती है। यदि यह सही है तब किसी शब्द के आन्तरिक रूप को परिवर्तित करने के प्रश्न को कविता और गद्य की भाषा के सम्बन्धों के प्रश्न के साथ जोड़ कर देखा जाना चाहिए। अर्थात यह सामान्यतया साहित्यिक रूप का प्रश्न है।'' इस विधि का पालन करते हुए पोतेब्निया ने साहित्यिक कला के विविध रूपों का वर्गीकरण किया।

''पोतेब्निया की दृष्टि में कला में, विशेषकर कविता में महत्वपूर्ण क्या होता है? कला में महत्वपूर्ण बात इसके बिम्बों का प्रतीकपरक लक्षण है। साथ ही इनमें अर्थ के अनेक स्तर होते हैं। बिम्बों में एक साथ अन्तर्विरुद्ध गुणों का, निश्चित और अनिश्चित का, समावेश होता है। इस प्रकार कला का कार्य ऐसे प्रतीकों की रचना है जिनमें पदार्थों की बहुलता से उनकी एकता निर्मित होती है। पोतेब्निया की पुस्तक 'थॉट एण्ड लैंग्वेज' में इसी काव्यशास्त्र का प्रतिपादन है। पोतेब्निया के शिष्यों द्वारा प्रकाशित रूस में आलोचना सिद्धान्त के पहले पत्र 'क्वेश्चन्स इन द थियरी एण्ड साइकोलॉजी आफ आर्ट' के पन्नों में यह काव्यशास्त्र परिवर्धित और संश्लिष्ट बनता गया।

''जिन सिद्धान्तकारों के साथ मैं जुड़ा हुआ था उनके सिद्धान्तों को 'काव्यवाणी की प्रक्रिया' कहा जाता था। यह कहना बहुत ठीक नहीं था। यह अवश्य है कि हम लोग कविता के ध्वन्यात्मक पक्ष पर, उसके उच्चारण पर, समान ध्वनियों के एकत्रीकरण की प्रवृत्ति पर ज्यादा ध्यान देते थे।

''प्रतीकवादियों ने भी इन पक्षों पर ध्यान दिया था। लेकिन उन्हें लगता था कि ध्वनियों का कोई जादुई महत्व है और ध्वनियाँ मात्र आलंकारिक होती हैं। इसके उत्तर में हमारा कहना था कि तब हमें नृतत्त्वशास्त्रियों की तरह 'जादू' का ही अध्ययन करना चाहिए और पता लगाना चाहिए कि किस तरह से इसका गठन हुआ है?और इनकी किन तत्वों से समानता है? प्रतीकवादियों ने कला और शब्दों के धर्म से सम्बन्धों पर ध्यान दिया तो हम लोगों ने शब्द की ध्वनि पर ध्यान दिया।

''ख्लेब्निकोव, मायकोव्स्की और वसीली कामेन्स्की ने प्रतीकवाद के उत्तर में एक नये काव्यशास्त्र की रचना की। उनका ज़ोर अर्थबहुलता की अपेक्षा शब्दों की मूर्तता पर था। उन्होंने अप्रत्याशित बिम्बों की रचना की। साथ ही पदार्थों के अप्रत्याशित ध्वन्यात्मक पक्ष को प्रस्तुत किया। पहले जिसे 'विसंगति' कहा गया था उन्होंने उसे काव्यात्मक रूप में अपना लिया। जैसा मायकोव्स्की ने लिखा- 'रूसी भाषा की कठोर लगने वाली ध्वनियाँ भी श्रेष्ठ होती हैं।'

''रूपवादी साहित्यिक सिद्धान्त का अधिक अंश तोलस्तोय की यथार्थवादी कला से उद्‌भूत था। मायकोव्स्की का काव्यशास्त्र हमारी खोज को उसी दिशा की ओर ले जाता था। तोलस्तोय के यथार्थवाद में स्वीकृत

यथार्थ के प्रति सामान्यतया सन्देह का भाव प्रधान था। उसमें जीवन का अन्य, अप्रत्याशित शब्दों में पुनर्कथन होता था, इसे ही हम रूपवादी 'विचित्रीकरण' कहते थे। इस प्रकार केन्द्र से अन्य दिशाओं में जाने वाली कला भी, चाहे वह तोलस्तोय की कला हो या मायकोव्स्की की कला हो, 'यथार्थवादी' कला कही जा सकती थी।

''हम यहाँ सारी कलाओं की दिशा की बात कर रहे हैं। नयी कला नये शब्दों और नयी अभिव्यक्तियों की तलाश करती है। कवि शब्द और यथार्थ के बीच खड़ी दीवार को तोड़ने की कोशिश करता है। वह नये शब्द को अपने अधरों पर महसूस करता है। लेकिन परम्परा पुरानी समझ को बार-बार आगे ले आती है। अगर परम्परा पर पुनः विचार नहीं किया जाता है तो पुरानी कला की नाटकीयता और लयात्मकता नये में आ जायेगी और इस कला द्वारा असत्य का प्रतिपादन होगा।''

(विक्टर श्कोलोव्स्की रूस की प्रतिष्ठित भाषा वैज्ञानिक और साहित्य सिद्धान्त के निर्माता हैं। वे बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में प्रसिद्ध हुए रूसी भाषा विज्ञान और साहित्य सिद्धान्त के सम्प्रदाय 'रूपवाद' के प्रतिपादकों में से थे। इस सम्प्रदाय के संस्थापक रोमन याकोब्सन थे जो क्रान्ति के बाद प्राग चले गये। फिर अमेरिका जाकर बस गये। उनका भाषा विज्ञान, ध्वनि विज्ञान, छन्द रचना और काव्य शास्त्र पर बहुत महत्वपूर्ण कार्य है।)

भारी उद्योग

इस चर्चा में पहले आ चुका है कि क्रान्ति के दिनों में कारखानों में भारी तोड़-फोड़ हुई थी। कारखानों में महीनों तक उत्पादन बिलकुल बन्द रहा। उनको चलाने के लिए विदेशों से, विशेष कर अमेरिका से इंजीनियर और विशेषज्ञ बुलाये गये। क्रान्ति के पहले रूस के भारी उद्योग बड़ी दक्षता से चल रहे थे। अब उन्हें चलाने के लिए अमरीका से आये विशेषज्ञ अफ़सरों-मज़दूरों की अंगुली पकड़ कर उन्हें बच्चों की तरह टहलना सिखा रहे थे। ऐसा लगता था कि कारखानों में तोड़-फोड़ और शोर बच्चों को आनन्दित करने के लिए होता रहता था। कारखानों के कुशल कारीगरों की 'शुद्धीकरण' के दौरान हत्या कर दी गयी थी। अब कारखानों में किसानों के युवा बेटे भर्ती किये गये थे। ऊँची मशीनों तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं, उन पर पता नहीं कब से बर्फ़ जमी हुई थी। वहाँ कुछ काम किया जा सके, इसके प्रयत्न में मौतें होती रहीं। नये मज़दूर गलतियाँ भी करते थे, वे आतंकित भी रहते थे, कम्युनिस्टों के बारे में उन्होंने जो कुछ सुन रखा था वह ज्ञान उन्हें भयाक्रान्त करके जड़ बना देने के लिए पर्याप्त था।

फिर भी कारखानों में कुछ काम आगे बढ़ा। मैग्नीतोगोर्स्क कारखाने में २,५००,०० मज़दूर काम करते थे। अमरीका के एक इंजीनियर जान स्कॉट ने इस कारखाने को चलाने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित की थीं। उसके अनुसार कारखाना चलाने में ही इतने मज़दूरों की जान गयी जितने लोग मार्न के युद्ध में भी नहीं मारे गये होंगे। कारखाना चलाने के लिए कच्चा माल समय पर नहीं आ पाता था। मास्को में बिजली का बल्ब भी खरीद पाना कठिन था। बाज़ार में बल्ब थे ही नहीं। यही हाल साबुन का था। श्वेत सागर-बाल्टिक नहर लाखों दास-मज़दूरों के श्रम से बनी थी। लेकिन उसमें भारी जहाज चलाना कठिन था। सारी अकुशलताओं के लिए किसी न किसी को जवाबदेह ठहराया जाना था। इसलिए एक नये जुर्म- 'मशीन की तोड़-फोड़'- को कानून में जोड़ दिया गया। सोल्झेनित्सिन के अनुसार मानवजाति के इतिहास में इसके पहले किसी कानून में इस तरह के अपराध की बात नहीं सुनी गयी थी। तोड़-फोड़ का असली जिम्मेदार कोई अन्य नहीं, स्वयं स्तालिन था।

'औद्योगीकरण की विजय' का नारा खोखला था। विजय मुख्यतः वैचारिक विजय थी। अभी तक बोलशेविकों ने मार्क्सवाद को नज़रन्दाज करके केवल ऊपरी 'सुपर स्ट्रक्चर' की रचना की थी। 'आधार' का निर्माण करने वाले 'सर्वहारा' पर अभी ध्यान नहीं दिया गया था। तीन करोड़ किसानों को उजाड़ कर उन्हें औद्योगिक नगरों और शहरों में काम ढूँढने के लिए विवश कर दिया गया था। इस तरह सर्वहारा वर्ग का निर्माण हुआ था।

मार्टिन माल्टा के शब्दों में 'स्तालिन ने रूस को छद्म-अमरीका के रूप में पुनर्निर्मित करने के लिए दूसरी क्रान्ति का प्रारम्भ किया। (लेनिन भी औद्योगिक उत्पादन के लिए अमरीकी प्रबन्ध पद्धतियों को आदर्श मानते थे)। इसका एक उद्देश्य यह भी था कि अब बेकार हो गये किसानों को वास्तविक सर्वहारा वर्ग के रूप में रूपान्तरित कर दिया जाए। पार्टी की सर्वोच्च उपलब्धि यह होती कि वह अपने 'सुपर स्ट्रक्चर' के पद को परिवर्तित कर लेती। अपने सिद्धान्तों के अनुसार वह स्वयं सर्वहारा वर्ग द्वारा रचित हुई थी। इसलिए उसे अपना रूप बदलना आवश्यक था।'

सोवियत कम्युनिज्म की दो उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं। मार्टिन मालिया के अनुसार सोवियत संघ का औद्योगीकरण 'माडर्निटी डेफेसिट' से जुड़ा हुआ था। इसीलिए यह असामान्य था और इसके कारण राज्य का ही विघटन हो गया। दूसरी उपलब्धि हिटलर की पराजय थी। दोनों ही बातें रूसी जनता के पसीने, आँसुओं और खून की उपलब्धि थी।

कम्युनिस्ट अनुभवहीनता का एक उदाहरण कज़ाकस्तान में देखा जा सकता है। १९३० तक कज़ाकस्तान की अर्थव्यवस्था और उसकी संस्कृति पशुपालन, पशुचारण और घुमन्तू आचारों पर निर्भर थी। कम्युनिस्ट पार्टी ने इन घुमन्तू लोगों को 'कुलकरहित' करने का निर्णय लिया। इनका घुमन्तूपन बन्द करके इनको एक स्थान पर बसा करके इनसे खेती करवाने का काम लिया जाने लगा। लेकिन वहाँ की जमीन खेती करने लायक थी ही नहीं। यह ज़मीन पशुचारण और घुमन्तू जीवन के लायक ही थी। कम्युनिस्ट पार्टी को अपनी योजना कुछ ही दिनों में तजनी पड़ी। लेकिन दो वर्षों के प्रयोग में कजाकस्तान के ८० प्रतिशत पशुधन का नाश हो गया।

बोरीस पास्तेरनाक

बोरीस पास्तेरनाक का जन्म आख्मातोवा के जन्म के एक वर्ष बाद मास्को में एक यहूदी परिवार में हुआ। रूस की शिक्षा संस्थाओं में यहूदियों को प्रवेश नहीं मिला करता था इसलिए बहुत से यहूदी छद्म ईसाई बन जाते थे। सम्भवतः बोरीस पास्तेरनाक के परिवार ने भी ऐसा किया था। उनके परिवार में यहूदी उत्सव नहीं मनाये जाते थे, न ही यहूदी पूजा विधियों का पालन होता था। पिता लियोनिद पास्तेरनाक रूस के विख्यात चित्रकार थे और तरक्की करते-करते राजकीय चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला संस्थान के प्रोफेसर और प्रधान बन गये थे। माँ कुशल संगीतकार और पियानोवादिका थीं। इस परिवार में रूस के विख्यात लेखकों, कवियों, संगीतज्ञों, चित्रकारों का आना जाना था। तोलस्तोय भी यहाँ आते थे, और गोर्की भी। प्रख्यात संगीतकार स्क्रियाबिन प्रायः इस परिवार में आते थे और पास्तेनाक की माँ से पियानो पर संगीत रचनाएँ सुना करते थे। लियोनिद ने इन सभी लोगों के शबीह बनाये थे। उन्होंने तोलस्तोय के कई उपन्यासों को चित्रित किया था। 'रिसरेक्शन' में पाठ के साथ छपने के लिए भी चित्र बनाये थे।

'चार वर्ष की आयु में एक रात कोई आवाज सुनकर बोरीस की नींद खुल गयी और उन्होंने बैठके में लम्बी दाढ़ी वाले भारी-भरकम शरीर के एक पैगम्बर को देखा। वे उनके पिता से बात कर रहे थे। तोलस्तोय का यह प्रथम दर्शन

बोरीस को आजीवन याद रहा।'

बाल्यावस्था से ही पास्तेरनाक में काव्य भावनाएँ तरह-तरह के रूपों में फूटती रहती थीं। उनके छात्र जीवन से ही कई लोगों को ऐसा लगने लगा था कि वे रूस के काव्य शिखर पर स्थापित होंगे।

प्रख्यात जर्मन कवि राइनर मारिया रिल्के भी मास्को आने पर इस परिवार से मिलने आया करते थे। उनकी पास्तेरनाक परिवार से घनिष्ठता थी। परिवार के लोग जब यूरोप जाते तो वहाँ रिल्के से भी मिलते। माँ की वजह से अनेक संगीतकार भी घर में आया करते। उनके परिवार के लोग संगीतज्ञ स्क्रियाबिन का बहुत आदर करते थे। वे अक्सर आते। बोरीस माँ के प्रोत्साहन से बचपन से ही संगीतज्ञ बनना चाहते थे। लेकिन उन्होंने स्क्रियाबिन की सलाह मानकर पहले मास्को विश्वविद्यालय में, फिर जर्मनी के मारबुर्ग विश्वविद्यालय में प्रसिद्ध अध्यापकों से दर्शनशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। पास्तेरनाक की संवेदना के निर्माण में संगीत के साथ-साथ इस अध्ययन का पूरा प्रभाव पड़ा है।

पास्तेरनाक का पहला कविता संग्रह 'बादलों में जुड़वाँ भाई' १९१४ में प्रकाशित हुआ। इसके साथ ही गुणीजनों में उनकी काव्य प्रतिभा की धाक जम गयी। फिर उन्होंने कविता को ही अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने का निश्चय कर लिया। 'मेरी ज़िन्दगी बहन' उनका दूसरा काव्य संग्रह था।

मेरी ज़िन्दगी बहन

मेरी ज़िन्दगी बहन ने आज की बाढ़
और बहार की इस बारिश में
ठोकरें खायी हैं हर चीज़ से
लेकिन सजे-धजे दम्भी लोग
बड़बड़ा रहे हैं ज़ोर-ज़ोर से
और डर रहे हैं एक विनम्रता के साथ,
जई के खेतों में साँप।
बड़ों के पास अपने होते हैं तर्क
हमारे तर्क होते हैं उनके लिए हास्यास्पद
बारिश में बैंगनी आभा लिए होती हैं आँखें
क्षितिज से आती है महक भीगी सुरभिरूपा की।
मई के महीने में जब गाड़ियों की समय सारणी
पढ़ते हैं हम कमीशिन रेलवे स्टेशन से गुज़रते हुए
यह समय सारणी होती है विराट
पावन ग्रन्थों से भी कहीं अधिक विराट
भले ही बार-बार पढ़ना पड़ता है उसे आरम्भ से।
ज्यों ही सूर्यास्त की किरणें

आलोकित करने लगती हैं गाँव की स्त्रियों को
पटरियों से सट कर खड़ी होती हैं वे
और तब लगता है यह कोई छोटा स्टेशन तो नहीं
और डूबता हुआ सूरज सान्त्वना देने लगता है मुझे।
तीसरी घण्टी बजते ही उसके स्वर
कहते हैं क्षमायाचना करते हुए:
खेद है, यह वह जगह है नहीं,
पर्दे के पीछे से झुलसती रात के आते हैं झोंके
तारों की ओर उठते पायदानों से
अपनी जगह आ बैठते हैं निर्जन स्तैपी।
झपकी लेते, आँखें मींचते मीठी नींद सो रहे हैं लोग,
मृगतृष्णा की तरह लेटी होती है प्रेमिका,
रेल के डिब्बों के किवाड़ों की तरह इस क्षण
धड़कता है हृदय स्तैपी से गुजरते हुए।

(अनु.- वरयाम सिंह)

स्तालिन पास्तेरनाक को अच्छी तरह जानते थे। एक बार उन्होंने पास्तेरनाक और मायकोव्स्की को बातचीत के लिए बुलाया। स्तालिन चाहते थे कि उनके जन्मस्थान जॉर्जिया के कवियों का रूसी में अनुवाद किया जाए। उस समय तो नहीं लेकिन बाद में पास्तेरनाक ने जार्जिया के अनेक कवियों के अनुवाद किये। वे जॉर्जिया जाकर रहे भी। वहाँ के कुछ कवियों से उनकी आजीवन मित्रता भी रही। उनसे उनका पत्र व्यवहार भी हुआ जो पुस्तक रूप में अंग्रेज़ी में भी प्रकाशित है। स्तालिन ने एक कार्य और किया। उन्होंने पास्तेरनाक की पत्नी और उनकी बेटी को क्रेमलिन में रख लिया। पास्तेरनाक इसका विरोध नहीं कर सके। कवि पास्तेरनाक का लक्ष्य था :

हर चीज़ के भीतर

हर चीज़ के भीतर तक
पहुँचना चाहता हूँ मैं।
पहुँचना चाहता हूँ उनके सारतत्व तक
काम में, राहों की खोज में
हृदय की उथल-पुथल में।
पहुँचना चाहता हूँ
बीते दिनों की सच्चाई तक,
उनके कारण और मूल तक,
उनके आधार और मर्म तक।
नियति और घटनाओं का

हर समय मैं पकड़े रखना चाहता हूँ सूत्र,
चाहता हूँ जीना, सोचना, अनुभव करना, प्रेम करना,
उद्घटित करना नये-नये सत्यों को।
काश सम्भव होता
भले ही अंशतः लिख पाना
भावावेग के गुणों पर
मात्र आठ पंक्तियों में।
लिखना अराजकता, पाप, पलायन
और आखेट के बारे में,
आकस्मिक घटनाओं, अचम्भों,
कुहनियों और हथेलियों के स्पर्श के बारे में।
मैं ढूँढ निकालता उनके नियम
और उनका उद्गम
और दुहराता रहता,
उनके नामों के प्रथम अक्षर।
उद्यान की तरह मैं सजाता कविताएँ,
धमनियों के समस्त कम्पन के साथ
उनके खिलते रहते मेपल लगातार
एक साथ, जी भर कर।
कविताओं में लाता गुलाबों की महक
और पुदीने का सत्त,
लाता चरागाहें, वलीक घास
और ठहाके गरजते बादलों के।
इसी तरह शोपाँ
अपनी रचना में
समेट लाये थे पार्क, उपवन और
समाधियों के आश्चर्य।
अर्जित गरिमा की यातना
और खुशी
तनी हुई प्रत्यंचा
सधे हुए धनुष की।

(अनु.- वरयाम सिंह)

पास्तेरनाक को इस बात की पूरी समझ थी कि रूस में क्या हो रहा है? जब उनके मित्र ओसिप मान्देलश्ताम को रूस की गुप्तचर पुलिस बहुत कष्ट देने लगी तो उन्होंने स्तालिन को फोन किया। स्तालिन के आदेश पर गुप्तचर पुलिस उस समय तो पीछे हट गयी। लेकिन हमेशा के लिए नहीं। एक बार स्तालिन ने उनसे फोन पर कहा कि आप मान्देलश्ताम का प्रश्न सोवियत लेखक संघ की बैठकों में क्यों नहीं उठाते? पास्तेरनाक का जवाब कुछ इस तरह था कि वहाँ के लोग यह कहते हैं कि सब कुछ यहाँ से (स्तालीन की ओर से) हो रहा है। खैर, स्तालीन ने एक बार आदेश दे दिया कि मान्देलश्ताम पर लगातार नज़र जरूर रखी जाए लेकिन उनको कोई नुकसान न पहुँचाया जाए। मान्देलश्ताम को तुरन्त कोई सज़ा तो नहीं मिली लेकिन अपने आस-पास रहने वाले खुफिया पुलिस के लोगों के कारण उनकी मानसिक सन्तप्तता निरन्तर बढ़ती चली गयी।

पास्तेरनाक मूलतः प्रकृति के कवि थे। उनकी गीतात्मक कविताएँ प्रकृति के चित्रों से भरी पड़ी हैं।

गिर रही है बर्फ़

गिर रही है बर्फ़, गिर रही है
खिड़कियों के चौखटों के बाहर
इस तूफ़ान में जिरानियम के फूल
कोशिश कर रहे हैं उज्ज्वल तारों तक पहुँचने की।
गिर रही है बर्फ़
हड़बड़ी मची है हर चीज़ में,
हर चीज़ जैसे उड़ान भरने लगी है
उड़ान भर रहे हैं सीढ़ी के पायदान
मोड़ और चौराहे।
गिर रही है बर्फ़
गिर रही है
रूई के फाहे नहीं
जैसे आसमान पैबन्द लगा चोगा पहने
उतर आया है ज़मीन पर।
सनकी आदमी का भेस बना कर
जैसे ऊपर की सीढ़ी के साथ
लुका-छिपी का खेल खेलते हुए
छत से नीचे उतर रहा है आसमान।
ज़िन्दगी इन्तज़ार नहीं करती,
इसलिए थोड़ा-सा मुड़ कर देखा नहीं
कि सामने होता है बड़े दिन का त्योहार

छोटा-सा अन्तराल और फिर नया वर्ष।
गिर रही है बर्फ़ घनी-घनी-सी
उसके साथ कदम मिलाते हुए
उसी रफ्तार, उसी सुस्ती के साथ
या उसी के तेज़ कदमों के साथ
शायद इसी तरह बीत जाता है समय ?
शायद साल के बाद साल
इसी तरह आते हैं जिस तरह बर्फ
या जिस तरह शब्द महाकाव्य में।
गिर रही है बर्फ, गिर रही है
हड़बड़ी मची है हर चीज में :
बर्फ से ढके राहगीरों
चकित चौराहों
और मोड़ों के इर्द-गिर्द।

(अनु.- वरयाम सिंह)

बोरीस पास्तेरनाक को पता था कि बोलशेविक सरकार साहित्यकारों से क्या चाहती है? रूसी साहित्यकारों से सोवियत लेखक संघ की क्या मांगें हैं? उन्हें सोवियत संघ की राजनीतिक वास्तविकता का पूरा पता था। ये माँगें पूरा न करने के क्या परिणाम होंगे, वे यह भी जानते थे। उन्होंने एक सीमा तक इन माँगों को पूरा करने की पूरी कोशिश की। उन्होंने अनेक कविताएँ, यथाः 'लेफ्टिनेंट शामिद्त्त' और 'वर्ष १९०५' समाजवादी विषय वस्तु पर लिखीं। इन काव्य संग्रहों का तर्क के रूप में ही इस्तेमाल हो सकता था। लेकिन उनके इन संग्रहों से कोई भी धोखे में नहीं आया। पास्तेरनाक कविता से अपना आन्तरिक लगाव कभी भी छोड़ नहीं पाये।

स्त्री

जल के तट पर पेड़ सुहाये
मध्यदिवस में बादल छाये।
ध्यानमग्न पोखर में मानो
बादल उतर जाल से आये।
जाल सरीखा उतर रहा नभ,
है गम्भीर अभीप्सित जल अब।
है तैराक तैरने पहुँचे,
माता, पिता, पुत्र, पुत्री सब।
वहाँ नहा कर कुछ महिलाएँ
दबे पाँव हैं तट को बढ़तीं

बालू में धाराएँ बहतीं
जब वस्त्रों को वे निचोड़तीं।
तृष्णा मोह व्याल रूपी है,
बल खाते से कपड़े लगते।
कामिनियों के वस्त्र सरीखे
मानो सर्प कुण्डली भरते।
हे महिला! तेरे कटाक्ष पर,
बरबस घुटन कण्ठ को कसती।
स्मिति का भाव लिये मानस पर
सहसा अनपेक्षित तुम बसती।
तुम मानो प्रारूप लेख की,
खण्डकाव्य का कोई छन्द,
निद्रित स्रष्टा की ही जैसे,
पसली से निर्मित तव अंग।
तुम भुजपाश, छुड़ा आलिंगन,
निकली तुम हाथों से तत्क्षण।
भयविह्वल सा तेरा मन
पुरुष-हृदय था अति उद्विग्न।

(अनु.- रामनाथ व्यास परिकर)

जब मौसम खिल उठे

झील लगती एक विशाल तश्तरी जैसी,
लिये झंझावात उस पर घिर रहे बादल
मानो हों बेडौल रजतपुंज,
चमचमाते शून्यमय गम्भीर वे पल पल।
हैं जब भिन्न स्वरूप लेती सूर्य की किरणें-
वन भी बदलते हैं रंग के श्रृंगार।
कभी दिखते धधकते से औ' कभी श्यामल,
जैसे कालिख पुते हैं गुब्बार।
और जब बरसात के अन्तिम दिवस आते,
बादलों का दल छँटता सा चला जाता।
अरे कैसा नील और निरभ्र नभ दिखता

औ' विजय से दीप्त दूर्वादल मचल जाता।
पवन होता शान्त, दूरी साफ़-सी दिखती,
फैल जाती धूप चमकीली धरा पर, मित्र,
हरित आभा उस समय सब ओर खिल उठती,
पारदर्शी काँच पर ज्यों झलकते से चित्र।
कहीं गिरजे की अनूठी कलाकृतियों में
सन्त औ' सम्राट दिखते मठाधीशों संग।
तारकों से टिमटिमाते चित्र वे चंचल,
दिख रहे निस्सीम में वे नित बदलते रंग।
धरा का विस्तार मानो है बड़े मठ में,
औ' झरोखे से कभी मुझ तक पहुँच जाता
गूँजते सहगान का स्वर,
दूर से सुन पाता।
जगत मेरे, हे जगत की गुप्त सी छाया,
दीर्घ तेरी प्रार्थना मैं अन्त तक सुनता।
ले हृदय में आस्था-सा सहज स्पन्दन मैं,
नयन में हर्षाश्रु लेकर मैं खड़ा रहता।

(अनु.- रामनाथ व्यास परिकर)

पास्तेरनाक ने अनेक गद्य कृतियाँ पहले भी प्रकाशित की थीं। अपनी निजी शैली में लिखे गये शैशव, बाल्यावस्था, प्रकृति के प्रति अत्यन्त संवेदनशील कथाकृतियाँ और आत्मकथात्मक गद्य पाठकों में लोकप्रिय हुए थे। द्वितीय महायुद्ध के बाद उन्होंने एक उपन्यास लिखना शुरू किया। इसे भी आत्मकथात्मक कहा जा सकता है क्योंकि बहुतेरे पाठकों ने यूरी ज़िवागो के चित्रण में पास्तेरनाक को ही देखा है।

'ज़िवागो' के लिखे जाने के बाद पास्तेरनाक ने इसके कुछ अंश 'नोवी मीर' के सम्पादकों के विचारार्थ भेजा था। एक सम्पादक ने उनको फोन करके पाण्डुलिपि में कुछ परिवर्तन करने के लिए कहा। पास्तेरनाक को इन परिवर्तनों की कोई संगति नहीं प्रतीत हुई। इस बात पर सम्पादक से उनका झगड़ा हो गया। यह झगड़ा सोवियत संघ के सबसे महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्र 'नोवी मीर' के सम्पादकों से हुआ था। सम्पूर्ण उपन्यास की एक प्रति किसी तरह इटली पहुँच गयी और वहाँ रूसी भाषा में और इटैलियन अनुवाद में डॉ. ज़िवागो का प्रकाशन हो गया। बाद में फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी भाषाओं में भी, फिर तो दुनिया की सभी बड़ी साहित्यिक भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। पास्तेरनाक को उस वर्ष का नोबुल पुरस्कार मिला।

इन बातों को लेकर सोवियत संघ के शासनतन्त्र में बड़ा हंगामा मच गया। पास्तेरनाक के विरुद्ध लेखों, प्रस्तावों, आरोपों का अम्बार इकट्ठा होने लगा। इस दबाव का परिणाम यह हुआ कि पास्तेरनाक को नोबुल पुरस्कार लेने से इंकार करना पड़ा।

बोरीस पास्तेरनाक को १९५६ में नोबुल पुरस्कार मिलने पर प्रतिकूल सोवियत रुख के कारण दुनिया भर के साहित्यिक क्षेत्रों में हलचल मच गयी थी। इसके तीस वर्ष पहले श्रेष्ठ रूसी कवि- कथाकार ईवान बूनिन को नोबुल पुरस्कार मिला था। बूनिन बोलशेविक क्रान्ति के बाद ही सोवियत प्रणाली को अस्वीकार करके देश छोड़ कर फ्रांस में बस गये थे। उनकी पुस्तकें विदेश में आप्रवासी प्रकाशनगृहों से ही छपती थी। रूसी पाठकों के लिए उन्हें पढ़ पाना असम्भव-सा था। उन्हें नोबुल पुरस्कार मिलने पर रूसी लोगों को गर्व हुआ था लेकिन सोवियत संघ के भीतर उनका उल्लेख भी नहीं किया जा सकता था। कभी-कभी ही एक अन्तराल के बाद वातावरण को सही मानते हुए उनकी कुछ पुस्तकें कम संख्या में सोवियत संघ में छप जाती थीं और पाठकों को उन्हें पढ़ने का अवसर मिल जाता था।

पास्तेरनाक द्वारा अपने उपन्यास डॉ. ज़िवागो को प्रकाशन के लिए देश से बाहर भेजना सोवियत कानून के अनुसार अपराध था। जिस उपन्यास पर सोवियत लेखक संघ में विचार नहीं किया गया था, जिस पर सोवियत संस्कृति विभाग की मुहर नहीं लगी हुई थी उस पर नोबुल पुरस्कार दिया जाना नोबुल पुरस्कार समिति की सोवियत विरोधी नीति का उदाहरण माना गया। दुनिया के विविध सोवियत समर्थक प्रगतिशील लेखक संघों के लोगों ने, इनमें भारत की कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बन्धित संस्थाएँ और पत्र-पत्रिकाएँ भी शामिल थीं, उपन्यास की और नोबुल पुरस्कार समिति की भरपूर निन्दा की। लेकिन डॉ. ज़िवागो पूरी दुनिया में पढ़ा और सराहा जाता रहा। इसके पहले बोरीस पास्तेरनाक की कृतियों के कुछ ही अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में हुए थे। ज़िवागो के प्रकाशन के बाद उनकी अन्य कथाकृतियों, आत्मकथात्मक कृतियों और कविताओं के अनुवाद दुनिया भर में उपलब्ध हो गये और आज तक लगातार छपते रहते हैं तथा पाठकों की अनेक पीढ़ियों द्वारा पढ़े जाते हैं। डा. ज़िवागो का हिन्दी में एक अनुवाद तो तुरन्त हुआ था, एक अन्य अनुवाद बाद में छपा।

ख्याति नहीं आकर्षक

नहीं आकर्षक, मिले जो मात्र ख्याति, मान'
नहीं इससे प्राप्त हो सकता कभी उत्थान।
करें हम अभिलेख संग्रह, नहीं आवश्यक,
पाण्डुलिपियों में धरा रह जायेगा सम्मान।
कला का लक्ष्य है- पूर्ण आत्माभिव्यक्ति,
नहीं पीटें ढोल, कर साफल्य का गायन।
है बड़ा ही हेय जो शेखी मारे केवल
उन गुणों की जो रहे हैं मात्र जल्पन।
सहज जी लें बिना कोई किये आडम्बर,
जियें ऐसे ताकि फल हो यही आखिरकार-
दे सुनाई नित्य भावी प्रेम के ही स्वर,
हों प्रसारित लोक में वे लिये स्नेह अपार।
जो रहे अलिखित उन्हें बस छोड़ दो वैसे,

भाग्यपट पर जो पड़े, मत लिखो काग़ज़ पर।
क्योंकि कविजीवन स्वयं होता महत है,
नहीं रेखांकित हुआ हो मात्र वह सत्वर।
नित भुलावे में पड़ा बस जो रहे,
औ' क़दम भी रहें परदे में छिपे।
दृश्य कवि अदृष्ट सी चाहे लगे,
नित्य अपनी कान्ति को उर में लिये।
चरण चिन्हों का सहारा पा यदि
दूसरे जो मार्ग पर तेरे बढ़ें,
ध्यान यह मन में रहे यदि, सर्वदा
जय-पराजय में नहीं अन्तर रहे।
और किंचित मात्र भी हो भ्रम कहीं,
वास्तविक बन, काल्पनिक से दूर हो।
नित्य ही जीवित रहो, जागृत बनो,
अन्त तक चैतन्य से भरपूर हो।

(अनु.- रामनाथ व्यास परिकर)

पास्तेरनाक और ज़िवागो को लेकर पश्चिमी दुनिया में विशलेषणात्मक साहित्य की बाढ़ आ गयी। आज तक पश्चिमी दुनिया में पास्तेरनाक पर इतना आलोचनात्मक साहित्य लिखा जा चुका है कि उसका एक अलग अध्ययन किया जाना सम्भव है। स्वयं पास्तेरनाक ने कहा है 'फ्रांसीसी आलोचकों को मेरे उपन्यास में हर तरह की अव्यवस्था दीखती है।.. .कुछ विद्वानों ने मेरे उपन्यास को ईसाई देवविद्या के सन्दर्भ में देखा है। मेरी जो दुनिया की समझ है, ये बातें उससे बहुत दूर की हैं। शरीर में जो भी प्राणशक्ति बची हुई है उसका उपयोग करते हुए अथक रूप से ज़िन्दगी जीना और अथक रूप से लिखते रहना- यही मेरा कार्य है। हर कीमत पर किसी एक दृष्टिकोण का वफ़ादार बना रहना, मेरी समझ में नहीं आता। हमारे चारों ओर जीवन लगातार परिवर्तित हो रहा है और मैं मानता हूँ कि एतद् अनुसार मनुष्य को अपनी दृष्टि भी परिवर्तित करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। कम से कम १० साल में एक बार ऐसा तो करते रहना ही चाहिए'।

हैमलेट

पहले दृश्य का हुआ अभी पटाक्षेप,
हलचल थमे तो जाऊँ नेपथ्य में
देखूँ, अभिनेता करते क्या पूर्वाभ्यास,
कुछ अनुमान हो, आगे क्या होना है।
रोशनी बुझ गयी, दर्शक-दृष्टि

मंच पर एकाग्र जैसे मेरे जीवन पर,
हे ईश्वर, हटा लो, कृपा करो,
क्यों यह पात्र मेरे आगे रखा हुआ।
जो भी घटना हो, घटे, स्वीकार है,
भूमिका जो तय हो मेरी मंजूर है,
जीवन नहीं, है तो यह 'नाटक' ही
अनुमति मिले, मध्यान्तर में, थोड़ा साँस लेने की।
दृश्यक्रम पहले से ही नियोजित है,
क्या होगा अन्त, पूर्व निर्धारित है,
अकेला मैं कुजात यहूदियों के बीच,
सरल नहीं जीवन यह, सड़क पार करने-सा।

(अनु.- कमलेश)

नोबुल पुरस्कार

स्तालिन बहुत पहले से ही इस बात को लेकर चिन्तित रहते थे कि किसी सोवियत साहित्यकार को नोबुल पुरस्कार मिले। उन्हें लगता था कि किसी सोवियत साहित्यकार को नोबुल पुरस्कार मिलने से उनके बोलशेविक राज्य का गौरव बढ़ेगा। १९३० के बाद यूरोप में अकसर यह चर्चा चला करती थी कि अब इस साल किसी रूसी साहित्यकार को यह पुरस्कार मिलने वाला है। नोबुल समिति ने तोलस्तोय को इसलिए नहीं पुरस्कृत किया था क्योंकि उन्हें ईसाई संस्कृति का विरोधी माना गया था। चेखोव यह पुरस्कार इसलिए नहीं ले पाये क्योंकि उनकी कम आयु में ही मृत्यु हो गयी। १९२० के बाद रूसी संस्कृति दो भागों में बँट गयी थी- आप्रवासी रूसी संस्कृति और सोवियत रूसी संस्कृति। बीस लाख से अधिक रूसी यूरोप की आप्रवासी बस्तियों में रहते थे। सभी आप्रवासी बौद्धिक वर्ग के थे। इसलिए आप्रवासी बस्तियों में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक गतिविधियाँ चलती रहती थीं। ये लोग रूसी भाषा में पचासों पत्र-पत्रिकाएँ निकालते थे और सैकड़ों प्रकाशन गृह चलाते थे। सभी आप्रवासी सोवियत विरोधी थे। (आप्रवासियों के बीच बड़ी संख्या में सोवियत गुप्तचर भी छिप कर रहते थे)।

गोर्की की अनेक आप्रवासी साहित्यकारों से मित्रता थी। गोर्की अपने आप्रवासी मित्र व्लादिस्लाव खोदासेविच को पास्तेरनाक से भी बड़ा, महान कवि मानते थे। लेकिन १९३१ में गोर्की ने स्तालिन को ऐसा पत्र लिखा कि ''खोदासेविच पतनोन्मुख लेखक है और शरीर, मन दोनों से भोंड़ा हो गया है, उनके मन में मानवजाति के प्रति कूट कूट कर घृणा भरी हुई है।'' चेखोव ने १८९९ में याल्टा में एक सड़क के किनारे टहलते हुए गोर्की का परिचय वरिष्ठ रूसी कवि लेखक ईवान बूनिन से कराया था। गोर्की तोलोस्तोय के बहुत निकटस्थ थे, इस बात से बूनिन के मन में ईर्ष्या भर जाती थी। त्स्वेताएवा के शब्दों में बूनिन एक युग के अन्त थे, गोर्की एक (पूरा का पूरा) युग। गोर्की बूनिन के काव्य-कौशल और उनके कथा-साहित्य के बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने अपने प्रकाशनगृह से बूनिन की कई पुस्तकें प्रकाशित की थीं। दोनों ही रूसी किसानों को जड़ और बर्बर मानते थे। बूनिन क्रान्ति के कट्टर विरोधी थे, इसीलिए

देश छोड़ कर प्रवासी बन गये थे। वे बोलशेविक क्रान्ति के बाद गोर्की से दूर होते चले गये।

१९३० में नोबुल साहित्य पुरस्कार किसी रूसी को दिये जाने की फिर चर्चा चल पड़ी। नोबुल पुरस्कार स्वीडन के उद्योगपति और डायनामाइट के आविष्कर्ता एल्फ्रेड नोबुल के वसीयतनामे के अनुसार १९०१ ई. से हर वर्ष स्टॉकहोम में नोबुल समिति की सिफारिश पर स्वीडिश एकेडेमी द्वारा दिया जाता है। कुछ ही वर्षों में यह पुरस्कार महत्वपूर्ण और प्रामाणिक बन गया। इसको लेकर राष्ट्रीय/राजनीतिक भावनाएँ उभरने लगी। हर साल सितम्बर-अक्टूबर में यूरोप के अखबारों में कुछ नामों की चर्चा शुरू हो जाती थी कि अमुक लोग इस साल नोबुल पुरस्कार के दावेदार हैं। पुरस्कार के लिए चयन की प्रक्रिया गोपनीय होती थी, अतः चर्चित नामों में से शायद ही कभी किसी को पुरस्कार मिलता हो।

एल्फ्रेड नोबुल के पिता ने सेण्ट पीटर्सबर्ग में भी एक इस्पात मिल स्थापित की थी। जो बाद में डीजल उत्पादन करने के काम में लग गयी। कच्चे माल के लिए नोबुल परिवार ने बाकू में एक रिफाइनरी भी लगायी। यह उद्योग आज भी 'रुस्की डीजल' के नाम से रूस में कार्यरत हैं। एल्फ्रेड के भाई इमैनुएल यह कम्पनी चलाने के लिए रूस में तीस वर्षों तक रहे थे। उनकी बहन मार्था ने एक रूसी पत्रकार से शादी की थी। इसलिए रूसी शिष्ट वर्ग नोबुल पुरस्कार पर अपना कुछ हक समझा करता था और इसके लिए गोपनीय ढंग से प्रयत्न भी करता रहता था।

स्तालीन और गोर्की परस्पर घनिष्ठ मित्र थे। २०वीं शताब्दी के आरम्भ से ही गोर्की भूमध्यसागर में स्थित कैप्री द्वीप में रहते थे। क्रान्ति के बाद स्तालीन की सलाह पर लेनिन ने उन्हें वहाँ से बुलवाया था। लेकिन लेनिन सांस्कृतिक मामलों में लूनाशार्स्की पर अधिक विश्वास करते थे। लूनाशार्स्की पर ही यह उत्तरदायित्व था कि लेखकों-बौद्धिकों और बोलशेविक राज्य के बीच की दूरियाँ कम करें। क्रान्ति-उत्तर रूस में वापस आने के बाद गोर्की मुख्यतः विश्व साहित्य के अनुवाद और प्रकाशन में लग गये। उन्होंने अलेक्सान्द्र ब्लोक और आन्द्रे बेली आदि को भी अपने प्रकाशनगृह में काम दिया। लूनाशार्स्की के निधन के बाद गोर्की सांस्कृतिक क्षेत्र की समस्याओं पर स्तालीन के सलाहकार हो गये। 'नयी आर्थिक नीति' के दिनों में सोवियत शासन ने आप्रवासी रूसियों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। उस समय इवान बूनिन की कुछ पुस्तकें रूस में राज्य प्रकाशनगृहों द्वारा प्रकाशित भी की गयीं।

स्तालीन की हार्दिक इच्छा थी कि गोर्की को नोबुल पुरस्कार मिले। गोर्की को पुरस्कार मिलने से दुनिया को यह सन्देश मिलता कि विश्व का सांस्कृतिक जगत सोवियत क्रान्ति का समर्थक है। बूनिन को पुरस्कार मिलने से इसका उलटा प्रभाव होता। बूनिन बड़े कथाकार थे। रोम्या रोलाँ अनेक वर्षों से नोबुल पुरस्कार के लिए ईवान बूनिन का नाम प्रस्तावित किया करते थे। साथ ही यह भी कहते थे कि यदि गोर्की का नाम प्रस्तावित हो तो वे उसका समर्थन करेंगे। १९२८ में गोर्की का नाम अन्तिम सूची में पहुँच गया था। पुरस्कार अन्ततः स्वीडेन के सीग्रिड उण्डसेट को मिला। अचानक सोवियत सरकार का अप्रवासियों के प्रति रुख बदल गया। न केवल अप्रवासी लेखकों को सोवियत संघ में प्रकाशित करना बन्द कर दिया गया, वहाँ के पुस्तकालयों से उनकी पुस्तकें हटा दी गयीं। एक रूसी लेखक वरलाम शालामोव साइबेरिया के श्रमशिविरों में थे, उनकी सज़ा दस वर्ष और बढ़ा दी गयी क्योंकि उन्होंने बातचीत में बूनिन को 'महान रूसी लेखक' कह दिया था।

१९३३ में फिर किसी रूसी को नोबुल पुरस्कार मिलने की चर्चा गर्म हुई। इमैनुएल नोबुल को बूनिन अपना समर्थक मानते थे। इमैनुएल ने अपने बहनोई को बूनिन के पास भेजा। तभी बहनोई की 'ब्रेन हैमरेज' से मृत्यु हो गयी।

चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति टामस मसारिक भी अप्रवासियों की सांस्कृतिक गतिविधियों में रुचि लेते थे और बूनिन के समर्थक थे। फ्रांस भी बूनिन का समर्थन करता था। स्वीडिश दूतावास के कुछ कूटनीतिज्ञों से बूनिन को पता चला कि सोवियत शासन किसी अप्रवासी को पुरस्कार दिये जाने का विरोध कर रहा है। उन दिनों स्वीडेन और रूस के बीच टेलीफ़ोन सम्बन्ध स्थापित होने का समझौता होने वाला था। सोवियत शासन यह समझौता तोड़ देने की धमकी दे रहा था। स्तालीन ने गोर्की के लिए जर्मनी का समर्थन प्राप्त कर लिया था। लेकिन पुरस्कार अन्ततः बूनिन को मिला। यह गोर्की की ही नहीं, स्तालिन की भी हार थी। स्तालिन का कहना था कि यह रूसी संस्कृति की पराजय है।

इवान बूनिन

इस आलेख में इवान बूनिन को स्थान देने की बात पहले नहीं सोची गयी थी। पास्तेरनाक के नोबुल पुरस्कार को लेकर जो विवाद हुआ उसके बाद सोवियत संघ और नोबुल पुरस्कार के सम्बन्धों की चर्चा आवश्यक हो गयी। फिर रूसी साहित्य के महान कथाकार और रूसी साहित्य के पहले नोबुल पुरस्कार विजेता ईवान बूनिन की चर्चा भी आवश्यक हो गयी।

बूनिन रूसी भाषा के महान कथाकारों में हैं। दीर्घ अनुभव और चिन्तन के फलस्वरूप कथा कौशल के विभिन्न पक्षों पर बूनिन का पूरा अधिकार था। साहित्य के तमाम प्रश्नों पर उनकी दृढ़ राय थी। उसी तरह जीवन के अन्य प्रश्नों पर भी उनके निश्चित विचार बन चुके थे। इसी कारण बोलशेविक क्रान्ति होने के बाद लोगों द्वारा बहुत समझाये जाने पर भी उन्होंने कम्युनिस्ट राज्य में रहना उचित नहीं समझा था और अप्रवासी बनकर तमाम कठिनाइयाँ सहते हुए फ्रांस की रूसी बस्ती में बस गये थे। अप्रवासी का जीवन सरल नहीं होता। न तो मानसिक तौर पर, न ही सामाजिक और आर्थिक तौर पर अप्रवासी लेखक सुखी रह सकते थे। बूनिन कठिनाइयों का जीवन जीते थे लेकिन तमाम कठिनाइयों के बावजूद बूनिन अप्रवासी बने रहे। सोवियत शासन ने अपने अनेक साहित्यकारों को समय-समय पर उनके पास भेजा और उनसे स्वदेश वापस आ जाने की प्रार्थना की। उन्हें हर तरह के साधन और सुविधाएँ देने की बात भी कही गयी। सोवियत संघ के एक बड़े लेखक और बहुत दिनों तक सोवियत लेखक संघ के अध्यक्ष रहे लियोनिद लियोनोव ने कई विदेश यात्राएँ उन्हें समझाने और सोवियत संघ में लौटाने के उद्देश्य से कीं। लेकिन बूनिन टस से मस नहीं हुए। बोलशेविक विचारधारा से उन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी। सोवियत रूस में जिस समाज का निर्माण हो रहा था उसके वे कठोर आलोचक थे।

बूनिन उसी रूसी जीवन के चितेरे हैं जिसका चित्रण तोलस्तोय, गोंकारोव और चेखोव ने किया है। उन्होंने अपने पात्रों की सूक्ष्मतम चित्तवृत्तियों का चित्रण किया है। इस कारण बहुत से लोग उन्हें १९वीं शती का लेखक मानते और समझते हैं। उनकी कथाओं में प्रायः कथावस्तु का अभाव रहता है, ज़्यादा क्रियाकलाप नहीं होते, न ही नाटकीयता होती है। उन्हें पढ़ने से किसी को लग सकता है कि उत्तर १९वीं शती में रूस के जीवन का एक अंश कहीं स्थिर हो गया है और उसका सूक्ष्मतम काव्यात्मक विवरण दिया जा रहा है। इस विवरण की उत्कृष्टता निर्विवाद है।

अप्रवासी और कम्युनिस्ट-विरोधी होने के कारण सोवियत संघ में बूनिन की पुस्तकें नहीं छपती थीं। इनकी पुस्तकों की कुछ प्रतियाँ लुक-छिप कर सोवियत संघ में पहुँच जाती थीं और रूसी पाठक उन्हें मनोयोग से पढ़ते थे, उनकी प्रतिलिपियाँ उतारते थे और वे पाठकों के बीच गुप्त रूप से बँटती रहती थीं। किसी-किसी वर्ष में नीतियों में किसी कारण बदलाव आता था। उनकी कोई पुस्तक सोवियत संघ में पुनर्मुद्रित कर दी जाती थी। 'अर्सिनोव का जीवन

चरित' उनका प्रसिद्ध काव्यात्मक उपन्यास है। 'सान फ्रांसिस्को का जेण्टिलमैन' उनकी अँग्रेज़ी में अनुवादित कहानियों में विख्यात है। यहाँ हम सोवियत संघ के लोकप्रिय उपन्यासकार कान्सटैण्टिन पास्टोव्स्की के संस्मरणों का एक अंश दे रहे हैं। यहाँ पास्टोव्स्की बूनिन के जीवन से जुड़े कुछ ऐसे स्थानों का भ्रमण कर रहे हैं जहाँ बाल्यावस्था में बूनिन रहे थे या घूमने गये थे।

'स्वर्णिम गुलाब' से एक अध्याय (कान्सटैण्टिन पास्टोव्स्की)

मुझे अपनी तरुणावस्था से ही अपने प्रिय लेखकों और कवियों के जीवन से जुड़े स्थानों में घूमने की अदम्य इच्छा होती रही है। ... ...

जाड़ों में एक दिन मैं सुबह-सुबह एक पुरानी रेलगाड़ी में बैठ गया। रेल डिब्बे की टिमटिमाती रोशनी के नीचे बैठ कर मैं बूनिन की कहानी 'एलिजा द प्रॉफेट' पढ़ने लगा। यह कहानी 'कण्टेम्पोरेरी वर्ल्ड' के एक पुराने फटेहाल अंक में छपी हुई थी। एक हृदयविदारक पीड़ा के चित्रण के कारण यह रूसी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। इस कहानी के हर विवरण में व्याप्त अपरिहार्य दुर्भाग्य, दैन्य और अकेलेपन ने मेरे हृदय को द्रवित कर दिया। उस काल में रूस की नियति यही रही थी। ...

बूनिन एक ही देश से प्यार करते थे, उन्हें वही देश छोड़ कर जाना पड़ा। लेकिन उनका जाना ऊपर का ही था। वे असामान्य रूप से गर्वीले और उग्र व्यक्ति थे। जीवन के अन्तकाल तक उनके मन में रूस ही बसा रहा। पेरिस और ग्रासे की वैदेशिक रातों में उनकी आँखों से रूस के लिए ही आँसू बहा करते थे। ये उस व्यक्ति के आँसू थे जो स्वेच्छा से अपना देश छोड़कर प्रवासी बन गया था।

मैं इस समय एलेत्स पहुँच चुका था। 'अर्सिनेव का जीवनचरित' में बूनिन लिखते हैं, 'इस शहर को अपनी प्राचीनता पर गर्व था, होना भी चाहिए था। पोडस्टेपे की काली मिट्टी के मैदानों में स्थित यह शहर सचमुच ही रूस के अत्यन्त पुराने शहरों में से था। इन मैदानों से आगे कभी 'अज्ञात देश' हुआ करते थे। जब सुजदाल और व्लादिमीर रूस के शासन के बड़े केन्द्र थे, उस समय यह रूस के सबसे मज़बूत किलों में से था। पुराने विवरणों के अनुसार एशियाई तातारों की तूफ़ानी सेनाओं के आक्रमण के समय हवा, धूल और ठण्ड के पहले प्रहार इसी किले पर होते थे।'

मैं चौराहा पार करके बाज़ार की ओर निकल गया। वहाँ गन्धों की प्रचुरता से आश्चर्य में पड़ गया- घोड़ों की लीद, हेरिंग के पुराने डिब्बे, सड़ रहा चमड़ा, किसी मृतक के लिए हो रही पूजा के समय चर्च के खुले दरवाज़ों से आ रही धूपबत्ती की गन्ध, ऊँची काली बाढ़ों के पीछे छिपे बगीचों में पेड़ से गिर कर सड़ चुकी पत्तियों की गन्ध।

शाम को मैं स्टेशन पर वापस चला आया। मैं अपने जीवन में प्रायः अकेला रहा हूँ। लेकिन उस शाम एलेत्स में जिस तरह की निस्सहायता की कटु अनुभूति हो रही थी, ऐसी कभी नहीं हुई थी। एक घण्टे बाद स्टेशन के पहरेदार ने ट्रेन के आने की घण्टी बजायी। दूसरी घण्टी पर ट्रेन आ गयी और मैं ऐफ़ेरमेव जाने वाली गाड़ी में बैठ गया। मेरे अन्तस का हर अंग प्रेम और पीड़ा से काँप रहा था। किसके लिए? एक विस्मयभरी लड़की के लिए, हाईस्कूल की एक छात्रा ओल्या मेश्चेर्शकाया के लिए जिसकी इस स्टेशन में हत्या हो गयी थी। बूनिन की कहानी 'हलकी साँस' इस पत्रिका में छपी हुई थी। मैं नहीं जानता कि इस रचना को कहानी कहा भी जा सकता है या नहीं। यह कहानी नहीं, बल्कि ज्ञानप्रदीपन है, इसमें भावनाओं और प्रेम से भरा हुआ जीवन है, एक लेखक का उदास और शान्त चिन्तन है, और एक युवती के सौन्दर्य पर शोकलेख है।

सोवियत लेखकों की दूसरी कांग्रेस में जब बूनिन को रूसी साहित्य में वापस लाये जाने की बात उठी तो उस सभागृह में हर तरफ बैठे हुए लोग उठ कर तालियाँ बजाने लगे। 'आर्सिनेव का जीवन चरित' सहित उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ तब सोवियत संघ में प्रकाशित हुई थीं।

बूनिन के बारे में लिखना जितना कठिन है, उतना ही असम्भव है। उतना ही कठिन और असम्भव इस कहानी के बारे में लिखना है। इसमें इतनी समृद्धि है, इतनी उदारता है, इतना वैविध्य है और चाहे वह 'सान फ्रांसिस्को का जेण्टिलमैन' हो या बढ़ई एवर्की हो, हर व्यक्ति को, उसकी छोटी से छोटी भंगिमा को, उसके विचारों में तेज़ी से हो रहे हर परिवर्तन को इतने विस्मयकारी रूप में, एक साथ कठोरता और नम्रता से, इतनी सुनिश्चित सुस्पष्टता से देखा गया है कि प्रकृति मनुष्य के दिलों से इतनी अभिन्न हो जाती है कि किसी के भी बारे में 'सेकेण्ड हैण्ड' लिखना बेकार और बेतुका लगता है।

बूनिन को पढ़ना पड़ता है। जो बातें उन्होंने क्लैसिकल सुस्पष्टता और सुनिश्चय से कही हैं उन्हें रोज़मर्रा के गैर-बूनिन शब्दों में कहने का कारुणिक प्रयत्न करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

इस कहानी में न केवल रूस का गौरवगान है, न केवल बूनिन के जीवन का निष्कर्ष है, न केवल अपने देश के लिए अत्यन्त गहरा और काव्यात्मक प्रेम है, न केवल इसके लिए दुःख और उल्लास की अभिव्यक्ति है जो इस पुस्तक के पन्नों से रह रह कर टपक रहे आँसुओं की तरह निकलती रहती है जैसे सायंकालीन आकाश में तारे टिमटिमा कर झर रहे हों।

इस कहानी को पढ़ कर चित्रकार नेस्तेरोव के चित्र 'होली रस्सिया' की याद आती है। झाड़ियों और ऊँची-नीची पहाड़ियों के साथ चल रहे चौड़े मार्ग पर उज्ज्वल श्वेत प्रपातों और काले पड़ रहे काठ के गिरजाघरों, पतझर की शान्ति में गिरजाघर के घण्टे से छूट कर गिर रही जंग, विस्मृत कब्रिस्तानों और छोटे-छोटे गाँवों के साथ-साथ उत्तर के प्रदीप्त आकाश में एक बड़ी भीड़ चल रही है। इस भीड़ में कौन नहीं है? यहाँ पूरा रूस चल रहा है। यहाँ भारी सुनहरी जरी की राज-पोशाक पहने एक जार चल रहा है, जंजीरों में बँधे और उन्हें बजाते हुए कैदी चल रहे हैं, घर के बुने कपड़े पहने किसान चल रहे हैं, लम्बे कोड़े लिए गड़ेरिये चल रहे हैं, सिर पर टोपियाँ पहने तीर्थयात्री चल रहे हैं, अपनी आँखों में काजल लगा कर पलकों को काला बनाये आँखे झुकाये पीले चेहरों वाली लड़कियाँ चल रही हैं, पवित्र आन्तरिक प्रकाश से उनके चेहरे प्रदीप्त हो रहे हैं। इस भीड़ में पागल चल रहे हैं, घुमन्तू भिखमंगे चल रहे हैं, धर्मोत्साही बूढ़ी औरतें चल रही हैं, बढ़ई चल रहे हैं, छड़ी पकड़े हुए बूढ़े चल रहे हैं, चलते हुए बच्चे दक्षिण की ओर जाते हुए बगुलों को सूरज की रोशनी में चमकते हुए देख रहे हैं।

इस भीड़ में इन्हें देखिए- ये तोलस्तोय हैं। इनसे कुछ ही दूर पर दोस्तोएव्स्की हैं। ये सब लोग सड़क की धूल में अन्य तमाम सत्यान्वेषियों की तरह आगे के खुले मैदान की ओर कदम बढ़ा रहे हैं जो अभी भी बहुत दूर है और जिसके बारे में वे आजीवन बातें करते रहे हैं।... ...

बूनिन की पुस्तक में एक वाक्यांश है- प्यारे-प्यारे बादलों की ऋतु आ रही है... ...। बूनिन इन शब्दों से सदा ही रहस्यमय, सदा ही आकर्षक आकाश के दर्शन और बादलों के अध्ययन का आरम्भ करते हैं... ...।

जब भी आप ग्रीष्म के बारे में बूनिन कि पंक्तियाँ पढ़ते हैं तो लगता है कि उन्होंने ये पंक्तियाँ बहुत व्यथा के साथ लिखी हैं, भले ही ये केवल दो ही पंक्तियाँ हैं।

''बगीचे में फूलों का फूलना पूरा हो चुका था, जमीन पर पत्तियाँ बिछी हुई थीं, पूरे दिन कोयल गाती रही, पूरे दिन आधी खिड़की ऊपर उठी रही।''

जीवन में जो कुछ देखने का संयोग हुआ बूनिन ने उसको पूरी लगन से और पूरी सूक्ष्मता से देखा। और देखा भी उन्होंने बहुत कुछ। युवावस्था से ही वे यात्रा पर निकल जाया करते थे। वे तब तक जो नहीं देख सके थे, बाद में उसको हर हालत में देखने की लालसा से ग्रसित थे। ... ...

पुशेश्निकोव ने जो लिखा है बूनिन के लेखन में एक विस्मयकारी स्थल है जिससे बूनिन की दक्षता का रहस्य खुलता है।

बूनिन कहते हैं कि वे जब भी किसी विषय पर कुछ लिखना शुरू करते हैं, उन्हें सबसे पहले 'एक ध्वनि' खोजनी पड़ती है। 'जैसे ही मुझे वह ध्वनि मिल जाती है, बाकी बातें अपने आप एकत्रित हो जाती हैं।'

'ध्वनि पाने का' क्या अभिप्राय है?स्पष्ट है कि इन शब्दों से प्रथमदृष्टया जितना प्रकट होता है बूनिन का अभिप्रेत उससे कहीं बहुत अधिक कुछ है।

'ध्वनि पाने' से तात्पर्य है गद्य की लय पाना, उसकी मूलभूत स्वरलहरी को पाना क्योंकि गद्य में भी कविता और संगीत की तरह ही अन्तर्भूत मूर्च्छना (स्वरानुक्रम) होती है।

गद्य की लय और इसके संगीतात्मक स्वरानुक्रम के प्रति संवेदनशीलता अपनी मातृभाषा के उच्च कोटि के ज्ञान और उसके प्रति गहरी अनुभूति होने पर ही आती है।

बूनिन अपने बचपन से ही इस लय को तीव्रता से महसूस करते थे। अभी वे बालक ही थे कि उन्हें पुश्किनकृत 'रूसलान' की पंक्तियों में हल्की वर्तुलाकार गतिशीलता दीख पड़ी- ''अनवरत वर्तुलाकार गति का जादू।''

''और रात- और दिन- बिल्ली- घूमती रही- एक जंजीर पर- हर ओर''

बूनिन का रूसी भाषा पर जैसा अधिकार था वैसा अधिकार और किसी में नहीं दीख पड़ा।

वे हर कहानी के लिए अत्यन्त सफलतापूर्वक जिन अगणित शब्दों को एकत्रित करते थे उनमें से सर्वाधिक सशक्त और चित्रात्मक शब्द किसी अदृश्य और रहस्यपूर्ण बन्धन से आख्यान से इस तरह जुड़े होते थे जैसे वे सिर्फ इस आख्यान के लिए ही बने हैं।

(अनु.- कमलेश)

ओसिप मान्देलश्ताम

ओसिप मान्देलश्ताम का जन्म पास्तरनाक के जन्म के एक वर्ष बाद १८९१ में वारसा के एक समृद्ध यहूदी परिवार में हुआ। उनका परिवार सांस्कृतिक रुचियों से भी समृद्ध था। उन्हें शिक्षा के लिए सेण्ट पीटर्सबर्ग भेजा गया। हम पास्तेरनाक के प्रसंग में यह जान चुके हैं कि रूस की शिक्षा संस्थाओं में यहूदियों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध था। उनको कैसे प्रवेश मिल सका, इसका कारण पता नहीं चलता। सम्भवतः उन्होंने अपने ईसाई होने का कोई प्रमाण दिया हो। मान्देलश्ताम को अपने आत्मसम्मान का इतना ध्यान रहता था कि उन्होंने ऐसा किया होगा, यह भी सम्भव नहीं लगता।

वस्तुतः मान्देलश्ताम को अपने यहूदी होने से कुछ वितृष्णा थी। यहूदी धर्म के विषय में अपने सम्बन्धियों को देख सुन कर उन्हें जो पता लगा था उससे उन्हें लगता था कि यह एक भयावह प्राचीन धर्म है जिसके धर्मग्रन्थ किसी अज्ञात प्राचीन भाषा में लिखे गये हैं और इसकी परम्पराएँ व्यापार की परम्पराएँ हैं। यहूदी धर्म की तुलना में उन्हें सेण्ट पीटर्सबर्ग की संस्कृति व्यवस्थित और सार्थक लगती थी। उन्होंने अपनी संक्षिप्त आत्मकथाः 'जमाने का शोर' में उन वर्षों में यहूदी धर्म के प्रति रूसी मध्य वर्ग की वितृष्णा का भी उल्लेख किया है। यह वितृष्णा आज तक बनी हुई है। रूस में यहूदियों पर हमेशा अत्याचार होते रहे हैं फिर भी अनेक यहूदी रूसी बौद्धिक वर्ग का अंग बन सके। हालाँकि उनके पास न तो सम्पत्ति होती थी न ही राजनीतिक सत्ता होती थी। यहूदियों में परस्पर एकता की भावना अवश्य होती थी। उनमें मजाकिया और व्यंग्योक्ति की प्रवृत्ति रहती थी और इसमें वे अन्य रूसी लेखकों से अलग दीख पड़ते हैं।

मान्देलश्ताम को शीघ्र ही सेण्ट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय की साहित्यिक मण्डलियों में प्रतिभावान कुशल कवि के रूप में जाना जाने लगा। १९०७ से ही पत्र पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगीं। उनका पहला संग्रह 'पाषाण' १९१३ में प्रकाशित होते ही उन्हें नयी पीढ़ी के श्रेष्ठतम रूसी कवियों में स्थान मिल गया।

मान्देलश्ताम 'एक्मेइस्ट' कवियों के साथ थे। वे अपने पूर्ववर्ती कविता आन्दोलन प्रतीकवाद की अपरिभाषेय रहस्यवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध रूसी कविता में मूर्त बिम्बों को प्रतिष्ठापित करने वाले अपनी पीढ़ी के अन्य कवियों के साथ थे। अपनी इसी मान्यता के कारण मान्देलश्ताम को अलेक्सान्द्र ब्लोक की कविताएँ नापसन्द थीं। 'एक्मेइस्ट' लोगों के प्रेरणाश्रोत कवि इन्नोकेन्ती अन्नेन्स्की (१८५६-१९०५) थे जो ग्रीक भाषा के अध्यापक रहे थे। वे क्लासिकी भाषा के विद्वान होने के अलावा सौन्दर्यवादी भी थे और लम्बी-लम्बी सुन्दर कविताएँ लिखा करते थे। निकोलाई गुमिल्योव और अन्ना आख्मातोवा के साथ मान्देलश्ताम ने 'पोएट्स गिल्ड' बनायी थी। गिल्ड के कवि कविता में शिल्प को बड़ा स्थान देते थे।

मान्देलश्ताम ने अपने को विश्व कवि के रूप में प्रशिक्षित किया था। यूरोप की प्रमुख भाषाओं के श्रेष्ठतम कवियों का अध्ययन और मूल्यांकन करके वे कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे थे। उनकी कविताओं में प्रायः उनके सन्दर्भ मिलते हैं। साथ ही वे ऐतिहासिक और राजनीतिक जीवन की घटनाओं पर भी हमेशा टिप्पणी करते रहते थे।

ज़िन्दगी गिरी जैसे बिजली

ज़िन्दगी गिरी जैसे गरमियों में बिजली
पानी भरे गिलास में जैसे आँख के कोए।
झूठ बोला, मैं एकदम झूठ
पर दोष इसमें नहीं किसी का।
तुम्हें रात का सेव चाहिए क्या
रसभरा ताजा अभी अभी तोड़ा हुआ
कहो तो उतार दूँ अपने ऊनी जूते
उठा दूँ उन्हें पंख की तरह ऊपर।
मकड़ी का जाला पहने खड़ा है देवदूत
भेड़ की खाल का सुनहरी कोट लिये

मशाल की रोशनी पहुँच रही है
देवदूत के ऊँचे कन्धों तक।
नींद से उठी बिल्ली
धारण करती है खरगोश का रूप
अचानक रास्ता काटती हुई
गायब हो जाती है दूर कहीं।

काँप रही थी होंठों की रसभरी
बेटे को पिलायी जा रही थी चाय
बिना कुछ सोचे-समझे
हो रही थीं बातें अर्थहीन-असंगत।
अचानक बात अधूरी छोड़
वह मुस्करा दी झूठ बोलने की तरह
इस तरह कि चमक उठीं
रेखाएँ उसके बदरंग सौन्दर्य की।
उद्यानों की हलचल और
आँखों के कोओं के पीछे
एक ऐसा है देश
जहाँ तुम बन सकती हो मेरी पत्नी।
चुन कर सूखे ऊन के जूते
सुनहरी कोट भेड़ की खाल का
लेकर हाथ में हाथ
चल देंगे हम दोनों उसी राह पर।
निर्बाध पीछे देखे बिना
इस चमकते मील पत्थरों पर
रात से सुबह तक
पड़ती रहेगी लालटेनों की रोशनी।

(अनु.- वरयाम सिंह)

आने वाले युगों की खातिर

आने वाले युगों की गरजती गरिमा की खातिर
उन्नत मानव समाज की खातिर
पितरों के भोज में वंचित रहा मैं अपने प्याले से,

वंचित रहा आनन्द और सम्मानित होने के अवसर से।
आ झपटता है मेरी पीठ पर मेरा युग-भेड़िया पकड़ता हुआ कुत्ता,
पर अपने खून से तो मैं हूँ नहीं कोई भेड़िया,
टोपी की तरह छिपाओ मुझे
साइबेरियाई स्तैपी के गर्म फरकोट की आस्तीन में।
कि मुझे देखने की न मिलें काई, कीचड़ और गन्दगी
न ही पहियों पर लगी खूनसनी हड्डियाँ
कि मेरे सामने रातभर चमकती रहें
ध्रुव प्रदेश की नीली लोमड़ियाँ अपने आदिम सौन्दर्य में।
मुझे ले चलो रात्रिप्रदेश में जहाँ बहती है एनिसेई नदी
जहाँ तारों तक पहुँचती हैं देवदारुओं की चोटियाँ,
कि अपने खून से मैं हूँ नहीं कोई भेड़िया
कोई मार सका यदि मुझे वह होगा मेरी ही बराबरी का।

(अनु.- वरयाम सिंह)

ओसिप मान्देलश्ताम का साहित्य सिद्धान्त प्रतीकवाद के प्रतिकूल था। वे गुमिल्योव और आख्मातोवा के साथ 'एक्मेइस्ट' आन्दोलन के कर्णधार थे। उनका ठोस और मूर्त बिम्बों में विश्वास था। 'पाषाण' की कविताएँ रूसी कविता में एक मौलिक शैली लेकर आयी थीं। लगता था कि शब्दों के बीच खाली जगहों में तरह-तरह के अर्थ भरे हुए हैं, कविता के भीतर अनेक ऐतिहासिक , साहित्यिक और राजनीतिक सन्दर्भ पड़े हुए हैं। मान्देलश्ताम को अपनी कविताएँ पढ़ने में भी आनन्द आता था। वे सड़क पर भी परिचितों को रोक कर अपनी कविताएँ सुनाने लग जाते थे।

क्रान्ति के बाद के दिनों में उन्होंने लेनिन के प्रति भी कविता लिखी। इसका शीर्षक था 'स्वतन्त्रता की सन्ध्या'। रूसी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार डी.एस. मिर्स्की के अनुसार इस कविता में मान्देलश्ताम ने लेनिन की एक ऐसी बात के लिए प्रशंसा की थी जिस बात के लिए अन्य किसी ने लेनिन की प्रशंसा करने की नहीं सोची होगी। मान्देलश्ताम ने लेनिन को 'उत्तरदायित्त्व के साहस' का प्रतीक कहा था।

युग

ओ मेरे युग, मेरे बनैले पशु,
तेरी पुतलियों में झाँकने का
किसमें इतना साहस
जो जोड़े अपने खून से
दो शताब्दियों की रीढ़ को?
सर्जक-रक्त बह रहा है वेग से
सांसारिक चीजों के कण्ठ से

नये समय की देहरी पर
ये परजीवी प्राणी हैं जो थरथरा रहे हैं।
जीवन जब तक शेष है
उसे उठाते रहनी होगी अपनी रीढ़
इसी अदृश्य रीढ़ के साथ
खेल रही हैं लहरें आज
शिशुओं की हड्डियों की तरह।
पृथ्वी पर नाजुक है हमारा यह समय
बलि के लिए लाया जा रहा है जीवन।
अपने युग को कैद से मुक्त कराने के लिए
शुरू करने के लिए एक नयी जिन्दगी
गाँठों से भरे दिनों के घुटनों को
बाँधना होगा बाँसुरी की मदद से।
यह युग है जो लहरों को
हिलाता है मनुष्य के अवसाद से
समय के सुनहले मानदण्डों की तरह
घास के नीचे साँस ले रहे हैं साँप।

और भी फूटेंगे अँखुए
हरे फव्वारे की तरह
पर टूट गयी है तेरी रीढ़।
ओ मेरे सुन्दर दयनीय युग!
पुनः देखने लगा है तू निर्मम, अशक्त
अपनी अर्थहीन मुस्कराहट से
बनैले पशु की-सी लचक लिये अपने ही पंजों की छाप।
सर्जक-रक्त बह रहा है वेग से
सांसारिक चीजों के गले से
और जलती मछलियों की तरह
तट पर फेंक रहा है समुद्र की हड्डियाँ,
ऊपर पक्षियों के जाल
और ढेलों की आर्द्रता
टपक रही है उदासीनता

तेरे प्राणान्तक घावों पर।

(अनु.- वरयाम सिंह)

राजनीतिक और ऐतिहासिक घटनाओं के प्रति ओसिप मान्देलश्ताम की प्रतिक्रिया बहुत ईमानदार, प्रामाणिक, मौलिक और महत्त्वपूर्ण होती थी। वे देख रहे थे कि किस प्रकार सोवियत समाज भयाक्रान्त होता जा रहा है। 'लोग एक दूसरे की निन्दा कर रहे थे। उनके प्रति खुफिया पुलिस को शिकायतें भेज रहे थे। जो लोग दुर्बल थे उनको मारा पीटा जाता था। अपराधियों और कैदियों को फाँसी की सजा देने की माँग हो रही थी'। इसी समय मान्देलश्ताम ने एक गद्यकृति 'चौथा गद्य' लिखी। कुछ आलोचक इसे दोस्तोएव्स्की के 'नोट्स फ्राम द अण्डरग्राउण्ड' के समकक्ष कृति मानते हैं।

मान्देलश्ताम को स्तालिन की किसान विरोधी नीतियों से भी चिढ़ थी। उन्हें इस तरह के नारे- 'इस मुजीक ने अपने घर में जई छिपा कर रखी है, इसे मार डालना चाहिए', बिल्कुल पसन्द नहीं आते थे। उनका क्रोध ('अधिकारी लोग उस्तरा पकड़े नाई के हाथ की तरह घृणा उपजाते हैं') जिस कृति में प्रकट हुआ वह उनकी अन्य कविताओं से अलग थी।

उसकी मोटी उँगलियाँ कीड़ों की तरह फूली हुई हैं।
उसके शब्दों का भार बटखरों की तरह नपा तुला है।
उसकी तिलचट्टा आँखें सबका मजाक उड़ाती हैं
और उसके जूते चमकते रहते हैं।

उन्होंने इस कविता में स्तालीन पर ऐसे व्यंग्य बाण छोड़े थे जो सीधे घाव करने वाले थे। मान्देलश्ताम ने जब यह कविता पास्तेरनाक को सुनायी तो उन्होंने कहा कि 'यह साहित्यिक कृति नहीं है, यह आत्महत्या करने जैसा कार्य है। मुझे यह बिलकुल पसन्द नहीं है। मैं किसी भी रूप में इस कविता से सम्बन्धित नहीं होना चाहता'। आख्मातोवा को लगा कि यह कविता रूस की एक आदिम लोकशैली में लिखी गयी है।

खामोशी

उसका अभी जन्म हुआ नहीं
वह संगीत है, शब्द भी
इसीलिए अटूट सूत्र है वह
उस सबका जो कि जीवित है।
चैन से साँस ले रहा है समुद्र का सीना
पर पागल की तरह उज्ज्वल है दिन,
बुझे-बुझे से हैं लाइलैक झाग के
इस साँवले नीले पात्र में।
प्राप्त होगा मेरे होठों को
वह पुरातन आदि मौन

स्फटिक के स्वरों की तरह जो
निष्कलुष रहा जन्म से।
ओ झाग, ओ अफ्रोडाइटी,
ओ शब्द, लौट जाओ संगीत में,
ओ हृदय, शर्म कर उस हृदय से
जो एक हो गया है जीवन के मूल आधार से!

(अनु.- वरयाम सिंह)

मान्देलश्ताम को स्तालिन विरोधी और 'कोलखोज' विरोधी कविताएँ लिखने के अपराध में मास्को में १९३४ में गिरफ्तार कर लिया गया। उनके किसी श्रोता ने खुफिया पुलिस को इस बारे में सूचित किया था। खुफिया पुलिस ने उन पर आरोप लगाया कि उनकी कविताएँ 'देश के नेता के विरुद्ध आतंकवादी कार्य हैं'। निकोलाई बुखारिन ने स्तालिन से अनुरोध किया कि मान्देलश्ताम दया के पात्र हैं। स्तालिन ने आदेश दिया कि मान्देलश्ताम को 'कोई सजा नहीं दी जाए लेकिन उनको अलग-थलग कर दिया जाना चाहिए'। फिर भी खुफिया पुलिस ने मान्देलश्ताम को गिरफ्तार कर लिया।

मान्देलश्ताम अभी ४३ वर्ष के ही थे। गिरफ्तारी और खुफिया पुलिस की लम्बी पूछ-ताछ ने उनको बूढ़ा बना दिया था। जेल में उन्होंने अपनी दोनों कलाइयों की नसें काटने की कोशिश की। बाद में जब उन्हें साइबेरिया में निष्कासन की सजा हुई तो उन्होंने एक मकान की दूसरी मंजिल से सड़क पर छलाँग लगा ली। यातना शिविरों के जीवन में मान्देलश्ताम की मानसिक अवस्था को प्रलाप की अवस्था बना दिया था। छलाँग लगाने से उनके हाथ पाँव टूट गये। उस समय तो मान्देलश्ताम बच गये लेकिन बाद की खबरों के अनुसार साइबेरिया में एक यातना शिविर से दूसरे यातना शिविर को जाते हुए मार्ग में ही २७ दिसम्बर १९३८ को मान्देलश्ताम की मृत्यु हो गयी। कुछ खबरों के अनुसार मृत्यु के समय वे विक्षिप्त अवस्था में थे। ये सारी सूचनाएँ उनकी मृत्यु के बहुत बाद के दिनों में एक-एक करके मिलीं और आज तक इनके बारे में अनेक प्रकार की अफवाहें सुनायी पड़ती हैं।

मुझे मिला है शरीर

मुझे मिला है शरीर, क्या करूँ मैं उसका ?
उस इतने साबुत और इतने मेरे अपने आपका?
साँस लेने और जीने की खुशियों के लिए
किसे कहूँ मैं शब्द धन्यवाद के?
मैं ही फूल हूँ और मैं ही उसे सींचने वाला
अकेला नहीं मैं संसार की काल कोठरी में।
काल की अनन्तता के काँच पर
यह मेरी गरमी है और यह मेरी साँस।
उभर आती है उस पर ऐसी बेलबूटी

तय करना मुश्किल कि असल में वह है क्या?
धुल जायेगी आज के इस क्षण की मैल
पर मिटेगी नहीं यह सुन्दर बेलबूटी।

(अनु.- वरयाम सिंह)

रेलवे स्टेशन पर संगीत सभा

असम्भव है साँस लेना।
कीड़े-मकोड़ों से भरा है आकाश।
पर तारा एक भी नहीं बोल रहा।
ईश्वर देखता है-
हमारे ऊपर है संगीत
गानों की आवाज से काँप रहा है स्टेशन
इंजन की सीटियाँ
धुल-सी गयी हैं हवा की चिन्दियों में।
विशाल उद्यान। स्टेशन जैसे काँच का ग्लोब।
लोहे की दुनिया सम्मोहित खड़ी है फिर से।
ध्वनियों के आस्वाद
और धुन्ध के स्वर्ग की ओर
विजयदर्प से भाग रही हैं गाड़ियाँ।
मोर की चीख। पिआनो की गड़गड़ाहट।
मैं देर से पहुँचता हूँ। मुझे डर लग रहा है। यह सपना है।
मैं प्रवेश करता हूँ स्टेशन के काँच के जंगल में।
गड़गड़ाहट मची है वायलिन वादकों में,
वे रो रहे हैं।

रात की नर्तकमण्डली का उन्मत्त आरम्भ,
सड़ाँध भरे काँचघर में गुलाबों की महक,
यहीं काँच के आकाश के नीचे
घुमक्कड़ भीड़ के बीच रात बितायी आत्मीय छाया ने।
संगीत और झाग से घिरी
भिखमंगों की तरह काँप रही है लोहे की दुनिया।
खड़ा होता हूँ काँच की आड़ के सहारे।
तुम किधर?प्रिय छाया की शोकसभा में
यह संगीत बज रहा है आखिरी बार।

(अनु.- वरयाम सिंह)

बहुत दिनों तक मान्देलश्ताम की मृत्यु के बारे में लोगों का ज्ञान अफवाहों तक सीमित था। उनकी विधवा नदेझ्दा मान्देलश्ताम ने दो खण्डों में संस्मरणों की पुस्तक लिखी। यह पुस्तक सोवियत संघ में तो छप नहीं सकती थी, लेकिन वहाँ 'समिज्दात' में प्रतिलिपियाँ बना कर वितरित होती रही। कुछ दिनों बाद रूसी भाषा में उसके एक खण्ड का प्रकाशन जर्मनी में हुआ। उसके बाद उसके दोनों खण्डों का अंग्रेजी अनुवाद हुआ और इंग्लैण्ड और अमरीका में १९७० के दशक में उसका प्रकाशन हुआ। थोड़े ही दिनों में इन संस्मरणों को कालजयी कृति मान लिया गया।

मान्देलश्ताम की कविताएँ भी कागजों में लिखी जाने पर सुरक्षित नहीं रह सकती थी। तलाशियों में पुलिस कागज के छोटे-छोटे टुकड़े भी उठा ले जाती थी। उनकी सारी कविताएँ नदेझ्दा की स्मृति में सुरक्षित रहीं। उन्होंने इन कविताओं को कभी कागज पर उतारा और बाद में उनका प्रकाशन अप्रवासी प्रकाशनगृहों से हुआ। नदेझ्दा के प्रयत्नों के कारण ही मान्देलश्ताम की कविताएँ बच पायीं और अन्ततः उनको रूसी कविता के इतिहास में अपना उचित स्थान मिला।

'समय का शोर'- ओसिप मान्देलश्ताम

मान्देलश्ताम ने 'समय का शोर' शीर्षक से अपनी संक्षिप्त आत्मकथा प्रकाशित करवायी थी। इसके कुछ पृष्ठों में उनके अपने काव्य सिद्धान्त का भी विवेचन है। हम इसके कुछ अंश यहाँ दे रहे हैं:

> ''मैं यहाँ अपने विषय में नहीं लिखना चाहता। मैं एक शताब्दी के दर्शक के रूप में, इस काल के उद्‌भव और इससे जुड़े हुए शोरगुल के बारे में लिखना चाहता हूँ। मेरी स्मृति बिलकुल निजी बातों (आत्मपरकता) की शत्रु है। अगर सिर्फ मेरा ही चलता तो मैं भौहों को सिकोड़े हुए अतीत की याद करता रहता। मेरे मन में तोलस्तोय परिवार और अक्साकोव परिवार के बारे में भी कभी कोई उत्सुकता पैदा नहीं हुई। अपने पारिवारिक अभिलेखों के प्रति बागरोव के नाती-पोतों में कितना प्रेम है। अपने परिवार के पूर्वकालीन बहादुरी के किस्से उन्हें कितना सुहाते हैं। मैं यह बात फिर दुहराना चाहूँगा कि मेरी स्मृति में प्रेम नहीं, प्रतिकूलता है, विरोध है। मैं अतीत का पुनर्निर्माण नहीं, उसका विनाश करना चाहता हूँ, मैं उसे मिटा देना चाहता हूँ। सामान्य लोगों को स्मृति की कोई आवश्यकता नहीं है। वे जो किताबें पढ़ते हैं उनके बारे में बातचीत करना ही उनके लिए पर्याप्त है। इतने में ही उनकी आत्मकथा समाप्त हो जाती है। सुखी पीढ़ियों के लिए जब सुनिश्चित छन्दों में लिखे महाकाव्य में वंशावलियों का गुणगान हो रहा होता है, उस स्थान में मेरे लिए एक रिक्ति भरी होती है। मेरे और शताब्दी के बीच पारिवारिक अभिलेखों के लिए जो जगह है वह खाली पड़ी हुई है और उसमें समय का शोर सुनायी पड़ता रहता है।''
>
> ''मेरे परिवार के लोग क्या कहना चाहते हैं?मुझे कुछ नहीं मालूम। लगता है इन लोगों की वाणी में कोई दोष था, हालाँकि इन लोगों के पास कुछ था जो ये मुझे देना चाहते थे। हम लोग, मेरे मित्र और मैं, हम गूँगा पैदा होने से दुखी हैं। हम बोलना नहीं, सिर्फ बड़बड़ाना जानते हैं। अपनी शताब्दी के लगातार तेज हो रहे शोर को सावधानी से सुनने के बाद ही, जब इस उभार की लहरों से बन रहा फेन हमारे सिर पर लिपटने लगता है, तब कहीं हममें बोलने की क्षमता आती है।

''यह क्रान्ति स्वयमेव जीवन भी है, मृत्यु भी है। इसकी उपस्थिति में हम जब मृत्यु और जन्म पर गप्पें मारते हैं तो इसको बुरा लगता है। इसका गला प्यास से सूखने लगता है। फिर भी इसे अजनबी हाथों से एक बूँद पानी भी नहीं स्वीकार्य है। प्रकृति- क्रान्ति- अनन्त प्यास है। गले में सूखे से फफोले पड़ गये हैं। सम्भवतः इसे उन शताब्दियों से ईर्ष्या है जिनकी प्यास एक शान्तिपूर्ण घरेलू तरीके से शान्त हो जाया करती थी, वे शताब्दियाँ भेड़ों के लिए रखे हुए पानी भरे नादों के पास जाकर अपनी प्यास बुझा लिया करती थीं। यह बीमारी क्रान्ति की विशेषता है। अजनबी हाथों से कुछ न स्वीकार करने की बाध्यता है। इसमें अपने जीवन के श्रोतों के निकट आने का साहस भी नहीं है।''

बहुत रह लिया उदासी में

बहुत रह लिया मैं इस उदासी में,
मेज़ पर पसार दूँगा कागज,
आज मैं वश में हूँ एक भले प्रेत के।
लगता है जैसे फ्रांसीसी हेअर ड्रेसर ने
शैंपू से जड़ों तक धो डाले हैं मेरे बाल।
मैं अभी मरा नहीं, तैयार हूँ शर्त बदने के लिए,
अब भी रेस कोर्स में दिखा सकता हूँ करतब-
सवार हो सकता हूँ दुलत्ती मारते घोड़े पर।
पूरा अहसास है मुझे-
यह वर्ष उन्नीस सौ इकतीस है,
चेरी के फूलों में खिल उठा है यह खूबसूरत साल,
प्रौढ़ हो गये हैं बरसात के कीड़े
और पूरा मास्को सवार है छोटी-छोटी नावों पर।
उद्विग्न होने की जरूरत नहीं
पर ऐयाशी होगा धीरज खोना,
उल्लासहीन मैं निकल सकूँगा सड़क पर
बनाये रखूँगा ज़रूरी फासला।

मान्देलश्ताम के बारे में अन्ना आख्मातोवा की डायरी के कुछ अंश

''मान्देलश्ताम की बातचीत बहुत ही चमत्कारिक हुआ करती थी। बातचीत करते हुए वे अपनी बात स्वयं नहीं सुनते थे, न ही अपनी किसी बात का उत्तर देते थे, जैसा आज कल लोग बातचीत में किया करते हैं। उनकी बातचीत पर ध्यान केन्द्रित करना होता था, उनकी बातचीत कल्पनाशील होती थी और उनकी बातचीत अनन्त प्रकार की होती थी। मैंने कभी उनको अपने को दोहराते हुए नहीं सुना।

''ओसिप एमेलिएविच (मान्देलश्ताम) विदेशी भाषाएँ बड़ी सरलता से सीख लेते थे। वे दान्ते की 'डिवाइन कॉमेडी' के पन्ने के पन्ने इतालवी भाषा में सुनाते रह सकते थे। अपनी मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व ही उन्होंने अपनी पत्नी नादिया को अँग्रेजी सिखाने के लिए कहा था। तब तक उन्हें अँग्रेजी बिलकुल नहीं आती थी।

''कविता के विषय में उनके कथन चमत्कारिक होते थे। उनकी कविता विषयक बातों में प्रायः पूर्वग्रह होता था। कभी-कभी वे दूसरे कवियों की आलोचना करने में सीमाएँ लाँघ जाते थे। उदाहरण के लिए उनकी अलेक्सान्द्र ब्लोक की आलोचना। एक बार उन्होंने पास्तेरनाक के बारे में कहा कि 'मैं आजकल पास्तेरनाक के बारे में इतना ज्यादा सोच रहा हूँ कि मुझे थकान होने लगी है।' फिर एक दिन कहा- 'मैं जानता हूँ कि पास्तेरनाक ने मेरी लिखी एक पंक्ति भी नहीं पढ़ी है।' उन्होंने मरीना त्स्वेतायेवा के बारे में कहा- 'मैं त्स्वेतायेवा- विरोधी हूँ।'

''उन्हें संगीत का बहुत अच्छा ज्ञान था। किसी एकाध कवि की ही संगीत में ऐसी पैठ रही होगी। उनकी आवाज़ चली जा सकती है, यह सोच कर वे परेशान रहा करते थे। एक बार उनकी आवाज़ गयी तो उन पर आतंक बरपा हो गया। वे यहाँ से वहाँ जाने लगे और आवाज जाने के अजीब-व-गरीब कारण बताने लगे।

''वे अपने पाठकों को लेकर भी बहुत चिन्तित रहते थे। उन्हें हमेशा लगता था कि उन्हें गलत पाठक ही पढ़ते हैं। उन्हें दूसरे कवियों की कविताएँ अच्छी लगती थीं और पूरी की पूरी याद रहती थी। कभी-कभी किसी पंक्ति से उन्हें प्रेम हो उठता था और वे बार-बार उसे दुहराते रहते थे। अगर कोई कवि उन्हें अपनी कविता सुनाता था तो उन्हें वह याद हो जाती थी।

''३० मई १९३४ को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। मुझे बहुत से तार मिले। मैं उसी दिन सेण्ट पीटर्सबर्ग से मास्को आ गयी। मेरे पास एक तरफ का टिकट खरीदने का ही पैसा था। वापसी के टिकट के लिए मैंने अपने पास एक मूर्तिकार मित्र की भेंट दी हई छोटी सी मूर्ति रख ली ताकि उसे बेच कर टिकट खरीदने के लिए पैसा पाया जा सके। मान्देलश्ताम की गिरफ्तारी के वारण्ट पर स्वयं यगोदा (उस समय गुप्त पुलिस के अध्यक्ष) के हस्ताक्षर थे। पुलिस के लोग सारी रात तलाशी लेते रहे थे। वे कविताएँ ढूँढ़ रहे थे। हम सब एक कमरे में बैठे हुए थे। यहाँ बड़ी शान्ति थी। पिछवाड़े में कृषानोव के घर में कोई हवाईयन गिटार बजा रहा था जिसकी ध्वनि सुनायी पड़ रही थी। एक पुलिस वाले को 'भेड़ियों की शताब्दी' शीर्षक कविता मिल गयी। उसने मान्देलश्ताम को कविता दिखायी। मान्देलश्ताम चुप रहे और उन्होंने अपना सिर हिलाया। वे उन्हें सुबह सात बजे ले गये। उस समय तक धूप निकल रही थी। जाते समय हमने एक दूसरे का चुम्बन लिया।

''१५ दिन बाद सुबह ही सुबह नादिया के पास एक फोन आया। उसे कहा गया कि अगर वह निष्कासन पर जाते हुए अपने पति के साथ जाना चाहे तो कजान रेलवे स्टेशन पर उस रात आ जाये। मैं अपने एक मित्र के साथ उनकी यात्रा के लिए पैसा इकट्ठा करने के लिए कुछ लोगों के पास गयी। वे लोग जितना दे सकते थे, उससे अधिक ही दिया। एक महिला तो रोने लगी और उसके पास जो कुछ था उसने बिना गिने मेरे हाथ में रख दिया। यह काफी रकम थी।

''मैं नादिया के साथ कजान स्टेशन गयी। लेकिन उसी शाम को मेरी ट्रेन भी लेनिनग्राद स्टेशन से जाने

वाली थी। इसलिए मुझे शीघ्र ही जाना पड़ा। वे लोग मान्देलश्ताम को लेकर देर से आये, तब तक मैं जा चुकी थी। किसी को उनसे बोलने की अनुमति नहीं थी। मैंने बहुत बुरा किया कि मैं उनके आने के पहले ही चली आयी और वे मुझे देख नहीं पाये। बाद में जब भी उनको पागलपन के दौरे आते थे तो वे कहते थे कि वे आख्मातोवा को पकड़ ले गये हैं और उसे गोली मार दी गयी है। वे मेरी लाश ढूँढ़ते रहते थे।

''१९३६ की फरवरी में मैं मान्देलश्ताम से मिलने वोरोनेझ गयी। तब कहीं मान्देलश्ताम के साथ क्या हुआ था, मुझे इसका विस्तार से पता चला। यह आश्चर्यजनक लगता है कि मान्देलश्ताम ने वोरोनेझ में रहते हुए ऐसी कविताएँ लिखीं जिनमें चौड़ाई और विस्तार था। ऐसा वे बन्दी रहते हुए भी कर पाये, जबकि उन्हें किसी तरह की स्वतन्त्रता नहीं थी।?

''वोरोनेझ में रहते हुए उन्हें 'एक्मेइज्म' भाषण देने के लिए जोर डाला गया। जिन लोगों ने यह किया उनका यह षड़यन्त्र ही था। वे मान्देलश्ताम को फिर से फँसाना चाहते थे। मान्देलश्ताम ने १९३७ में ही कहा था कि 'वे न तो जीवित लोगों को त्यागते हैं, न ही मृत लोगों को त्यागते हैं।'

''हाल के वर्षों में रूसी भाषा में मान्देलश्ताम के बारे में कई किताबें लिखी गयीं हैं। इनमें बहुत सा झूठ है, बहुत सी बातें केवल अफवाह हैं। एक पुस्तक ज्योर्जी इवानोव की 'पीटर्सबर्ग नाइट्स' है। इससे भी अधिक चकित करने वाली, गलतियों और मामूली बातों से भरी पड़ी एक अन्य पुस्तक लियोनिद चैट्स्की की है जिसे अमरीका के हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ने छापा है।

''मान्देलश्ताम दुखी जीव थे। वोरोनेझ में निष्कासन काल में भी उन्होंने अकथनीय सौन्दर्य और शक्तिमत्ता वाली कविताएँ लिखीं। कविता में उनका कोई पूर्ववर्ती नहीं था। क्या उनके जीवनी लेखकों को इसके बारे में नहीं सोचना चाहिए। पूरे विश्व की कविता में ऐसा कोई दूसरा कवि मुझे नहीं दीख पड़ता। हमको पुश्किन और ब्लोक की कविताओं के स्रोत पता हैं लेकिन मान्देलश्ताम की कविता में इतनी नयी और दिव्य संगति कहाँ से आयी यह हमें कौन बतला सकता है?

''मैं १९३७ की हेमन्त ऋतु में मान्देलश्ताम से एक बार और मिली थी। वह नादिया के साथ दो-चार दिनों के लिए लेनिनग्राद आये थे। यह विपदा का काल था। हम सभी के पीछे विपत्ति चलती रहती थी। मान्देलश्ताम के पास तनिक सा भी पैसा नहीं था। उनके और उनकी पत्नी के रहने के लिए कोई जगह नहीं थी। ओसिप की साँस भारी हो गयी थी। वे ओठों से साँस ले रहे थे। मैं उनसे किस जगह मिलने गयी थी, याद नहीं। सब कुछ भयानक दुःस्वप्न जैसा था। मेरे बाद कोई आदमी आया, उसने कहा कि ओसिप के पिता के पास पहनने के लिए ऊनी कपड़े नहीं हैं। ओसिप ने अपने जैकेट के नीचे एक स्वेटर डाल रखा था। उसे निकाल कर उन्होंने दे दिया कि वह उनके पिता को पहुँचा दिया जाए। उन दिनों हम दोनों जेम्स ज्वाएस की 'युलिसेज' पढ़ रहे थे। मान्देलश्ताम के पास इसका एक बहुत बढ़िया जर्मन अनुवाद था। हमने कई बार इस पुस्तक पर बात करने की कोशिश की, बात आगे नहीं बढ़ी, यह समय किताबों पर बात करने का नहीं था।

''मान्देलश्ताम को दूसरी और अन्तिम बार दो मई १९३८ को गिरफ्तार किया गया। कुछ ही महीनों बाद साइबेरिया में उनकी मृत्यु हो गयी।'' यह समाचार कई महीने बाद मास्को पहुँचा।

यातना शिविरों में पहनने के लिए मान्देलश्ताम के पास केवल चीथड़े थे। उन्हीं से वे अपना शरीर ढके रहते थे। इन कपड़ों में चीलर भरे पड़े थे। साथ के कैदियों से वे कभी-कभी कहते कि मैं तुम्हें कविता सुनाउँगा, मुझे रोटी का केवल एक टुकड़ा दे दो। रूसी भाषा के सर्वाधिक मौलिक कवि का बोलशेविक समय में यही हाल होना था।

मारीना त्स्वेतायेवा

मारीना त्स्वेतायेवा के पाठक उनको रूस की ही नहीं विश्व की और सर्वकाल की सर्वश्रेष्ठ कवियित्री मानते हैं। उनके कविताओं और गद्यांशों के वरयाम सिंह द्वारा किये गये अनुवाद को पढ़ कर हम उनकी श्रेष्ठता का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। विवाद इस बात को लेकर भी है कि उनकी कविता श्रेष्ठ है या तुलनात्मक रूप में उनका गद्य श्रेष्ठ है। वास्तविकता यह है कि मारीना त्स्वेतायेवा विश्व की सर्वश्रेष्ठ कवि- लेखिकाओं में हैं। वरयाम सिंह की पुस्तक 'इस बेसहारा वक्त में'- 'मारीना त्स्वेतायेवा की कविताएँ' केवल रूसी कविताओं और गद्यांशों के अनुवाद की ही पुस्तक नहीं है, यह हिन्दी कविता की भी श्रेष्ठ पुस्तक है। इस पुस्तक को हिन्दी कविता के रूप में ही पढ़ा जाना चाहिए। वरयाम सिंह के अनुवाद में हिन्दी को एक अद्‌भुत नया कवि मिल गया है। इस महान कवि को हिन्दी को अपना लेना चाहिए।

मारीना त्स्वेतायेवा का जन्म मान्देलश्ताम के जन्म के एक वर्ष बाद मास्को में २६ सितम्बर, १८९२ में हुआ था। उनके पिता कला इतिहास के प्राध्यापक थे, जर्मनी के बोलोन विश्वविद्यालय से उन्हें मानद डॉक्टरेट की उपाधि मिली थी। वे पहले कीव में, बाद में मास्को विश्वविद्यालय में कला इतिहास के प्रोफेसर बने। फिर वे मास्को में रूम्यान्तसोव संग्रहालय के निदेशक हो गये। उन्होंने स्वयं रूस का पहला ललित कला संग्रहालय स्थापित किया। वे बड़ी लगन के साथ और स्वयं अपने साधन लगा करके संग्रहालयों के लिए कला सामग्री एकत्रित करते रहते थे। संग्रहालय के उद्‌घाटन के कुछ समय बाद ही १९१३ में उनकी मृत्यु हो गयी।

त्स्वेतायेवा की माँ पोलैण्ड के राजकुल से थीं। उन्होंने प्रख्यात संगीतज्ञ रूबिन्श्टेइन से संगीत की शिक्षा ग्रहण की थी। उनमें त्स्वेतायेवा के अनुसार संगीत की विरल प्रतिभा थी। कम आयु में ही उनका निधन हो गया था। माता-पिता त्स्वेतायेवा को बहुत मानते थे। उन्होंने त्स्वेतायेवा को बचपन से ही उच्च कोटि की शिक्षा देने की कोशिश की। त्स्वेतायेवा अपने परिवार के साथ जब वे १० वर्ष की आयु की ही थीं, अपनी माँ के क्षयरोग की चिकित्सा कराने के सिलसिले में विदेश चली गयी थीं और योरोप के लोजान्ना, श्वार्त्सवाल्द, फ्रेईबुर्ग, नेरवी, यालटा आदि स्थानों में रहीं। यूरोप से लौटने के बाद वर्ष भर के भीतर ही रूस में अपने पारिवारिक मकान में उनका ०५ जुलाई १९०६ को देहान्त हो गया। त्स्वेतायेवा की आयु उस समय १४ वर्ष की थी।

त्स्वेतायेवा की शिक्षा पूरी तरह जर्मन ढँग से हुई थी। उनकी भाषाई योग्यता, विरल स्मरण शक्ति, और विलक्षण शैली अद्वितीय थी। उन्हें एकान्त प्रिय था और प्रायः अपने कमरे में ही कल्पनाओं में डूबी पड़ी रहती थीं। १४-१६ वर्ष की आयु में उनमें नेपोलियन की वीरपूजा की भावना हिलोरें लेने लगीं। उनके पिता उन्हें लेकर बहुत चिन्तित रहते थे। वे भी ३० अगस्त १९१३ को नहीं रहे।

त्स्वेतायेवा का काव्यलोक बाल्यकाल से ही प्रेम के स्वप्नों से समृद्ध हो रहा था। माँ का निधन उनके जीवन की सबसे बड़ी घटना थी। उनकी माँ उनकी कविताओं की प्रेरणा स्रोत थीं। १९१० में १७ वर्ष की आयु में ही उनका पहला कविता संग्रह 'साँझ का अलबम' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

आयेंगे दिन उन कविताओं के

आयेंगे दिन उन कविताओं के
जिन्हें लिखा मैंने छोटी उम्र में
मैं कवि हूँ-
जब स्वयं को भी नहीं था मालूम यह।
आयेंगे दिन रॉकेट के अंगारों
और फव्वारों से छूटते छींटों-सी कविताओं के।
धूप और आलस के नशे में झूमते
मन्दिर में घुस आये शिशु देवदूतों-सी
यौवन और मृत्यु की
जो पढ़ी नहीं गयीं
आयेंगे दिन उन कविताओं के।
दूकानों की धूल में बिखरी हुई
खरीदारों की उपेक्षा की शिकार
महँगी शराब की तरह
मेरी कविताओं के भी दिन आयेंगे।

(अनु.- वरयाम सिंह)

त्स्वेतायेवा सचमुच ही लोगों को बहुत आकृष्ट करती थीं। बहुत से रूसी कवि और अन्य लोग उनके प्रेम में पड़ जाते थे। इनमें पास्तेरनाक भी थे। त्स्वेतायेवा अपने पूरे जीवन में हर समय दुर्भाग्य और दुर्योग को भी आकृष्ट करती रहीं। पास्तेरनाक त्स्वेतायेवा को अपने युग का सर्वश्रेष्ठ रूसी कवि मानते थे। आगे उनके पत्रों और डायरियों से भी कुछ अंश दिये गये हैं।

त्स्वेतायेवा का प्रेम एक ऐसे व्यक्ति से हुआ, सेर्गेई एफ्रोन, जो अतीव सुन्दर और सहृदय थे। उन्हें वे १२ वर्ष की आयु से ही जानती थीं। १६ वर्ष की आयु में उन्हें प्रेम का एहसास हुआ। सेर्गेई का एक विवाह पहले ही हो चुका था। उन्हें अपनी पत्नी को तलाक देना था। क्रान्ति के दिन थे। सेर्गेई एफ्रोन क्रान्ति की सेनाओं से लड़ रही श्वेत सेनाओं में अधिकारी थे। उन्हें शादी के तुरन्त बाद श्वेत सेना में अपनी कमान सम्भालने के लिए जाना पड़ा। पूरा परिवार इस विवाह के विरुद्ध था। लेकिन देखिए, यहाँ विवाह के प्रति त्स्वेतायेवा का उत्साहः

> ''जनवरी में सेरयोझा के साथ मेरी शादी हो रही है, तुम आना! तुम मेरे गाड़ीवान बनोगे। तुम्हारी उपस्थिति बहुत जरूरी है। मेरी यह कहानी सुनो- यदि द्राकोनोचका दन्त चिकित्सक न होती तो उसका परिचय उस महिला से न हुआ होता जिसने उसका परिचय पापा से कराया, मेरा परिचय उससे न हुआ होता यदि मैं एल्लिस को न जानती, उसके माध्यम से मैं निलेन्दर को भी न जान पाती, उसके कारण मैं संकलन न छापती, संकलन के बिना मेरा परिचय तुमसे भी नहीं होता, मैं कोक्तेबेल न आती, सेरयोझा से मुलाकात न होती- परिणामतः जनवरी, १९१२ में मेरी शादी भी न होती।

''मैं हर चीज से सन्तुष्ट हूँ। जनवरी- नये वर्ष १९१२ का आरम्भ है, मास्को में नेपोलियन के आगमन का वर्ष। विवाह के बाद हम शायद स्पेन जायेंगे, पापा को फिलहाल मैंने स्विट्जरलैण्ड जाने की बात कही है। विवाह में पापा के सब रिश्तेदार होंगे। हमारे अपने मित्रों की भी पूरी फौज होनी चाहिए ताकि इन सम्मानित वृद्धजनों का आशीर्वाद लेते हुए अटपटा न लगे। ये वृद्धजन आहिस्ता से या जोर-जोर से अपना असन्तोष व्यक्त करेंगे कि हमने पढ़ाई पूरी नहीं की। इससे अवश्य ही वे हमारे लिए जनवरी का महीना और १९१२ का वर्ष विषाक्त कर देंगे।

''मास्क, तुम्हें आना ही होगा!

''संकलन छप रहा है, शायद एक महीने में आ जायेगा।

''आज मैं और आस्या, 'एस्तेतिका' में कविताएँ पढ़ रही हैं। वहाँ प्रालिल्या, सेरयोझा, आस्या और बोरिस होंगे। मेरी टेलीफोन पर ब्रयूसोव से बात हुई और बीच में यह वाक्यांश ''एक छोटी-सी अड़चन है, बता दूँ? ''अवश्य, अवश्य!''

मैं सहमी हुई आवाज में:

-क्या मैं अपने साथ अपनी बहन को भी ला सकती हूँ? मैं उसके बिना कहीं कविताएँ नहीं सुनाती।

''देखते हैं, उन्हें कितनी खुशी होती है।

''मैं खुश हूँ कि हम एकदम स्वतन्त्र होंगे- किसी तरह के अभिभावक नहीं होंगे। पापा के साथ बातचीत शान्ति से पूरी हुई, भले ही शुरूआत कुछ तूफानी ढँग से हुई थी। तूफानी-उनकी तरफ से, मैं स्वयं शान्त और ठीक ढँग से पेश आयी। पापा कहने लगे- ''मैं जानता हूँ हमारे जमाने में किसी की बात सुनी ही नहीं जाती है...।'' ''हमारे जमाने में!'' बेचारे पापा!- ''तुमने मुझसे सलाह-मशविरा भी नहीं किया। चली आयी यह बताने कि मैं शादी कर रही हूँ।''

- पर पापा, मैं आपसे कैसे सलाह-मशविरा करती?आप तो मुझे अवश्य हतोत्साहित करते।
- पहले तो वह कहने लगे-तुम्हारी शादी में, निस्सन्देह, मैं नहीं आऊँगा। बिलकुल नहीं।
फिर कहने लगे-अच्छा तो यह बताओ, कब शादी करने का विचार है?
हर युग की तरह की बातचीत।
फिलहाल, मिलने तक। लिखना!
पर ''ऐसे कदम की गम्भीरता, युवा वय, अनुभवहीनता जैसी बातें!''

(३ नवम्बर, १९११ को मास्को से मास्क वोलोशिन को लिखे पत्र से)

से.ऐ. के लिए

चुनौती की तरह
स्वीकार की मैंने
उसकी अँगूठी।

मैं पत्नी हूँ उसकी
सदा सदा के लिए
न कि काग़ज पर
औपचारिकता-भर।
तलवार की तरह पतले हैं उसके होठ
किनारों से तनिक झुके हुए,
उदात्त हैं उसकी भौंहें और दर्दनाक,
दो प्राचीन रक्तों का त्रासद मिलन
सम्भव हुआ है उसके चेहरे पर।
पहली बार निकली शाखाओं की
कोमलता लिये है वह।
भव्य हैं उसकी निःस्वार्थ आँखें।
खुली भौंहों के पंखों के नीचे
छिपे पड़े हैं अथाह गढ़े।
मैं वफादार रहूँगी उसके प्रति
उसके माध्यम से
तुम सबकी वीरता के प्रति
भयमुक्त रहा है जिनका मरना और जीना,
इस तरह के घातक समय में भी
जो रचते आ रहे हैं गीत
और फाँसी के तख्त की तरफ
बढ़ रहे हैं निर्भय, निःशंक।

(अनु.- वरयाम सिंह)

''सेरयोझा के विषय में कुछ लिखने की इच्छा हो रही है। वह बहुत ही अस्वस्थ रहता है। १६ वर्ष की आयु से ही उसे क्षयरोग है। अब बीमारी कुछ रुक गयी है, पर स्वास्थ्य अभी मध्यम से नीचे है। काश, आप जानते कि इस युवक में कितना उत्साह, गहराई और सदाशयता है। मैं उसके लिए हर समय चिन्तित रहती हूँ। मामूली सी उत्तेजना से उसका ताप बढ़ जाता है। जब हमारी मुलाकात हुई थी तब उसकी उम्र १७ वर्ष और मेरी १८ वर्ष थी। ३ वर्ष के इस विवाहित जीवन में एक-दूसरे के प्रति सन्देह की छाया मात्र भी नहीं। हमारा विवाहित जीवन दूसरों से बिलकुल भी नहीं मिलता, मुझे लगता ही नहीं कि मैं विवाहित हूँ। जरा भी नहीं बदली हूँ। मुझे अब भी वही कुछ पसन्द है जिसे मैं १७ वर्ष की उम्र में पसन्द करती थी।

''हम कभी एक-दूसरे से अलग नहीं होते। हमारा मिलना एक करिश्मा है। मैं आपको यह सब इसलिए लिख रही हूँ ताकि आप उसे पराया न समझें। मेरे लिए वह जीवनपर्यन्त सबसे अधिक आत्मीय रहेगा। मैं

किसी दूसरे से कभी प्यार नहीं कर पाती- मुझमें इतना अवसाद और विद्रोह है। मैं केवल उसके होते हुए इस तरह जी सकती हूँ- जिस तरह जी रही हूँ- एकदम स्वतन्त्र रूप से।

''मेरे मित्रों में से कोई भी मेरी पसन्द को समझ नहीं पाया है, कोई भी नहीं।''

(७ मार्च, १९१४ को वा. रोज़ानोव को लिखे पत्र से)

''अब अपने बारे में: मेरी शादी हो चुकी है, डेढ़ वर्ष की बेटी-' अरिआदना (आल्या) है। मेरे पति २० वर्ष के हैं। वह अभिजात और असाधारण रूप से सुन्दर हैं। बाहर से भी और भीतर से भी। मेधावी, बुद्धिमान और कुलीन। हाव-भाव, चेहरे और मन से पूरी तरह अपनी माँ पर गये हैं। उनकी माँ सुन्दर और साहसी महिला रही हैं।

''सेरयोझा के लिए मेरा प्रेम अमर और असीम है। बेटी तो मेरे लिए आराध्य है।

''हमारी हालत एकदम निराशाजनक है : १४ तारीख हो गयी है पर चेकोस्लोवाकिया से निर्वाह भत्ता अभी तक नहीं मिला। उसके बिना हम मर रहे हैं। मुझे कोई भी कहीं भी नहीं छाप रहा। 'वोल्या रस्सीई' के अगले अंक में मेरी 'एक समर्पण की कहानी' छपनी थी- पर अंक छपा नहीं। से.या. भी बिना काम के हैं, आल्या को स्कूल पूरा करना है। कोई भी हमारी सहायता नहीं कर रहा है...

''हमारे पास जितने साधन हैं उन्हें देखते हुए हमें किसी पुल के नीचे डेरा डाल देना चाहिए।

''एक और चीज़ मैं आपको बता देना चाहती हूँ, शायद आपको भयावह लगे। मुझे ईश्वर और मृत्यु के बाद के जीवन पर बिलकुल विश्वास नहीं। यही कारण है निराशा, बुढ़ापे और मृत्यु के भय का। मैं पूजा-पाठ करने में बिलकुल असमर्थ हूँ। जीवन के प्रति पागलपन की हद तक प्रेम है। और साथ में है जीने की उत्कट इच्छा।

''जो कुछ मैं कह रही हूँ, सच है।

''सम्भव है आपको मेरी यह बात पसन्द न आये। पर इसमें मेरा क्या दोष! यदि ईश्वर है- क्या उसी ने मुझे इस तरह का नहीं बनाया?और यदि मृत्यु के बाद जीवन है तो मैं, निस्सन्देह, उसमें सुखी रहूँगी। सज़ा किसलिए? मैं जान-बूझकर कुछ भी बुरा नहीं करती। मैं आपको हाल ही में लिखी कुछ कविताएँ भेज रही हूँ। मेरी बहुत इच्छा है कि आप उन पर कुछ लिखें- इन्सान के रूप में, सीधे-सादे ढँग से।

''वैसे मुझे साहित्यकारों से नफरत है। मेरे लिए जीवित या मृत हर कवि-मेरे जीवन का सक्रिय पात्र है। मैं जीवन और पुस्तक, सूर्यास्त और उसके चित्र में कोई भेद नहीं करती। जो कुछ मुझे पसन्द है पूरे मन से है।''

(७ मार्च, १९१४ को वा. रोज़ानोव को लिखे पत्र से)

आल्या के लिए

सुन्दर, निर्दोष और सुकुमार
सबके लिए परायी-परायी-सी

उत्साह भरी अमाज़ोन बाला की तरह
मालकिन बनेगी तू मनमोहक सौन्दर्य की।
शिरस्त्राण की तरह सजा करेंगे
तेरे सिर पर घने केश,
तू साम्राज्ञी बनेगी सब नृत्यों
और समस्त युवा काव्यों की।
ओ साम्राज्ञी, तेरी उन्मुक्त किलकारियाँ
बहुतों के बींधा करेंगी हृदय,
जो मेरे लिए मात्र सपना रहा
बिछा मिलेगा तुझे अपने पाँवों के नीचे।
सब कुछ होगा तेरे अधीन
निःशब्द खड़े होंगे सब तेरे सामने।
निश्चित है-तू भी लिखेगी कविताएँ
मेरी तरह, पर मुझसे कहीं श्रेष्ठ।
पता नहीं, क्या तू भी इस तरह
घातक ढँग से दबाया करेगी कनपटियाँ
जिस तरह इस वक्त उन्हें
दबा रही है तेरी युवा माँ।

(अनु.- वरयाम सिंह)

सोवियत संघ में त्स्वेतायेवा का जीवन कठिनाइयों से विदीर्ण हो रहा था। उनकी कविताएँ भी रूस में नहीं छप सकती थी। संकीर्ण मन वाले लेखक और कम्युनिस्ट संस्थाओं के छोटे लोग उनकी कविताओं का मजाक बनाया करते थे। अक्टूबर क्रान्ति के बाद मास्को का जीवन असह्य हो उठा था। तरह-तरह के अभाव उनके बच्चों के जीवन को कष्टप्रद बना रहे थे। बच्चे बीमार पड़ जाते थे। उनकी चिकित्सा नहीं हो पाती थी।

उन्होंने सोवियत संघ छोड़ कर फ्रांस जाने की बात सोची। वे १९२२ में अपने पति और बच्चों के साथ विदेश चली गयीं। फ्रांस पहुँचने के पहले वे छः महीनों से अधिक समय तक चेकोस्लोवाकिया में रहीं। चेकोस्लोवाक सरकार ने निर्णय किया था कि रूसी शरणार्थियों को 'फूड कूपन' दिये जायेंगे। उससे त्स्वेतायेवा का कुछ बसर हो जाता था। फिर भी दुर्भाग्य उनके पीछे पड़ा हुआ था। वहाँ से उन्होंने फ्रांस का रास्ता लिया।

> ''मैं बहुत बड़े दुख में हूँ : चार दिन पहले ३ तारीख को शिविर में इरीना की मृत्यु हो गयी है। इसमें मेरा दोष है, मैं आल्या की बीमारी (उसे फिर से मलेरिया हो गया था) में व्यस्त रही और शिविर में जाने से इतना डरती रही कि कहीं यह हो ही न जाये जो हुआ, कि नियति से कुछ आशा कर रही थी। और अब यह हो गया, और मैं कुछ कर भी नहीं सकती। इसकी सूचना मुझे अचानक मिली, मैं लीग ऑफ साल्वेशन द्वारा बच्चों के सहायतार्थ चलाये जा रहे शिविर की ओर जा रही थी- आल्या के सेनेटोरियम के बारे में

पूछताछ करने-और तभी इक्के में बैठे आदमी ने पूछा...आप ही हैं क्या अमुक महिला...? मैं ही हूँ। वह कहने लगाः आपकी बेटी की मृत्यु हो गयी है, किसी बीमारी से नहीं बल्कि कमजोरी के कारण। मैं उसे दफनाने के लिए भी न जा सकी- आल्या को उस दिन बुखार था, ४०.७ डिग्री। सच कहूँ, वहाँ जाने की मुझमें सामर्थ्य ही नहीं थी। उफ , महानुभावो! यहाँ बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर इतना ही कहूँगी कि यह दुःस्वप्न है, हर समय सोचती हूँ- दुःस्वप्न समाप्त हो जायेगा। कभी-कभी मैं यह बिलकुल भूल जाती हूँ और खुश हो लेती हूँ कि आल्या का बुखार उतर चुका है या मौसम अच्छा है और तभी... हे भगवान, मुझे अभी तक विश्वास नहीं होता। जी रही हूँ, रुँधे गले के साथ, गहर के बहुत पास।

''बहुत कुछ अब समझ आ रहा हैः हर चीज़ में दोष मेरे दुःसाहस का है, कठिनाइयों के प्रति अगम्भीर रवैये का है। जब स्वयं कठिनाई में न हों तो दिखाई नहीं देता कि कोई दूसरा कठिनाई में होगा और-अन्ततः मैं इतनी परित्यक्त रही। हरेक के पास कोई न कोई है : पति, पिता, भाई-और मेरे पास केवल आल्या, और वह भी अस्वस्थ। मैं पूरी तरह उसकी बीमारी में खोयी रही-और यह मुझे ईश्वर ने सजा दी है... उस दिन मैंने किसी औरत से बात भी की थी कि वह शिविर से इरीना को मेरे पास ले आये-और उसी रविवार के दिन... ...

''उफ्!

''-महानुभावो, मुझे कुछ बताओ, समझाओ!

दूसरी औरतें नृत्य में जाने की खातिर, प्रेम उत्सव या पहनावे की खातिर अपने बच्चों को भूल जाती हैं। मेरे जीवन का उत्सव- कविताएँ हैं। पर मैंने कविताओं के कारण इरीना को नहीं भुलाया था- मैंने दो महीने कुछ भी नहीं लिखा! और यह कितना भयावह है कि मैं उसे नहीं भूली, हर समय यातनाओं में जीती रही, आल्या से पूछती रही, आल्या, तेरा क्या ख्याल है? और हर समय मैं उसके पास जाने का इरादा बनाती रही; और हर समय सोचती रही,- आल्या ठीक हो जायेगी, इरीना के पास जाऊँगी और अब देर हो चुकी है।

बेटे के लिए कविताएँ

चले जाओ किसी भी शहर, किसी भी गाँव,
मेरे बेटे, चले जाओ अपने देश
उस देश जो उलटा है दूसरे सब देशों से
जहाँ पीछे लौटना होता है आगे बढ़ना
खास कर तुम जैसों के लिए
जिन्होंने रूस कभी देखा ही नहीं।
मेरी औलाद...मेरी?उसकी औलाद?
उसी, हाँ उसी अतीत की जिससे
पैदा होती हैं गाथाएँ बड़ी-बड़ी।

धूलभरा मिट्टी का यह ढेला
इस बच्चे को ले जाना होगा।
अपनी काँपती मुट्ठियों में हिंडोले की तरफः
''यह राख-रूस है,
नतमस्तक हो जाओ इस राख के सामने!''
चले जाओ जिस ओर भी नज़र पड़े,
चले जाओ उन नुकसानों से दूर
जो तुमने देखे नहीं
सब देशों, पूरी पृथ्वी की ओर से
झाँकती आँखें और तुम्हारी नीली आँखें
जिनके भीतर मैं झाँकती हूँ
वे आँखें जो देख रही हैं रूस की ओर।
हम नतमस्तक नहीं होंगे शब्दों के सामनेः
प्राचीन रूस पूर्वजों का, नया रूस-हमारा,
गुफ़ाओं के गुरुओं, तुम्हारे लिए
यह रहा आह्वान करता यू.एस.एस.आर.
आकाश के अन्धकार के बीच से वह
एस.ओ.एस. आह्वान से कम नहीं।
हमें तो मातृभूमि बुलायेगी नहीं
लेकिन बेटा तुम चले जाओ अपने घर।
चले जाओ आगे अपने देश, अपने युग में,
चले जाओ हमें छोड़ कर अपने मसय में,
चले जाओ अपनों के रूस, जनता के रूस,
चले जाओ हमारे क्षण-देश में, इसी क्षण देश में,
चले जाओ मंगलग्रह-देश में
हमारी अनुपस्थिति के देश में!

(अनु. वरयाम सिंह)

लिलेन्का अब मैं तुझे मान्देलश्ताम के अलेक्सान्द्रोव आगमन के बारे में लिख रही हूँ। उसने चालाकी से टेलीफोन पर मुझे बुलवाया।... हमने उससे बातें कीं। वह कहता रहा कि आज ही, आज ही अभी आना चाहता हूँ। बड़ी अनिच्छा से दूसरे दिन तक प्रतीक्षा करने के लिए सहमत हुआ। दूसरे दिन सुबह-सुबह वह आ पहुँचा। मुझे, निस्सन्देह, तुरन्त बाहर घूमने की इच्छा हो रही थी- बहुत ही अच्छा, निस्सन्देह, तुरन्त बाहर घूमने नहीं निकला, दीवार पर लेट गया और बातें भी कम कीं। कुछ देर के बाद मैं ऊब गयी,

मैं उसे दृढ़ता से कब्रिस्तान की ओर घुमाने ले आयी।

-हम यहाँ क्यों आते हैं?कितनी डरावनी हवा चल रही है! आप किस चीज़ पर इतनी खुश हो रही हैं?

-बस, बिरयोजा, आकाश और हर चीज़ पर!

-इसलिए कि आप एक स्त्री हैं। मैं भी एक औरत होना चाहता हूँ। मेरे भीतर भयानक रिक्तता है, मैं मर जाऊँगा।

-किस कारण?

-रिक्तता के कारण मैं अकेलापन और अधिक सह नहीं सकता। मैं पागल हो जाऊँगा, मैं चाहता हूँ कि कोई मेरे बारे सोचे। मेरा खयाल रखे। आपका क्या विचार है-मैं लिल्या से विवाह कर लूँ?

-कैसी मूर्खता कर रहे हो?

हमारा आपसे रिश्ता बनता। आप मेरी belle-soeur बन जातीं! हाँ, पर सेरयोझा ऐसा होने नहीं देगा।

-क्यों?

-आप भयानक किस्म के व्यक्ति हैं। इसके अतिरिक्त आपके पास पैसे भी नहीं हैं।

-मैं काम करने लग जाऊँगा, मेरे सामने आज भी बैंक में १५० रूबल की नौकरी का प्रस्ताव है, छह महीने के बाद मुझे प्रोन्नति भी मिल जायेगी सच।

-पर लिल्या तो आपसे शादी नहीं करेगी। क्या आप उसे प्रेम करते हैं?

-नहीं।

-फिर शादी क्यों करना चाहते हैं?

-इसलिए कि अपना भी कोई कोना हो, परिवार...

-आप मजाक कर रहे हैं?

-ऊफ, मारीनोच्का, मुझे खुद को भी मालूम नहीं!

दिन यों ही गुजर गया-किस्मत कोसते हुए, उसे दिलासा देते और उसकी प्रशंसा करते और साहित्यिक समाचार सुनते-सुनाते।

रात को-आधी रात के आसपास-वह कुछ चुप हो गया, हिरण की खाल पर लेट गया। अच्छा नहीं लग रहा था। उसके बाद हमने उसे खाना खाने के लिए कहा। वह कूद पड़ा जैसे किसी चीज़ ने काट खाया हो। ''यह आखिर हो क्या रहा है! मैं दिन भर खाता तो नहीं रह सकता। मैं पागल हो रहा हूँ। मैं यहाँ आया क्यों! मैं ऊब गया हूँ! मैं अभी जाना चाहता हूँ, मैं आखिर इससे ऊब गया हूँ!'' हम स्तब्ध। सहानुभूति के साथ सुनते रहे।

''मैं अभी, तुरन्त जा रहा हूँ।''-वह बगीचे की ओर भाग निकला। पर तेज़ हवा को देख कर डर गया और वापिस आ गया हम फिर एक दूसरे से बातें करने लगे और वह हिरण की खाल पर लेट गया। एक बजे रात को हम उसे स्टेशन तक छोड़ने गये। घमण्डी कहीं का! चला गया।''

(१२ जून, १९१६ को एलिजावेता एफ्रोन को लिखे पत्र से)

''महानुभावो, यदि मैं आल्या को सेनेटोरियम भेजने के लिए विवश हुई तो मैं आप लोगों के पास रहने के लिए आऊँगी, बरामदे में सो लूँगी या रसोई में, पर मैं बोरीसग्लेव्स्की में नहीं रह सकती, वहाँ मैं मर जाऊँगी या मुझे आल्या के साथ अपने घर ले जाइए, आपके यहाँ घर गरम है, भोजन है... मेरे कमरे में सुबह-सुबह ४-५ डिग्री तापमान रहता है।

''यों आल्या को अच्छा खाना खिलाने में मेरी सहायता मेरे पति के सम्बन्धी भी कर सकते हैं, बाल्मोंत के माध्यम से मैं अपनी पुस्तकें बेच सकती हूँ। मेरे अनुरोध से डरना नहीं, मैं स्वयं सतत भय से घिरी हूँ आल्या के बारे में लिखते हुए मैं इरीना को भूल गयी थी, अब फिर याद आ गयी है... सम्भव हो तो जान-पहचान के किसी को भी यह न बतायें, मैं जैसे खोह में बैठी मादा भेड़िया हूँ, अपने दुख छिपा रखे हैं, लोगों से तकलीफ होती है...

(फरवरी १९२० में व. जव्यागिंत्सेवा और अ. येरोफ्येव को लिखे पत्र से)

''ब्लोक नहीं रहे। अभी तक मुझे कुछ भी समझ नहीं आया है और बहुत तय समय तक समझ भी नहीं आयेगा। मेरा ख्याल है कि मृत्यु को कोई भी नहीं समझ सकता।

''आश्चर्य की बात यह नहीं कि ब्लोक का निधन हो गया है बल्कि यह कि वह जिये। बहुत कम इहलौकिक लक्षण थे उनमें। वह एक मुखड़ा बन गये थे, जीवन्त और मरने के बाद भी जीवन्त (हमारे प्रेम में) न कुछ टूटा, न कुछ अलग हुआ। वह पूर्ण रूप से आत्मा की स्पष्ट विजय रहे हैं, वह स्वयं आत्मा रहे हैं। आश्चर्य है कि जीवन ने यह होने कैसे दिया।...

''ब्लोक की मृत्यु को मैं स्वर्गारोहण के रूप में ले रही हूँ। मैं अपनी मनुष्य सहज पीड़ा को पी रही हूँ। उसके लिए यह पीड़ा समाप्त हो चुकी है, हम भी उसके बारे में न सोचें (उसे और इस पीड़ा को एक न समझें)। मैं उसे कब्र में नहीं बल्कि उषाकाल में देखना चाहती हूँ।

''दाँते, और ग्योटे आज नहीं हैं, इसलिए नहीं कि आज शब्द-मेधा कम पड़ गयी है। शब्दों के कलाकार हैं और बड़े-बड़े लेखन को उन्होंने अपना जीवन बनाया। इसीलिए ब्लोक हम सबसे ऊपर हैं-कवि से अधिक, एक मनुष्य।''

(३० अगस्त, १९२१ को अ.अख्मातोवा को लिखे पत्र से)

''आप पहले कवि हैं जो मुझे जीवन की सीमाओं के बाहर दिखाई देता है। आप पहले कवि हैं जिसके आने वाले दिन पर अपने कल की तरह मुझे विश्वास है। आप पहले कवि हैं जिसकी कविताएँ उसके अपने आपसे छोटी हैं, भले ही सभी दूसरों से बड़ी। पास्तेरनाक, मैं बहुत कवियों को जानती थीः वृद्धों को भी

और युवाओं को भी, और उनमें से एक भी मुझे याद नहीं।

''पास्तेरनाक, एक प्रार्थना है : मुझसे मिले बिना रूस न जाना! मेरे लिए रूस-एक बड़ी अनिश्चितता है पहेली है, लगभग परलोक। यदि तुम ग्वादेलुपा जाओ, साँपों के पास, कोढ़ियों के पास भी जाओ तो मैं तुम्हें बुलाऊँगी नहीं।-तो पास्तेरनाक सूचना देना, मैं चली जाऊँगी।... मुझे तुम्हारे अस्तित्त्व पर ही सन्देह होने लगता है, यह अस्तित्त्व एक सपने की तरह लगता है-उस स्वार्थहीनता पर आधारित (शब्द की प्राथमिकता को ताजा करो!), उस सन्देहहीनता पर आधारित, उस अन्धेपन पर आधारित, जो मुझमें तुम्हारे प्रति है। कल्पना का सहारा लिये बिना यादों के सहारे हमारे बीच हुई मुलाकातों पर पुस्तक लिख सकती हूँ। तुम्हारा होना प्रामाणिक है पर तुम्हारा अस्तित्त्व सन्देहास्पद हैः बस तुम हो ही नहीं और अधिक अनुरोध नहीं करूँगी पर उत्तर की प्रतीक्षा रहेगी इसके लिये, पर यदि मेरा यह अनुरोध पूरा न कर सको, कारण कुछ भी रहे-मैं जीवनपर्यन्त आहत रहूँगी।

''मुझे तुम्हारे जाने का डर नहीं- डर है, तो तुम्हारे गायब हो जाने का।''

(१० फरवरी १९२३ को मोक्रोप्सी (प्राग) से बोरिस पास्तेरनाक को लिखे पत्र से)

''मैं निर्ममता की पाठशाला से गुजरी हूँ और अपनी चमड़ी पर मैंने इसे अनुभव किया है (सम्भव है, मुझसे किसी ने सीख ली हो, पर मुझे मालूम नहीं)! २० वर्ष की आयु में श्रेष्ठ और विजयी भाव से मैं सबके सामने यह घोषणा किया करती थी : 'यदि मुझे किसी से प्रेम है तो मुझे उसके शरीर से भी प्रेम है। यदि मुझे किसी के शब्द अच्छे लगते हैं तो मुझे उसके होठ भी अच्छे लगते हैं। पर यदि उसके इन होठों को कोई काट डालता, मैं उसे फिर भी प्रेम करती...।' ''

(१९२३ में अलेक्सांद्र बाखोव को लिखे पत्र से)

''मेरा जीवन बहुत बुरी तरह से चल रहा है एक कमरे में चार लोग ठुँसे पड़े हैं और मैं लिखने में असमर्थ हूँ। कटुता के साथ यह विचार आ रहा है कि किसी मामूली-से-व्यंग्य-स्तम्भकार, जो अपने लिखे हुए पढ़ता तक नहीं, के पास लिखने की मेज और दो घण्टे की खामोशी रहती है। और मेरे पास यह भी नहीं-दो मिनट तक की खामोशी भी नहींः हर समय लोग ही लोग बातों से घिरी हुई मैं हाथ में कॉपी भी नहीं ले पाती। लगभग खुशी के साथ मैं सोवियत मास्को की नौकरी के दिन याद करती हूँ-वहीं मैंने लिखे थे तीन नाटक-'प्रिक्ल्यूचनिये', 'फोर्तना', 'फेनिक्स', लगभग दो हजार कविता पंक्तियाँ।

''जीवन जैसा है वह मुझे पसन्द नहीं, मेरे लिए वह कुछ अर्थ रखना तभी शुरू करता है अर्थात् अर्थवत्ता और महत्त्व ग्रहण करने लगता है जब वह रूपान्तरित अर्थात् कला में व्यक्त होता है। यदि मुझे कोई समुद्र तट पर ले जाये-स्वर्ग में ले जाये-और लिखने की मनाही करे तो मैं समुद्र और स्वर्ग-दोनों को अस्वीकार कर दूँगी। अपने आप में चीजों की मुझे कोई जरूरत नहीं।

''आदर और स्नेह के लिए धन्यवाद। इतना खूबसूरत पहनावा किसका है?क्या आपने 'दिवस' और 'जर्मनी के विषय में' लेख पढ़े?ऐसे प्रेम में क्या आपने मुझे पहचाना?बहुत सारे लोग, चेहरे, मुलाकातें हैं पर सभी सतही, कोई प्रभाव नहीं छोड़ते। से.या. पेरिस पर फिदा है, पर मैंने अभी उसे देखा नहीं। मैं

अभी तक प्राग को ज्यादा पसन्द करती हूँ, शोर-शराबे के बीच, शोर-शराबे के बावजूद उसकी खामोशी को।

''आप और आपके परिवार को प्यार। जीना एकदम अच्छा नहीं लग रहा है।

(३० नवम्बर, १९२५ को पेरिस से अन्ना अन्तोनोव्ना को लिखे पत्र से)

''मेरे वसन्त का आरम्भ उदासी के साथ हो रहा है : अचानक मास्को से आये मेहमान से पता चला कि बोरीस पास्तेरनाक ने अपनी पत्नी से तलाक ले लिया है क्योंकि वह किसी दूसरी से प्रेम करने लगे हैं। पर यह दूसरी भी शादीशुदा है, इत्यादि। मैं बोरीस के लिए डर रही हूँ। मास्को में कवियों के बीच यह महामारी है-पिछले १० वर्षों की एक पूरी सूची बन जाती है। यह विपदा अपरिहार्य है : पहली बात तो यह कि उसका पति है, दूसरी-बोरीस के भी पत्नी और पुत्र है, तीसरी-वह बहुत सुन्दर है। बोरीस को जलन होती रहेगी, चौथी और महत्त्वपूर्ण-बोरीस सुखपूर्ण प्रेम के लिए अयोग्य है। उसके लिए प्रेम का अर्थ होता है-संतप्त रहना।

''१९२६ की गरमियों में, मेरी 'अन्त की कविता' कहीं पढ़ कर बोरिस मेरे पास आने के लिए तड़पता रहा, मैंने उसे उत्तर में लिखा कि मैं इतनी बड़ी विपदा नहीं चाहती। वर्षों से इस सपने के साथ रही कि मैं उससे मिलूँगी। अब-कोई अर्थ नहीं रह गया। रूस वापस किसी के पास जाने के लिए नहीं रहा। पत्नी है, पुत्र है-इसे ध्यान में रख रही हूँ। इस नये प्रेम से मैं दूर रहूँगी। मुझे ठीक से समझना, प्रिय अन्ना अन्तोनोव्ना! यह ईर्ष्या नहीं। बोरिस के प्रति मेरा यह विश्वास था कि जब मरने लगूँगी-तो उसे बुलाऊँगी। परिवार के बावजूद मुझे वह एकदम अकेला और मेरा अपना लगा। अब मेरी जगह दूसरों ने ले ली है : यह सिर्फ स्त्री ही प्रेम के बजाय भाई को तरजीह दे सकती है! पुरुष के लिए-उन क्षणों में जब प्रेम करता है- प्रेम ही सब कुछ होता है। मैंने बोरिस को लिख दिया है-'काश, यह ५ साल पहले हुआ होता! पर मेरी अपनी पंचवर्षीय योजना है!'

''बोरिस उसे बिलकुल उसी तरह प्रेम करता है जिस तरह १९२६ में-दूर से-मुझे।

''कोई तीव्र पीड़ा नहीं हो रही है। खालीपन है...''

(२० मार्च, १९३१ को अन्ना अन्तोनोव्ना को मेदों (पेरिस) से लिखे पत्र से)

''मास्को छोड़े इस वसन्त में पूरे १० वर्ष हो जाएँगे और गर्मियों में प्राग पहुँचने के १० वर्ष और पतझड़ में, १ नवम्बर को प्राग छोड़ने अर्थात् फ्रांस आने के ठीक ७ वर्ष हो जाएँगे। अजीब बात यह है कि मेरी स्मृति में चेखिया में बीता समय फ्रांस की तुलना में कहीं अधिक बड़ा लगता है- कहा जा सकता है जैसे मैंने चेखिया में ७ वर्ष और पेरिस में ३ वर्ष बिताये हैं। हर चीज़ (उसकी हर चीज की कीमत मैं जानती हूँ) के बावजूद फ्रांस पसन्द नहीं आया है, सम्भव है इसलिए कि ऐसा कोई आत्मिक कारण नहीं जिसके लिए उसे याद रखूँ। यहाँ मेरे कोई सच्चे मित्र नहीं, थोड़े समय की मित्रताएँ अवश्य रहीं जो अधिक नहीं चल सकीं। एकमात्र व्यक्ति जिससे मुझे सच्चे अर्थों में स्नेह रहा, जिसने मुझे फ्रांस में सच्चे अर्थों में स्नेह दिया वह थी इल्येना अलेक्सांद्रोव्ना इज्वोल्स्काया, जो विवाह के बाद जापान चली गयी है-मैं इस जुलाई के विषय में लिख चुकी हूँ। फ्रांस के इन ७ वर्षों में मेरा हृदय ज्यादा शिथिल पड़ गया है।

''फिलहाल (लगभग ७ वर्ष तक) जिसे मेरी जरूरत है वह मूर है। इन ७ या १० वर्षों बाद-इस संसार में किसी को भी मेरी जरूरत नहीं रहेगी, सम्भव है तभी आरम्भ होगा मेरा वास्तविक अकेला और निस्संग जीवन जो १७ वर्ष की उम्र से ही मेरे लिए समाप्त हो गया था। शायद तब मैं कुछ अच्छी चीजें लिख सकूँगी, शायद एक चीज़-अपनी। अभी तक मैं अपनी पुरानी-अंशतः रूसी और अंशतः चैख पूँजी (हास्यास्पद लगता है मेरे मुँह से-वह भी इन सर्दियों में) के सहारे जी रही हूँ। आत्मिक रूप से पेरिस ने मुझे कुछ नहीं दिया है। जानती हो यहाँ किस तरह बातें करते हैं?ड्राइंगरूम, बहुत से लोग, सामान्य-सा वार्तालाप, पड़ौसी (हमेशा आकस्मिक पड़ौसी) के साथ कभी-कभी रोचक बातचीत और उसके बाद सदा के लिए-खुदाहाफिज़। मेरे साथ बहुत बार ऐसा हुआ, उसके बाद जाना बन्द कर दिया। (यह मैं फ्रेंच लोगों के बारे में लिख रही हूँ)। ऐसा अनुभव होता है कि हर कोई सब कुछ जानता और समझता है, और पूरी तरह अपने में व्यस्त है ऐसा लगता है कि मेरे लिए कोई जगह नहीं है। इसी तरह कुछ दिन पहले मैं पूरी शाम प्रख्यात फ्रांस के एक यात्री से बातें करती रही और फिर?वही, कि यात्री की अत्यन्त रोचक, एक तरह से आत्मीय, बातचीत किसी चीज़ से नहीं जोड़ी। उसमें न उत्तरदायित्व की कोई भावना रहती है और न ही आगे के क्रम की चिन्ता। जिस तरह वह मुझसे बातें करता है वह किसी से भी कर सकता है जैसे मैं ऐसी व्यक्ति होऊँ जिसका स्थान कोई दूसरा ले सकता है, जिसे उससे कुछ लेना-देना नहीं। इस तरह के व्यक्ति को अपने से मतलब रहता है। उनके यहाँ इसे बातचीत की कला की संज्ञा दी जाती है-

ओ मैत्री, दो दिनों के प्रेम-

और हज़ार दिनों की विस्मृति!

छोटी-सी आत्मीय स्मृति

यहाँ के लोगों की...

''एक युवा कवियित्री ने पीटर्सबर्ग के बारे में यह बात १९१२ में कही थी, ठीक यही बात मैं पेरिस के बारे में १९३२ में कह रही हूँ। शायद , यही बात इन शब्दों में पूरे देश के बारे में कही जा सकती है। पर शायद यह सब कुछ इसलिए है कि मैं यहाँ किसी को पसन्द नहीं आना चाहती (ठीक इसीलिए) मुझे शायद पसन्द भी किया जाता, बात कहीं मुझमें ही है। सन्देह नहीं कि वही फ्रेंच दूसरे रूसियों के साथ... पर मैं ये दूसरे रूसी होना नहीं चाहती।

''और मैं रूसियों से अलग कर दी गयी हूँ। अपनी कविताओं के द्वारा जिन्हें कोई समझता है कोई समझता नहीं (उनके विशिष्ट अर्थ के कारण, जो किसी को बोल्शेविज्म, और किसी को मोनार्किज्म या अनार्किज्म लगती हैं) या बच्चों की शिक्षा को लेकर मेरे दृष्टिकोण के कारण (मूर के कारण सभी पीठ पीछे मेरी भर्त्सना करते हैं), या फिर अपने आपके कारण।

''रूस लौट जाऊँ? वहाँ इस मूर को मुझसे पूरी तरह छीन लेंगे। उसी के हित में-पर मुझे मालूम नहीं। वहाँ मेरी रचनाओं को न छाप कर न सिर्फ मेरा मुँह बन्द कर दिया जायेगा बल्कि कुछ लिखने ही नहीं दिया जायेगा।

''संक्षेप में, ठीक ऐसा अनुभव होता है कि समकालीनता में मेरे लिए कोई जगह नहीं। यदि मुझे कुछ चुनने की छूट होती तो मैं एक किसी छोटे से भुलाये गये शहर को चुनती, कहीं भी, जहाँ मूर के लिए अच्छा-सा स्कूल हो, और मेरे लिए शहर का कोई किनारा। इस तरह मैं मृत्यु तक जी लेती। पर यह तो मुझे प्राप्त नहीं होगा।...

''...१७ को मैं 'कवि और युग' जीवन में मेरा पहला आलेख पढ़ रही हूँ- 'अन्तःकरण के आलोक में कला'-लेख के एक खण्ड से, सम्भव है, ईश्वर की कृपा रही तो, ३०० फ्रांक कमा सकूँगी। से.या. फिर से काम के बिना और स्थिति निराशाजनक है।''

(०१ जनवरी, १९३२ को मेदों से अन्ना अन्तोनोव्ना को लिखे पत्र से)

''यह तो रोमेंटिसिज्म है। प्रेम से इसकी कोई समानता नहीं, किसी के विचार तो पसन्द हो सकते हैं पर उसके नाखूनों का आकार सहन नहीं भी हो सकता, उसके स्पर्श का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है पर उसके मूल्यवान भावों का नहीं। ये अलग-अलग क्षेत्र हैं। आत्मा आत्मा से प्रेम करती हैं, होठ होठों से, पर यदि आप इन्हें मिलाने लगेंगे, मिलाने का प्रयास करेंगे, ईश्वर ऐसा न करे, आप सुखी नहीं रहेंगे।''

(१९३३ में अलेक्सांद्र को लिखे गये पत्र से)

''विवाह और प्रेम व्यक्तित्त्व को ध्वस्त कर देते हैं, यह परखी हुई बात है। ग्योटे और तोल्स्तोय का भी ऐसा ही विचार रहा है और छोटी आयु का विवाह (जैसा कि मेरा) तो एक विपदा है, पूरे जीवन के लिए आघात।''

(१९३४ में अन्ना अन्तोनोव्ना को लिखे पत्र से)

'' मेरे जीवन के पिछले १० वर्ष तीन-चार-अपवादों को छोड़ कर एकदम प्रागेर्देल रहे हैं। (बर्लिन में एक रेस्त्राँ। अप्रवासी रूसी लेखक प्रायः यहाँ इकट्ठा हुआ करते थे और देर तक साहित्य चर्चा किया करते थे। देर तक चलने वाली इन चर्चाओं को आन्द्रई बेली प्रागेर्देल कहा करते थे-अनुवादक)।

''मैंने सुना है कि पुश्किन सन्ध्या से लेखकों को कुछ दिया जा रहा है या देंगें (और लेखक गीदड़ों की तरह चारों ओर घूम रहें हैं सूँघ रहे हैं। हाल ही में मैंने जेऐलेर को लिखा है उसे भी प्रार्थनापत्र भेजा है, क्या किसी और से भी कहना पड़ेगा, मुझे पैसे की बहुत जरूरत है स्कूल में मूर की फीस चुकाने को है, दो महीने के १६० फ्रांक और कुछ अनिवार्य खर्चे कुल मिलाकर २०० फ्रांक)।

''मैं उसे सामुदायिक पाठशाला में क्यों नहीं भेजती इसलिए कि मेरे पिता अपने पैसों से छात्रों को पढ़ने के लिए विदेश भेजते थे, कितने ही छात्रों की फीस चुकाया करते थे और मरते हुए अपने खून पसीने की कमाई से २०००० रूबल अपने गाँव के स्कूल के लिए दिये और मुझे भी मूर के अच्छे कम से कम ऐसे स्कूल में जहाँ एक कक्षा में ४० नहीं बल्की १५ बच्चे हों, स्कूल में डालने का अधिकार है। अपनी जेब से फीस देने का अधिकार है जब जेब खाली हो तो माँगने का भी अधिकार है।

''प्रिय वेरा, यह बात किन्हीं अन्य भद्र महिलाओं से न कहना सिर्फ याद दिलाना की वे मुझे न भूलें और

जब लेखकों को पैसे देने लगें तो जितने अधिक सम्भव हो दिलाना 'सोव्रेमेन्नीये जपीस्की' के अगले अंकों में सिर्फ मेरी कवितायें आयेंगी-इसमें ४० फ्रांक मिलेंगे, वे भी न जाने कब? अनुरोध के लिए क्षमा करना मूर के लिए धन्यवाद वह दस बच्चे से बहुत खुश है कह रहा था कि वह बुद्धिमान है और अच्छी कुश्ती कर लेता है।''

(७ मई १९३५ को वेरा बुनिना को लिखे पत्र से)

''यह पत्र आपको हताशा की स्थिति में फँसा व्यक्ति लिख रहा है। आज २७ अगस्त है और मैं और मेरा बेटा अपनी सारी चीजें और पूरे पुस्तक संग्रह के साथ बाहर सड़क पर हैं, क्योंकि उस कमरे में जिसे अस्थायी तौर पर हमें दिया गया था उस के मालिक वापस आ रहें हैं। अपनी बात मैं शुरू से कह रही हूँ। १ वर्ष पहले १८ जुन १९३९ को मैं अपने १४ वर्ष के बेटे के साथ सोवियत संघ लौट आयी और नोवीबित के बाल्शेवों गाँव में एक दाचां के उस आधे हिस्से में रहने लगी जहाँ मुझसे २ वर्ष पहले लौटा मेरा परिवार रहता आया था। २७ अगस्त को (आज पहली वर्षगाठ है) मेरी बेटी को हिरासत में लिया गया १० अक्टूबर को मेरे पति को। मैं और मेरा बेटा एकदम अकेले रहे, कुछ दिन और रहे, टहनियाँ जलाकर कमरा गरम करते रहे, १० तारीख को मैंने फादेयेव से सहायता करने का अनुरोध किया। उसने कहा कि उसके पास एक मीटर की जगह भी देने को नहीं है। दाचा में रहना हर तरह से असहनीय हो गया। हम कब तक ठिठुरते रहते, ऊपर से १० तारीख को दाचां पर ताला लगाकर (हमारी रहने की जगह हमसे किसी ने नहीं छीनी, मुझे वहाँ अपने बच्चे के साथ पति की जगह पर रहने की अनुमति थी) हम मास्को में एक रिश्तेदार के यहाँ चले आये जहाँ हम महीना भर बरामदे में रातें बिताते रहे, दिन में इधर-उधर घूमते रहे क्योंकि हमारी रिश्तेदार घर पर भाषा और शिल्प पर ट्यूशन दिया करती थी और उसे हम विघ्न पहुँचा रहे थे।

''इस तरह मैं शब्दशः सड़क पर हूँ, अपनी सारी चीजों और पुस्तकों के साथ यहाँ जहाँ मैं रह रही हूँ मुझे रहने की अनुमति नहीं है और दो सप्ताह से रह रही हूँ।

''१ सितम्बर को मेरा बेटा स्कूल नं. १६७ में जाने लगेगा, पर जाएगा-कहाँ से?

''मित्रों की व्यक्तिगत सहायता और उनके प्रयासों का कोई परिणाम नहीं निकला। स्थिति विकल्पहीन है।

''शहर से बाहर मैं जाना नहीं चाहती वहाँ मैं भय, अन्धकार और अकेलेपन से मर जाऊँगी, इतने सामान के साथ मुझे काट मार डालेंगे। मैं हिस्टेरिक नहीं हूँ, पूरी तरह स्वस्थ्य हूँ। सरल प्राणी हूँ। बोरिस पास्तेरनाक से पूछ सकते हैं।

''पर-जीवन ने मेरी पूरे वर्ष जी भर कर पिटाई की है।

''बाहर निकलने का रास्ता दिखाई नहीं देता।

''सहायता के लिए पुकार कर रही हूँ।''

(२० अगस्त १९४० को कॉमरेड पाब्लेन्कों को लिखे पत्र से)

मारीना त्स्वेतायेवा अपने समकालीन रूसी कवियों का बहुत सम्मान करती थीं। उन सभी के प्रति उन्होंने कविताएँ लिखी हैं। इस सम्बन्ध में उनका हृदय बहुत उदार था। उनके मन में कौशलपूर्वक लिखी गयी सुन्दर कविताओं के प्रति, चाहे उन कविताओं को किसी भी कवि ने लिखा हो, श्रद्धा उपजती थी। वे पास्तेरनाक, मान्देलश्ताम, मायकोव्स्की और आख्मातोवा की कविताएँ हृदय से पसन्द करती थीं, उनकी कविताएँ पढ़ते ही उन पर सुन्दर प्रतिक्रिया करती थीं, कवि-मित्रों को पत्र लिखती थीं और जो भी मिलता उसे कहतीं पढ़ो, पास्तेरनाक ने क्या कविता लिखी है। उन्हें कभी मन में यह भी ध्यान नहीं आता कि दूसरे कवि उनके बारे में क्या सोच रहे हैं। लेकिन ये सभी कवि उनसे प्रेम करते थे, उनका सम्मान करते थे, उनको महान कवि मानते थे।

अलेक्सान्द्र ब्लोक के लिए उन्होंने अनेक कविताएँ लिखीं हैं। यहाँ पर उनकी एक कविता उद्धृत की जा रही है।

ब्लोक के लिए–1

तुम्हारा नाम जैसे हाथ पर बैठी चिड़िया,
तुम्हारा नाम जैसे जीभ पर बर्फ की डली...
होठों का हल्का-सा-कम्पन।
तीन अक्षरों का तुम्हारा नाम
जैसे उड़ती हुई गेंद आ गयी हो हाथ में,
जैसे चाँद की घण्टी की टनटनाहट।
तुम्हारे नाम का उच्चारण
जैसे शान्त तालाब में पत्थर की छपाक्
रात की धीमी-सी आहट के बीच
गूँजता है तुम्हारा नाम
कनपटियों के पास
जैसे बन्दूक के घोड़े का स्पर्श।
तुम्हारा नाम...उफ् क्या कहूँ।
जैसे चुम्बन कोमल कुहरे का
सहमी आँखों और पलकों पर,
तुम्हारा नाम जैसे बर्फ पर चुम्बन,
नीले, शीतल झरने के पानी का घूँट।
गहरी नींद सुलाता है तुम्हारा नाम।

(अनु.- वरयाम सिंह)

त्स्वेतायेवा मायकोव्स्की की कविताओं को बहुत प्रशंसक थीं। उनके अन्य कवि मित्र मायकोव्स्की की कविताओं को पसन्द नहीं करते थे। लेकिन त्स्वेतायेवा ने मायकोव्स्की की कविताओं पर प्रशंसापूर्ण लेख लिखे। यहाँ उनकी मायकोव्स्की को समर्पित एक कविता दी जा रही है।

मायकोव्स्की के लिए

जो ऊँचा है चिमनियों और सलीब से
बप्तिस्मा हुई है जिसकी आग और धुएँ में,
आदि देवदूत भारी-भरकम –
सदियों में एक होता है व्लादीमिर।
घोड़ा और घुड़सवार-दोनों है वह
सनक है वह और विवेक भी ।
साँस लेता थूक से मलता है हथेलियाँ।
सँभल जाओ ओ भार ढोती महानता!
चौराहों के आश्चर्यों का गायक
स्वस्थ्य, स्वाभिमानी, मलिन मुख,
हीरे भी न कर पाये आकर्षित
चट्टान की तरह भारी उसे।
चट्टानों से चट्टान का शोर।
उबासी लेता, अभिवादन करता और पुनः
लकड़ी के हत्थे-जैसे पंखों पर
सवार होता, भारी-भरकम देवदूत।

(अनु. वरयाम सिंह)

''अपनी हाल में ही लिखी रचनाओं के छप सकने की बहुत कम उम्मीद है। अप्रवासियों के बीच 'वन सम्राट' में, यहाँ तक कि ग्योटे में, आजकल किसे रुचि होगी! मैं, जिसे अपनी कविताओं की 'समकालीनता' के लिए इतना विषाक्त किया गया है, अब अपने गद्य की विषय-वस्तु की 'असमकालीनता' के लिए उलाहने सुन रही हूँ। आप यह न सोचें कि वह 'समकालीनता' है और यह असमकालीनता'-ये दोनों एक चीज हैं, यानी मैं।

''कविताएँ मैं लगभग नहीं लिख रही हूँ, इसलिए कि मैं अपने को कविता तक की सीमित नहीं रख सकती।...मैं एक साथ एक वक्त गद्य और कविताएँ नहीं लिख पाती और न ही लिखती यदि मैं स्वतन्त्र व्यक्ति भी होती। मैं एक केन्द्रीय प्राणी हूँ। मेरी कविताओं को लेने के लिए कोई भी तैयार नहीं। लोग भूल जाते हैं कि मैं कवि हूँ। कविताओं को-एक पंक्ति को भी कोई भी, कहीं भी लेने के लिए तैयार नहीं। 'कोइ भी', 'कहीं भी' से अभिप्राय 'पोस्ल्येद्नीत नोवोस्ती' और 'सोव्रेम्मेनीय जापीस्की' से है- इनके अतिरिक्त मेरे लिए और कोई जगह नहीं है। बहाना यह कि 'मेरी कविताएँ समझ नहीं आतीं।'

''अप्रवास मुझे गद्यकार बना रहा है। निस्सन्देह-मेरा गद्य संसार में श्रेष्ठ है, पर कविताओं के बाद। यह लिरिकल प्रोज है, पर फिर भी-कविताओं के बाद!

''...नोबुल पुरस्कार। २६ तारीख को मैं मंच पर बैठूँगी और बूनिन का सम्मान करूँगी। इससे बचने का मतलब होगा-अपने विरोध को जग जाहिर करना। मैं विरोध नहीं कर रही हूँ, इसलिए कि बूनिन की तुलना में कहीं अधिक बड़े और अधिक मानवीय, अधिक मौलिक और अधिक वांछित लेखक-गोर्की हैं। गोर्की एक युग हैं और बूनिन-युगान्त। पर यह चूँकि राजनीति है, चूँकि स्वीडन के सम्राट साम्यवादी गोर्की को पदक प्रदान नहीं कर सकते... तीसरे प्रत्याशी मेरेझकोव्स्की हो सकते थे। वह नोबेल पुरस्कार के बूनिन से कहीं अधिक सुपात्र हैं, इसलिए कि यदि गोर्की युग हैं और बूनिन युगान्त तो मेरेझकोव्स्की इस युगान्त के युग हैं, और रूस के बाहर उनका प्रभाव बूनिन की तुलना में अधिक व्यापक है, बूनिन का न वहाँ न यहाँ कोई प्रभाव है। 'पोस्ल्येदनीये इज्वेस्तिया' ने उसकी शैली की तुलना टॉल्स्तोय से की है, ठीक जैसे कि मामला 'शैली' यानी कलम का है जिससे लिखा जाता है। टॉल्स्तोय से तुलना करना शर्मनाक है। पर इन सब चीजों के बारे में चुप रहना पड़ जाता है। बूनिन से अपनी भेंट नहीं हुई है। वह मुझे अच्छे नहीं लगते, पर उनकी पत्नी बहुत अच्छी लगती है। उसने पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरी बहुत सहायता की थी, इसलिए कि मेरी बड़ी बहन (इलोवायस्की की धोत्री) की सहेली थी और वह दुनिया उसे अच्छी तरह याद है।''

''इन दिनों मुझे अपनी वसीयत लिखने की बहुत इच्छा हो रही है। वैसे यह भी इच्छा हो रही है कि अब न रहूँ। जब मूर के साथ या उसके बिना कहीं जा रही होती हूँ, स्कूल या दूध के लिए-भीतर ही भीतर अपने आप वसीयत का विचार आता है। सम्पत्ति की वसीयत नहीं- वह तो मेरे पास है ही नहीं-बल्कि ऐसा कुछ कि लोग मेरे बारे में जान सकें। वसीयत यानी स्पष्टीकरण। हिसाब-किताब बराबर करना चाहती हूँ।- भले ही मायकोव्स्की कह चुका है-

समाप्त हो गया है जीवन

पारस्परिक पीड़ाओं, घाओं और अपमानों की

बेकार है अब गिनती...

''मैं ४० वर्ष की उम्र जी चुकी हूँ, पर मेरे पास ऐसा एक भी आदमी नहीं जिसने मुझे दुनिया की तमाम चीजों की तुलना में अधिक प्रेम किया हो। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहती थी। मेरा कोई विश्वसनीय व्यक्ति नहीं रहा। क्यों? हरेक के पास तो है। मैं कृतज्ञता व्यक्त करना चाहती हूँ उनके प्रति जिन्होंने जीने में मेरी सहायता की जैसे आप, आ.ई.अंद्रेईवा और बोरिस पास्तेरनाक। और मेरा कोई नहीं रहा।''

(नवम्बर १९४३ में अन्ना आन्तोनोव्ना को लिखे पत्र से)

फ्रांस में अप्रवासियों के इलाके में भी स्थिति अच्छी नहीं थी। कभी-कभी कोई पत्रिका उनकी कविताएँ छाप देती थीं। कुछ धन मिल जाता था। लेकिन नियमित आय होने का कोई जुगाड़ नहीं हुआ। सेर्गेई एफ्रान उन्हें छोड़ कर फिर मोर्चे पर चले गये। अभी लाल सेना और श्वेत सेना के बीच गृहयुद्ध चल ही रहा था। पेरिस में त्स्वेतायेवा का जीवन बहुत दुर्भाग्यपूर्ण रहा। बच्चों को खिलाने के लिए पड़ोसियों से अन्न माँगना पड़ता था। लोग हर एक को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। त्स्वेतायेवा के भाव-जीवन और सौन्दर्य के कारण कभी-कभी स्नेह सम्बन्ध बन जाते थे। ये भी दुःखदायी होते थे।

कुछ लोग इनके पति एफ्रॉन को खुफिया पुलिस का आदमी समझते थे। अप्रवासी बस्ती में सोवियत खुफिया एजेंसी के लोगों की कमी नहीं थी। आश्चर्य की बात तो यह हुई कि जब एफ्रॉन मोर्चे से लौट आये तो सोवियत खुफिया लोगों ने उनसे सम्पर्क किया। सम्भवतः उन्हें ब्लैकमेल किया और उन्हें अपना एजेण्ट बना लिया। अप्रवासियों में इसकी जानकारी तेजी से फैल गयी। त्स्वेतायेवा का जीवन और दूभर हो गया। इसी समय उनके मन में मास्को लौट जाने की बात आयी। एफ्रॉन सोवियत खुफिया एजेंसी की अनुमति के बिना मास्को नहीं जा सकते थे। सोवियत खुफिया पुलिस ने उनसे तरह-तरह के काम करवाये जिनमें कुछ सोवियत विरोधियों के बारे में पता लगाना, कुछ की हत्या का प्रबन्ध करना जैसी बातें शामिल थीं। एफ्रॉन यह सब करने के लिए पेरिस में ही रुके रहे। त्स्वेतायेवा अकेले बच्चों के साथ मास्को वापस आ गयीं।

फासले

(बोरिस पास्तेरनाक के लिए)
फाऽऽऽसले : कोसों, मीलों लम्बे...
हमें अलग किया गया, भेजा गया बहुत दूर
ताकि चुपचाप जीते चले जाएँ हम
पृथ्वी के दो अलग-अलग हिस्सों में
फाऽऽऽसले : कोसों, मीलों लम्बे...
उखाड़ा गया हमें पटका गया इधर-उधर
बाँधे गये हाथ, ठोंकी उन पर कीलें
पर मालूम नहीं था उन्हें
अन्तःकरण और धड़कती नसों का...
किस तरह होता है मिलन...
लड़ाया गया, अपमानित किया गया हमें,
धकेला गया दीवारों और खाइयों के भीतर,
बाजों-षड़यन्त्रकारियों की तरह
अलग-अलग बसाया गया हमें
एक-दूसरे से कोसों दूर।
उजाड़ा गया हमें, खो जाना पड़ा हमें,
दुनिया भर की गन्दी बस्तियों में
अनाथों की तरह ठूँस दिया गया हमें।
कौन-सा मार्च, बताओ, कौन-सा यह मार्च?
बताओ, क्यों बिखेर गया हमें
ताश के पत्तों की तरह?

(अनु. वरयाम सिंह)

'' नये वर्ष की शुभकामनाएँ! यह पत्र मैं अपनी पाण्डुलिपि के पृष्ठ पर लिख रही हूँ, इसी से मेरा पुराना

वर्ष पूरा हुआ है और इसी से नये वर्ष का आरम्भ हो रहा है।

आख्मातोवा के लिए–2

अपना सिर थामे खड़ी
सांसारिक कुचक्रों के प्रति उदासीन!
अपना सिर थामे खड़ी
देर से हुई सुबह में।
आह, चोटी पर ला फेंका
उस प्रचण्ड लहर ने।
गाती हूँ मैं तुम्हें
क्योंकि तुम हो अद्वितीय हमारे लिए
जैसे अद्वितीय है चन्द्रमा आकाश में।
कव्वे की तरह दिल में उड़ान पूरी कर
छिप गयी है जो अब बादलों की ओट में
मैं गाती हूँ ऐसी तुझ कुबड़ी को
जिसका प्राणान्तक है क्रोध,
प्राणान्तक है प्यार।
जिसने मेरे क्रेमलिन के ऊपर
फैला दी है अपनी काली रात,
और फन्दे की तरह गाते हुए आनन्द में
कसता जा रहा है मेरा गला।
हाँ मैं खुशनसीब हूँ कि कभी नही चमकी
सुबह इतनी साफ जितनी आज
खुशनसीब हूँ कि तुझे सब कुछ देकर
दूर जा रही हूँ आज
वैभवहीन
ओ फाख्ता, ओ अन्धकार,
तेरी आवाज ने मुश्किल कर दिया है साँस लेना।
इसलिए तुझे पुकारा है मैंने
त्सारस्कोये स्येलो की कला देवी के नाम से।

(अनु. वरयाम सिंह)

झाड़ियाँ

झाड़ियों में से मुझे आवाज़ न दो
ओ, इन्सानों की दुनिया!

झाड़ियों में से मुझे दो ऐसी खामोशी
जैसी रहती है मौत और भाषा के बीच।
ऐसी खामोशी जिसका नहीं कोई नाम
या हैं नाम हज़ारों-हज़ार तरह के।
गहरी और अमिट खामोशी-
खामोशी हमारी अमर्त्य कविताओं की।
खामोशी पुराने उद्यानों के धुँधलेपन की,
खामोशी नये संगीत की अस्पष्टता की,
खामोशी तोतली बोली के अबूझपन की
खामोशी फाउस्ट के दूसरे भाग की जटिलता की।
ऐसी खामोशी जो होती है
सबसे पहले और सब कुछ के बाद।
मंच पर आते असंख्य लोगों के शोर
कानों पर प्रहार करते शोर
अपने भीतर सब कुछ गड्डमड्ड करते शोर
हर तरह के शोर के बीच मुझे दो खामोशी।
जैसे पूरब के सब घड़े
रख दिये गये हों पहाड़ी के मस्तक पर
मुझे दो ऐसी खामोशी
जो व्यक्त न हो पाये किसी भी तरह पूरी-की-पूरी।

''काश कवि और जनता के बीच राजनीतिज्ञ खड़े न होते! यों बात यह सरल सी हैः यहाँ वह रूस है, वहाँ-पूरा रूस। यहाँ बातों के लिए कला में अतीत, समकालीनता है। रूस (मैं रूस की बात कर रही हूँ, सत्ताओं की नहीं) आगे चलने वालों का देश है, कला से माँग की जाती है कि वह आगे चले। अप्रवास-पीछे रहे लोगों का देश है ताकि कला उसके साथ ही पिछड़ी रहे।

''वहाँ मुझे छापा नहीं जाता, पर पढ़ा तो जाता है, यहाँ मुझे छापते हैं, पर पढ़ते नहीं (यों अब छापना भी बन्द कर दिया है) लेखक के जीवन में मुख्य चीज है- लिखना। लिखने में सफल होना नहीं बल्कि कुछ लिख सकना। यहाँ लिखने में मुझे कोई बाधा नहीं पहुँचती, बिलकुल नहीं। यों विष-वमन, अपमान ही बाधा नहीं पहुँचाते, बल्कि ख्याति (प्रेम) भी बाधा पहुँचाती है।

''रूस में मुझे बेहतर ढँग से समझा जाता है। पर उस लोक में रूस की अपेक्षा और भी अच्छी तरह समझा जायेगा। पूरी तरह। मुझे स्वयं को समझना सिखाया जायेगा। इहलौकिक चेतना का रूस एक सीमान्त है, रूस की इहलौकिक चेतना के सीमान्त के उस पार सीमाहीन अलौकिक चेतना है। ''ऐसा एक देश-ईश्वर है, और रूस की सीमाएँ उसके साथ लगती हैं।'' ऐसा कहना था रिल्के का, जो रूस से बाहर, जीवनपर्यन्त रूस के लिए तरसते रहे।

''पर रूस भी कम पड़ जाता है। सच्चाई यह है कि हर कवि अप्रवासी होता है, रूस में भी। स्वर्ग के साम्राज्य और प्रकृति के लौकिक स्वर्ग का अप्रवासी।

('कवि और काल' लेख से)

''समकीलना का मतलब पूरे का पूरा अपना समय नहीं होता, और उसी तरह पूरे की पूरी समकालीनता उसके अनेक रूपों में से केवल एक रूप नहीं होती। ग्योटे का युग साथ-साथ नेपोलियन का भी युग है और बेथोविन का भी। श्रेष्ठ की समग्रता ही समकालीनता है।

''यदि यह मान भी लें कि कम्युनिज्म श्रेष्ठतम लौकिक जीवन निर्मित करने के प्रयास के रूप में है तो क्या वही एक -वरदान है, क्या वही एक समग्र वरदान है, क्या वही एक शेष सभी वरदानों को अपने में समाहित करता है, क्या वही एक, शेष सभी कला, विज्ञान, धर्म, चिन्तन के वरदानों और उनकी शक्तियों को निर्धारित करता है?

('कवि और काल' लेख से)

''येसेनिन को मरना पड़ा क्योंकि उसने अपने आदेश को नहीं बल्कि दूसरों के आदेश (समाज के लिए युग के आदेश) को अपना आदेश (कवि के लिए युग का आदेश।) माना, अनेक आदेशों में से एक आदेश को समग्र आदेश माना। येसेनिन को मरना पड़ा क्योंकि उसने अपने बदले दूसरों को जानने की छूट दी, वह भूल गया कि वह स्वयं संवाहक है : सर्वाधिक निर्बाध संवाहक!

''कवि के लिए राजनीतिक आदेश (वह चाहे जैसा भी क्यों न हो!) गलत व्यक्ति को सम्बोधित सन्देश है, कवि को तुर्कसिब भेजना-गलत जगह भेजना है, राजनीतिक रिपोर्ट अविश्वसनीय चीज होती है। कवि को राजनीति की पूँछ बनाने से कोई लाभ नहीं।

''इसलिए कि कवि के लिए राजनीतिक आदेश-युग का आदेश नहीं होता। युग तो बिना बिचौलियों के आदेश देता है। राजनीतिक आदेश समकालीनता का आदेश नहीं बलि तात्कालिकता का आदेश होता है। बीते कल की तात्कालिकता ही येसेनिन की मृत्यु का कारण है।

''येसेनिन को मरना पड़ा क्योंकि वह भूल गया कि वह उसी तरह का माध्यम , उद्घोषक और युग का अगुआ है- कम से कम उस हद तक अपना युग स्वयं है जिस हद तक वे लोग जिनके नाम पर और जिनकी तरफ से उसने अपने आप को आहत और नष्ट होने दिया है-

क्रोध तो कवि को आयेगा ही

जब क्रुद्ध हों स्वयं शाक्तियाँ प्रकृति की,

यदि रूस महासागर है

तो कवि उसकी एक लहर।

यदि सर्वहारा कवि के सिद्धान्तकार कवि को शिक्षा कम और सम्मान अधिक दें तो वे इस आन्दोलित शक्ति को कवि की अपनी इच्छानुसार आन्दोलित होने देते-

जब आजादी हार गयी हो
तो निश्चित है हार कवि की भी,
खास कर जब वह
जनता की नब्ज बना हो।
यानी कृतित्व की नब्ज।

हर सरकार का कवि के लिए यही एकमात्र आदेश होता है चूँकि तुम एक ताकत हो इसलिए हमारे विरूद्ध मत लिखो यदि किसी ने मुझे कुछ ऐसा कहा होता, 'भविष्य के नाम पर।' तो ''मैं कहती मैं भविष्य से बिना बिचौलियों के आदेश लेती हूँ।''

('कवि और काल' लेख से)

''कवि का मैं क्या होता है? प्रकट रूप में- यह मानवीय 'मैं' भाषा के माध्यम से व्यक्त होता है। लेकिन प्रकट रूप में इस लिए कि कविताएँ प्रायः ही हमारे लिए उस छिपे, दबे और चुप पड़े हुए को उद्घाटित करती हैं जिससे स्वयं मनुष्य अनभिज्ञ रहता है और उसे जान नहीं पाता, यदि उसे काव्य-प्रतिभा प्राप्त नहीं होती। इन शक्तियों का प्रभाव मनुष्य के लिए अज्ञात रहता है और प्रभाव के क्षणों में ही उसका अहसास हो सकता है। इसकी तुलना सपने से की जा सकती है। यदि यह सम्भव होता-कुछ लोग विशेष कर बच्चे-अपने सपनों को नियन्त्रित कर सकने में समर्थ होते हैं-तो यह तुलना ठीक बैठती। तुम्हारे भीतर जो चीज़ छिपी और दबी हुई है और कविताओं में खुली और प्रकट हुई है वही तुम्हारी कविता का 'मैं' है, सपने का 'मैं' है। दूसरे शब्दों में-कविता का 'मैं' उन शक्तियों के प्रति कवि-मन का समर्पण है, किन्हीं सपनों के पास कवि का आना है, उसकी सिर्फ इच्छा का नहीं बल्कि समूची प्रकृति का स्रोत है।

कवि का 'मैं' सपना देखने वाले के 'मैं' और भाषा के रचयिता के 'मैं' का जोड़ है। कविता का 'मैं'- यह सपना देखने वाले के उस 'मैं' के अतिरिक्त कुछ और नहीं जो प्रेरणा प्राप्त वाणी से जागृत होता है और जो इसी वाणी में उद्घाटित होता है।

''ऐसा ही होता है लेखक का व्यक्तित्त्व। कवि की विशिष्टता का यही नियम है। इसीलिए तो सब कवियों में इतनी समानता रहती है और इतनी ही असमानता। समानता यह कि सभी, बिना किसी अपवाद के सपने देखते हैं असमानता यह कि सभी अलग-अलग सपने देखते हैं।

('इतिहास सहित और इतिहास रहित कवि' लेख से)

अपवाद अलेक्सान्द्र ब्लोक है जिसका अपना विकास रहा है, अपना इतिहास और अपना रास्ता रहा है। पर 'विकास' कहते हुए मैं देखती हूँ कि मैंने न सिर्फ गलत दिशा ली है, बल्कि यह शब्द भी ब्लोक के सारतत्त्व और प्रारब्ध के विपरीत जाता है। विकास में सामंजस्य अन्तर्निहित होता है। क्या विकास विनाशकारी भी हो सकता है? और क्या सामंजस्य वहाँ भी हो सकता है जहाँ मन का विघटन स्पष्ट हो? यहाँ मैं शब्दों से खिलवाड़ किये बिना उनके माध्यम से प्रश्न करते और उत्तर देते हुए यह मानती हूँ कि ब्लोक अपनी समग्र काव्य-यात्रा में विकसित नहीं, बल्कि विघटित हुए हैं।

ब्लोक के लिए–2

भर्त्सनाओं से मुक्त,
ओ विनम्र प्रेतात्मा,
किसने आमन्त्रण दिया तुम्हें
मेरे युवा जीवन में आने का?
फाख्ता रंग के अँधेरे में
खड़ा बर्फीला चोगा पहने-
न जाने यह हवा है या कुछ और
जो हाँक ले जाता है मुझे शहर की गलियों में
उफ्, आज तीसरी रात
सुन रही हूँ दुश्मन की आहट।
मन्त्रविद्ध कर रखा है मुझे
नीली आँखोंवाले
इस हिम-गायक ने।
बर्फ के हंस ने
बिछा रखे हैं पंख।
मेरे पाँवों के नीचे
गहरे और गहरे
धँसते जा रहे हैं वे बर्फ में।
इस तरह इन पंखों की दिशा में
मैं जा रही हूँ उस द्वार की ओर
जिसके पीछे चुप बैठी है मौत।
वह गा रहा है मेरे लिए
नीली खिड़कियों के पीछे से
दूर कहीं गूँजती खँजड़ी की तरह
वह गा रहा है मेरे लिए,
बुला रहा है
हंस की चहक और
लम्बी किलकारी से
ओ, प्रिय प्रेतात्मा
जानती हूँ, यह मात्र सपना है।
फिर भी तू कुछ तो बोल
आमीन!

(अनु.- वरयाम सिंह)

''ब्लोक के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह अकेले, अपने एक आप से किसी अपने दूसरे आप के पास जाने का प्रयास करते रहे। उस एक से, जो उन्हें यन्त्रणा देता रहा, दूसरे के पास जाने का प्रयास करते रहे जो उन्हें और अधिक यन्त्रणा देता रहा। ब्लोक की चारित्रिक विशिष्टता इसमें निहित है कि वह हमेशा अपने आप से दूर जाने की आशा करते रहे। जिस तरह घातक रूप से घायल आदमी भयभीत होकर अपने घाव से भागने लगता है, जिस तरह रोगी एक देश से दूसरे देश में, फिर एक कमरे से दूसरे कमरे में और अन्त में एक करवट से दूसरी करवट बदलने के लिए तड़पता रहता है।

''यदि ब्लोक हमें ऐसे कवि लगते हैं जिसके साथ इतिहास है तो यह इतिहास केवल उसी का है, गीतात्मक कवि का है, केवल कवि के कष्टों का है। यदि ब्लोक हमें एक विशेष पथ वाले कवि के रूप में दिखाई देते हैं तो पथ केवल अपने आप से भागने के लिए एक दायरे में दौड़ है।

''अन्तर केवल इतना ही है कि ब्लोक जन्म से ही दौड़ते रहे, तब जब दूसरे कवि एक ही जगह खड़े रहे। केवल एक बार ब्लोक अपने आप से भागने में सफल रहे-क्रान्ति के उस निष्ठुर रास्ते पर।

''शारीरिक रूप से शक्तिहीन और आध्यात्मिक रूप से टूटे हुए ब्लोक के व्यक्तित्त्व में क्रान्ति की शक्ति ने अपने समस्त गीतों के साथ प्रवेश किया। हम यह न भूलें कि 'बारह' का अन्तिम शब्द 'ईसा' ब्लोक के प्रथम शब्दों में एक है।

''ऐसा रहा है इतिहास, विकास और पथ इस विशुद्ध कवि का।

('इतिहास सहित और इतिहास रहित कवि' लेख से)

मरीना त्स्वेतायेवा उन पहले बौद्धिकों में थीं जिन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध से वितृष्णा व्यक्त की थी। बोलशेविक मास्को में रहते हुए भी वे प्रति क्रान्तिवादी श्वेत सेना के लोगों के गुण गाया करती थीं। जब वह यूरोप में अप्रवासियों के बीच रहने लगीं तो वहाँ उनको तीव्र बूर्ज्वाविरोधी की भावनाएँ व्यक्त करने में देर नहीं लगी।

त्स्वेतायेवा के पति के राजनीतिक विचार भी तेजी से बदले। अब तक उन्होंने अपना जीवन बोलशेविकों के विरोध में लगाया था। लेकिन अप्रवासियों के बीच फ्रांस में रहते हुए उनके विचार पलट गये और वे बोलशेविकों के पक्के समर्थक बन गये। उन दिनों अप्रवासी रूसियों के बीच 'यूरेशियनवाद' नाम का आन्दोलन चल रहा था। इस आन्दोलन से कुछ बड़े अप्रवासी दार्शनिक, भाषा वैज्ञानिक, संगीत आलोचक जुड़े हुए थे। इनमें दार्शनिक निकोलाई त्रुबेत्सकाय, ज्यार्जी फ्लोरोव्स्की, रूसी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार डी.एस. मिर्स्की, संगीत आलोचक पियेर सुव्चिन्स्की और दार्शनिक लेब कार्सविन आदि शामिल थे। ये लोग मानते थे कि रूस की अपनी भू-राजनैतिक स्थिति है और यूरोप व एशिया के बीच में पुल की तरह काम करना इसकी नियति है। इसमें कुछ लोग वामपन्थी थे और कुछ लोग ईसाई विचारों के थे। वामपन्थी लोग धीरे-धीरे सोवियत संघ के करीब आ गये और खुफिया एजेंसियों ने उन पर अपना नियन्त्रण कायम कर लिया। मिर्स्की के पिता अन्तिम जार के गृह मन्त्री थे। ब्रिटेन में रहते हुए उन्होंने १९३१ में ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर ली। तब तक वे 'रूसी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित कर चुके थे। किसी भी भाषा में लिखा गया रूसी भाषा का यह सर्वश्रेष्ठ इतिहास है, अभी तक इस स्तर की कोई दूसरी कृति नहीं लिखी जा सकी है। यहीं उन्होंने एक गलती कर दी। वे १९३२ में गोर्की से आश्वासन पाकर सोवियत संघ वापस चले

आये। गोर्की की १९३६ में मृत्यु हो गयी। गोर्की की मृत्यु के ठीक एक वर्ष बाद मिर्स्की को १९३७ में गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें साइबेरिया के यातनाशिविरों में भेज दिया गया। वहाँ उनकी कब मृत्यु हुई इसका कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। त्स्वेतायेवा के पति एफ्रॉन, मिर्स्की और सुव्चिन्स्की के साथ मिल कर एक वार्षिक पत्र 'वर्स्ती' निकालते थे। इसमें त्स्वेतायेवा, पास्तेरनाक, और एलेक्सी रेमीजोव की कविताएँ छपती थीं।

जादूगर

(कवितांश)

ओ एल्लिस, ओ सौन्दर्य, ओ यौवन, ओ ताजगी
ओ निष्कलुष, ओ शब्दों के जादुई खेल!
ओ देवदूतों की रुलाई! दाँतों की किटकिटाहट!
ओ पावन नर्तक!
रोटी की चिन्ताओं से दूर,
जीते हुए ईश्वर ही जाने, किसके सहारे!
मालूम नहीं, स्वर्ग में ईश्वर है या नहीं
लेकिन यदि वह है-
तो इस संसार में, इसी क्षण
मेरी इन कविताओं के लिए
क्षमा कर दिये गये हैं
सारे के सारे पाप।
ओ एल्लिस, धोखें और गद्दारी से दूर के नायक!
आदर्श मातृभूमि के पुत्र!
अलग हो गयीं तुम्हारे साथ की दीवारें
एक दूसरी ही जिन्दगी की तरफ...
कहीं भी मिलें हमारी पलकें
किन्हीं भी रेगिस्तानों की निर्जनता में
तुम हमारे हो और हम-तुमरी
सदियों, सदियों तक। अमीन!

(अनु. वरयाम सिंह)

एफ्रॉन १९३१ में सोवियत खुफिया पुलिस के एजेण्ट बन गये। उन्होंने स्पेन के फासिस्ट विरोधी दस्ते की सहायता की। उनके कामों में त्रात्स्की के बेटे पर निगाह रखना भी था। उन्होंने सोवियत खुफिया पुलिस के लिए २४ एजेण्ट भी भर्ती किये। त्स्वेतायेवा का कहना था- 'एफ्रॉन दुनिया में बिलकुल निःस्वार्थी और श्रेष्ठ व्यक्ति है। वह रूस की मुक्ति के लिए श्वेत सेना में लड़ रहा था और जब उसे यह लगा कि मुक्ति तो दूसरे पक्ष के साथ है तो उसने अपना रास्ता बदल लिया।'

भूतपूर्व सोवियत खुफिया एजेण्ट इग्नास रीस पश्चिम की तरफ आ गये थे। उनकी हत्या के बाद एफ्रॉन फ्रांस छोड़ कर सोवियत संघ भाग गये। त्स्वेतायेवा और उनकी पच्चीस वर्ष की बेटी आल्या छः महीने से फ्रांस में ही रह रहे थे। एक बार फ्रांसीसी खुफिया पुलिस ने त्स्वेतायेवा को पूछताछ के लिए बुलाया। वे उन्हें अपनी और फ्रांसीसी कवियों की लिखी कविताएँ सुनाने लगीं। पुलिस को लगा कि त्स्वेतायेवा पागल हैं। लेकिन अप्रवासी उनको बहुत खतरनाक मानने लगे। एफ्रॉन ने खुफिया और कूटनीतिक श्रोतों से त्स्वेतायेवा के पास मास्को आ जाने के लिए अनेक सन्देश भेजे। वह जून १९३९ में मास्को आ गयीं। इस बीच खुफिया पुलिस के प्रधान येझोव हटा दिये गये और उनकी जगह लेवरेन्ती बेरिया सोवियत खुफिया पुलिस के अध्यक्ष बन गये। बेरिया ने खुफिया पुलिस में शुद्धीकरण का अभियान चला दिया। एफ्रॉन और उनकी बेटी आल्या को गिरफ्तार कर लिया गया।

बाद में आल्या को पेरिस में नोबुल विजेता ईवान बूनिन के साथ हुई बातचीत याद आयी। बूनिन ने उससे पूछा– ''अरे मूर्ख, तुम कहाँ जा रही हो? वहाँ तुम्हें क्या मिलेगा? तुम्हें कौन भगा रहा है यहाँ से? तुम वहाँ शीघ्र ही गिरफ्तार कर ली जाओगी।''

''मुझे गिरफ्तार किया जाएगा?क्यों, किसलिए?''

''देखना। वे गिरफ्तार करने के लिए कोई न कोई कारण ढूँढ़ लेंगे।''

मार्च (5)

उफ़ आँखों में ये आँसू,
क्रोध और प्रेम में यह रोना!
उफ़, आँसुओं से भीगा चेक देश
और खून में डूबा स्पेन!
उफ़, यह काला पहाड़,
सारी रोशनी रोक दी है इसने!
आ गया है अब समय–
सृष्टा को टिकट लौटा दिया जाय!
स्वीकार नहीं मुझे
अमानवों के पागलखाने में रहना,
स्वीकार नहीं मुझे रहना
चौराहों के भेड़ियों के संग।
स्वीकार नहीं मुझे चिल्लाना,
स्वीकार नहीं तैरते हुए
शार्क मछलियों की तरह जाना
नीचे, बहती पीठों की दिशा में।
मुझे नहीं चाहिए कानों के छेद,
नहीं चाहिए भविष्य बताती आँखें।

तुम्हारी इस पागल दुनिया के लिए
मेरा एक ही उत्तरः
कुछ भी स्वीकार नहीं मुझे।

(अनु. वरयाम सिंह)

खुद त्स्वेतायेवा के मन में राजनीति से घृणा थी। वह स्वयं कोई राजनीतिक कार्य करने में असमर्थ थीं। लेकिन जिन कार्यों को गलत मानती थीं उनकी घोर निन्दा करती थीं। उदाहरण के लिए यूरोप में नात्सियों के उत्थान के विरुद्ध उन्होंने अनेक कविताएँ लिखीं। १९३९ में हिटलर द्वारा चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार कर लिए जाने के विरोध में उन्होंने बहुत सशक्त कविता लिखी। एक अप्रवासी लेखक और कवि ज्यार्जी अदामोविच ने लिखा है- 'मरीना त्स्वेतायेवा को विश्व में हो रहे हर कार्य की प्रतीति थी। वह राजनीति को भी महसूस करती थीं, प्रेम, धर्म, कविता, इतिहास, लगभग हर बात उनकी अनुभूति के दायरे में थी। उनकी चेतना में ये सारी बातें आ कर घुल मिल जाती थीं।' त्स्वेतायेवा ने तमाम राजनीतिक विषयों पर कविताएँ लिखीं।

दुहराती हूँ पहली पंक्ति

''मैंने छः आदमियों के लिए खाना लगा दिया है...''
(अर्सेनी तर्कोव्स्की द्वारा मारीना त्स्वेतायेवा को समर्पित कविता की पहली पंक्ति - अनु.)
बार-बार मैं दुहराती हूँ पहली पंक्ति
बार-बार रुक जाती हूँ
इन शब्दों के पास :
''मैंने छः आदमियों के लिए
खाना लगा दिया है...''
पर तुम भूल गये हो एक उस सातवें को।
उदास बैठे हो तुम सभी छः के छः
चेहरों पर जैसे आँसुओं की बारिश...
कैसे भूल गये तुम इस तरह के भोजन पर
एक उस सातवें यानी सातवीं को...

उदास बैठे हैं तेरे मेहमान,
निष्क्रिय बैठे हैं सुरा-पात्र।
दुखी हैं वे, तुम स्वयं भी दुखी
पर सबसे दुखी तो वह है
जिसे यहाँ बुलाया नहीं गया।

पर कैसे भूल गये तुम मेहमानों की संख्या?

कैसे गलती हुई तुमसे गिनती करने में?
कैसे साहस किया तुमने यह न समझने का
कि तुम छः (दो भाई, तीसरे तुम स्वयं,
पत्नी, पिता और माँ के साथ)
कि तुम छः नहीं सात हो
यदि मेरा भी वजूद है इस संसार में कहीं!

तुमने खाना लगाया छः आदमियों के लिए
पर मात्र छः लोगों से तो
पूरा नहीं हो जाता यह संसार।
मैं हौआ होना चाहती हूँ जीवितों के बीच
और तुम्हारे साथ-एक प्रेतच्छाया।

चोरों की तरह सहमी हुई
किसी को कुछ बुरा कहे बिना
जहाँ अभी थालियाँ लगायी भी नहीं गयीं
बैठ जाती हूँ मैं सातवीं-
जिसे यहाँ बुलाया नहीं गया।
लो गिर गया है मुझसे एक गिलास
और बहने लगा है वह सब कुछ
जो रुका पड़ा था न जाने कब से-
आँखों से नमक
घावों से खून
टपकने लगा है फर्श पर।

न ताबूत है, न विदाई।
इस मेज़ पर जादू-टोना हुआ है,
जाग गया है सारा घर।
विवाह-भोज पर मौत की तरह
मैं-जिन्दगी-आयी हूँ रात के खाने पर।
...कोई नहीं : न भाई, न बेटा,
न पति, न दोस्त-पर फिर भी
फटकार लगाती हूँ तुम्हें:
तुमने खाना लगाया छः लोगों के लिए,

बैठाया नहीं मुझे मेज के पास।

त्स्वेतायेवा को अपने पति के खुफिया कार्यों का जरूर पता रहा होगा। लेकिन उनके पति एफ्रॉन ने उनसे इन कार्यों में कभी कोई सहायता नहीं ली। सोवियत खुफिया पुलिस ने पेरिस में एफ्रॉन से बहुत सारे कार्य लिये थे। फिर उन्हें बड़े पद दिये जाने का आश्वासन देकर मास्को बुलाया गया। इसी बीच सोवियत खुफिया पुलिस में अकस्मात शुद्धीकरण का अभियान शुरू हो गया। इसकी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। यदि ऐसा नहीं होता तो सोवियत खुफिया पुलिस में एफ्रॉन को कोई बहुत बड़ा पद मिला होता। इसके बजाए हुआ यह कि उन्हें १६ अक्टूबर १९४१ को गोली मार दी गयी। उन पर यह हास्यास्पद आरोप लगाया गया कि वे फ्रांस के लिए जासूसी करते थे। १९४४ में १९ वर्ष की आयु में त्स्वेतायेवा के बेटे को मोर्चे पर भेज दिया गया। वहाँ उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी कब्र, या एफ्रॉन की कब्र, या त्स्वेतायेवा की कब्र रूस में कहाँ हैं? इन्हें आज तक खोजा नहीं जा सका है।

३१ अगस्त १९४१ को त्स्वेतायेवा ने ४८ वर्ष की अवस्था में मास्को में अपने गले में फाँसी लगा ली। मास्को में न तो उनके पास सिर ढकने के लिए घर था, न ही दो जून खाने के लिए रोटी थी। उनकी कविताएँ न तो छपती थीं, न कोई राएल्टी मिलती थी। कविताएँ अनुवाद करने के अवसर भी कभी-कभी ही दिये जाते थे। ऐसा डेढ़-दो वर्षों से चल रहा था। ये अभाव ही उन्हें अपने जीवन को समाप्त करने की ओर ले गये।

'मरीना त्स्वेतायेवा' (बोरिस पास्तेरनाक की 'आत्मकथा' से)

''त्स्वेतायेवा की रचनाओं में डूब जाना पड़ता है। जब मैं (आयु के २०वें वर्ष में) यह कर पाया तो मेरे सामने शुद्धता और शक्तिमत्ता की जो गहराइयाँ खुलीं, उनसे मैं आश्चर्य में पड़ गया। मेरा यह कहना सत्य से दूर नहीं होगा कि एनेन्स्की, ब्लोक और कुछ हद तक आन्द्रे बेली को छोड़ कर त्स्वेतायेवा के प्रारम्भिक लेखन में वह सब कुछ था जो प्रतीकवादी चाहा करते थे पर लिख नहीं पाते थे।

''उन लोगों का लेखन चारों ओर विस्तीर्ण था, जिसमें एक नियोजित सिद्धान्त और प्राणहीन, जानबूझ कर लाये गये समयविरुद्ध तत्त्व थे। त्स्वेतायेवा रचना की कठिनाइयों को अपनी सरल शिष्टता खोये बिना हल कर लेती थीं। काव्य रचना के संकटों को वह इस तरह पार कर लेती थीं जैसे यह संकट कोई खेल हो। उनमें जो शिल्प का चमत्कार था उसका कोई सानी नहीं था।

''मैंने मास्को में १९२२ में उनका एक छोटा कविता संग्रह 'वेर्स्टी' खरीदा। उस समय तक वे फ्रांस चली गयी थीं। मुझे उनके काव्य रूपों की शक्ति सम्पन्नता ने पहले पहल आकृष्ट किया। उन्हें कवि के रक्त में अनुभूत किया गया था, उनमें किसी प्रकार की दुर्बलता से झुक जाने की वृत्ति नहीं थी। उनके भाव केन्द्रित थे, (रस्सी की तरह) खूब कस कर बँधे हुए थे, पहली पंक्ति से अगली पंक्ति तक जाने में श्वासोच्छवास टूटता नहीं था। त्स्वेतायेवा की कविताओं की विशेषताओं से अलग भी मुझमें उनसे सहजन्मिता का भाव जगा। हम दोनों ने एक जैसे प्रारम्भिक प्रभावों को अनुभव किया था। हमारे अनुभव एक जैसे थे, जो सम्भवतः परिवार और संगीत के प्रभाव से उत्पन्न हुए थे। हम दोनों की पृष्ठभूमि एक जैसी थी, हमारे लक्ष्य और अभिरुचियाँ एक जैसी थीं।

''त्स्वेतायेवा उन दिनों प्राग में थीं। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा। इसमें उनके प्रति मेरा उत्साह अभिव्यक्त

हुआ था। मुझे इस बात पर आश्चर्य था कि त्स्वेतायेवा को जाने बिना ही मेरा इतना समय बीत गया है। उनका उत्तर आया और हमारा पत्र व्यवहार शुरू हो गया। जब उनका अगला कविता संग्रह 'क्राफ्ट' तीसरे दशक के मध्य में प्रकाशित हुआ तो इस पत्र व्यवहार में तीव्रता आ गयी। उन दिनों 'पर्वत की कविता', 'अन्त की कविता', 'द पाएड पाइपर' आदि कविताएँ मास्को में टाइप करके पाठकों के बीच बँट रही थीं। इन कविताओं का क्षेत्र व्यापक था, इन कविताओं में सुस्पष्ट विचार प्रकट हुए थे, इनमें आश्चर्यजनक मौलिकता थी।

''हम लोगों में मित्रता हो गयी। १९३५ की ग्रीष्म में मैं 'एण्टीफासिस्ट' कांग्रेस के लिए पेरिस गया। मैं उन दिनों लगभग मानसिक विक्षिप्तता के कगार पर था क्योंकि बीमारी के कारण पूरे साल मैं सो नहीं सका था। पेरिस में मेरा त्स्वेतायेवा के पति के साथ उनकी बेटी और बेटे से परिचय हुआ। उनके पति मनमोहक, सुसंस्कृत और ठोस आदमी लगे।

''त्स्वेतायेवा का परिवार उन्हें रूस लौट जाने के लिए प्रेरित कर रहा था। एक तो उन्हें देश की याद आती थी और दूसरे उनके पति कम्युनिस्ट हो चुके थे। सोवियत संघ से उनका कोई विरोध नहीं रह गया था। वे यह भी महसूस करते थे कि पेरिस में त्स्वेतायेवा का कोई जीवन नहीं रह गया है। अपने पाठकों के उत्साहवर्धक स्वरों को सुने बिना वे नष्ट होती रहेंगी। त्स्वेतायेवा ने मेरी राय पूछी। मेरी इस विषय में कोई स्पष्ट राय नहीं थी। मैं उन्हें क्या सुझाव देता, मुझे कुछ भी पता नहीं था। हालाँकि मुझे यह जोरदार रूप में लगता था कि इस विशिष्ट परिवार को और त्स्वेतायेवा को रूस जाकर हम लोगों के बीच बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अन्ततः जिस प्रकार के प्राणलेवा दुःख इस परिवार को भारी मात्रा में भोगने पड़े उसकी मैं उस समय कल्पना भी नहीं कर सकता था।

''त्स्वेतायेवा एक ऐसी नारी थीं जिनकी आत्मा बहुत सक्रिय थी, उन्हें पुरुष भी कहा जाता था। उनमें बड़ी दृढ़ता थी। युद्ध के लिए इतनी तत्परता थी कि कोई भी उन पर अपने बल का प्रभाव नहीं जमा सकता था। वह अपने जीवन और अपने कार्य में पूरी तत्परता से बिना किसी की परवाह किये स्पष्टता से अपने लक्ष्य तक पहुँच जाने के कार्य में लगी रहीं। इस अभीप्सा में वे अपनी पीढ़ी के हर किसी को पीछे छोड़ गयीं। मुझे लगता है कि अभी तक त्स्वेतायेवा का कोई दूरगामी मूल्यांकन नहीं हुआ है और उन्हें महानतम मान्यता प्रदान करना अभी शेष है।

स्तालिन का कालः १९५४-१९५६ (वसिली ग्रॉसमैन)

लेनिन की मृत्यु १९२४ में हो गयी थी लेकिन वे जो कर गये थे, वह उनके बाद भी बना रहा। उसी तरह स्तालिन भी अपनी मृत्यु के बाद सोवियत जीवन में बने रहे।

स्वतन्त्रता से रहित राज्य, स्तालिन द्वारा निर्मित राज्य आज भी (१९५४-५६) रूस में बना हुआ है। सत्ता का सारा संयन्त्र- भारी उद्योग, सशस्त्र सेना और सबसे बड़ी खुफिया पुलिस ये सब पार्टी के अंग हैं। लेकिन कृष्ण सागर से लेकर प्रशान्त महासागर तक अस्वतन्त्रता का राज्य अविचलित बना हुआ है। जीवन के हर क्षेत्र में नाटक चलता रहता है। निर्वाचन की पुरानी प्रणाली ही चल रही है। मजदूर संगठन पहले की तरह ही कठोर बन्धनों में जकड़े हुए है। किसानों को आज भी आन्तरिक पासपोर्ट नहीं दिया जाता और उनको कहीं आने-जाने की स्वतन्त्रता

नहीं है। एक महान देश का बौद्धिक वर्ग जिसमें आज भी प्रतिभा है, वह अपना कार्य कर रहा है, उसे आज भी नौकरों के कमरों में रहना पड़ता है। नौकरों के कमरों से ही उसकी धीमी बातचीत का शोरगुल सुनायी पड़ता है। आज भी सरकार का कार्य सिर्फ आदेश जारी करना है, बटन दबाते रहना है, सर्वोच्च नियन्त्रक की शक्ति आज भी निःसीम है।

बहुत कुछ बदल भी चुका है- अपरिहार्य रूप से और हमेशा के लिए, अब वह वापस नहीं लाया जा सकता।

स्वतन्त्रता-रहित राज्य अब अपने तीसरे चरण में पहुँच चुका है। इसकी स्थापना लेनिन ने की थी। स्तालिन ने इसका ढाँचा, संरचना बनायी और अब तीसरे चरण की शुरुआत हो चुकी है, जैसा इंजीनियर कहते हैं कि अब राज्य का कार्य व्यापार शुरू हो गया है।

संरचना के काल में जो कुछ करना जरूरी था अब वह सब करना जरूरी नहीं रह गया है। बड़े भवनों के निर्माण के पहले वहाँ पहले से बने छोटे-छोटे घरों को उजाड़ कर गिरा देने की जरूरत अब नहीं रह गयी है। पुराने घरों में जो लोग रह रहे थे उनका कत्ल कर डालने की या उनको वहाँ से बाहर भेज देने की जरूरत नहीं रह गयी है।

नयी गगनचुम्बी अट्टालिका में नये किरायेदार रह रहे हैं। अभी भी उनमें कमियाँ बनी हुई हैं। लेकिन अब दिवंगत महान निर्माता की तरह हत्या की विधियों का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं रह गयी है।

गगनचुम्बी अट्टालिका की आधारशिला ही अ-स्वतन्त्रता पर रखी गयी है। इस आधारशिला को कभी भी हिलाया नहीं जा सकता।

आगे क्या होगा? क्या यह आधारशिला सचमुच ऐसी बनी है कि इसे कभी हिलाया ही नहीं जा सकता?

क्या हेगेल सही था?क्या हर वास्तविक वस्तु 'युक्तिसम्मत' भी है?क्या अमानवीय भी 'सत्य' है?क्या अमानवीय भी 'युक्तिसम्मत' है?

फरवरी १९१७ में शुरू हुई जनक्रान्ति इतनी शक्तिशाली थी कि उसे तानाशाही राज्य भी कुण्ठित नहीं कर सका। और जब राज्य अपने उद्देश्यों के लिए अपने निर्दय और क्रूर विकास और संचय के मार्ग पर आगे बढ़ रहा था तब भी इसके बिना जाने इसके गर्भ में स्वतन्त्रता का बीज विकसित हो रहा था।

गहन अन्धकार में, गहरी गोपनीयता में स्वतन्त्रता का जन्म हो रहा था। एक नदी जो अपने मार्ग में पड़ी हर वस्तु को बहा ले गयी थी, एक नदी जो एकमात्र वास्तविकता बन गयी थी, धरती की सतह पर शोर मचाते हुए बढ़ रही थी। नया राष्ट्रीय राज्य जो हर जीवन्त साँस का सार्वभौम स्वामी था, कारखानों, परमाणु संयन्त्रों, देश में बची हुई थोड़ी सी भी जमीन का एकमात्र और सार्वभौम स्वामी था, वह अपनी विजय का उत्सव मना रहा था। ऐसा लगता था जैसे क्रान्ति सिर्फ इस राज्य के लिए हुई थी, हजारों वर्ष से विजयी हो रही सत्ता के लिए हुई थी। फिर भी आधी दुनिया का सार्वभौम शासक स्वतन्त्रता की कब्र खोद डालने में सक्षम नहीं था।

एक नये विश्व के प्रतिभाशाली निर्माता लेनिन के बावजूद स्वतन्त्रता को तो आना ही था। स्तालिन की निःसीम वैश्विक हिंसा के बावजूद स्वतन्त्रता को तो आना ही था। इसे आना ही था क्योंकि मनुष्य भी मनुष्य बने हुए थे।

मनुष्य ने ही फरवरी १९१७ की क्रान्ति की थी। मनुष्य ने ही नये राज्य के आदेश पर गगनचुम्बी

अट्टालिकाओं, कारखानों और आणविक संयन्त्रों का निर्माण किया था। मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता के अलावा कोई अन्य रास्ता नहीं है। क्योंकि मनुष्य जब नये विश्व का निर्माण कर रहा होता है तब भी वह मनुष्य ही रहता है।

ईवान ग्रिगोरियेविच ने इन सारी बातों को अनुभव किया था। कभी-कभी पूरी स्पष्टता से, कभी कुछ धुँधलेपन से।

गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ कितनी भी दीर्घ रही हों, तोप के गोले कितने भी शक्तिशाली रहे हों, राज्य की शक्ति कितनी भी निःसीम रही हो, साम्राज्य कितना भी सर्वशक्तिमान क्यों न रहा हो यह सब केवल कुहरा और धुन्ध है और उन्हीं की तरह उड़ जाएगा, खत्म हो जाएगा। केवल एक ही शक्ति रह जाती है, एक ही सच्ची शक्ति विकसित होती जीवित रहती है और यह शक्ति ही स्वतन्त्रता है। मनुष्य के लिए जीवित रहने का अर्थ स्वतन्त्र रहना है। नहीं, हर वास्तविक वस्तु युक्तिसम्मत नहीं है। हर अमानवीय वस्तु निरर्थक और निरुपयोगी है।

ईवान ग्रिगोरियेविच को इस बात पर आश्चर्य नहीं हुआ कि जब अपनी युवा विद्यार्थी आयु में उन्हें साइबेरिया भेजा जा रहा था तो उनके अधरों पर जो शब्द था वह था- स्वतन्त्रता। वह शब्द आज भी उनके अन्तरतम में जीवित है, अवशिष्ट है। आज भी उनके मस्तिष्क में अवशिष्ट है, आज भी, अभी भी।... ....

..... वे कमरे में अकेले ही थे, लेकिन मन में और विचारों में अन्ना सेरगेयेवना के साथ उनकी बातचीत जारी थी।

'तुम्हें पता है?सबसे बुरे समय में भी मैं कल्पना करता था कि कोई नारी मेरा आलिंगन कर रही है। मैं इस अद्‌भुत आलिंगन की कल्पना करके अपनी सारी परिस्थिति को, जो कुछ भी भोगना पड़ा था उसे भूल जाया करता था। ऐसा लगता था कि यह सब तो कभी घटा ही नहीं। लेकिन अब पता चला है कि मुझे तुमसे ही बात करनी है। मुझे अपने जीवन में घटे सबसे बुरे समय के बारे में तुमसे ही कहना है। आखिरकार, तुम ही स्वयं उस सारी रात बात करती रहीं थीं। अब प्रसन्नता का, सुख का अर्थ यही रह गया है कि मैं अपने मन पर भारी पड़ रहे बोझ को केवल तुम्हें ही सुना कर हलका करुं। यह किसी और के साथ नहीं किया जा सकता। जब तुम अस्पताल से आयीं तब के सबसे कठिन समय के बारे में मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ। यह पूछताछ होने के बाद प्रातः काल जेल की एक कोठरी में हुई बातचीत है। उस कोठरी में मेरे साथ एक कैदी रहता था, वह अब जीवित नहीं है, वह उसके कुछ समय बाद ही मर गया था, उसका नाम एलेक्सेयी समोयिलोविच था। मैं इस जीवन में जितने लोगों से मिला हूँ उनमें सम्भवतः वह सबसे बुद्धिमान था। लेकिन मुझे उससे भय लगता था। मुझे उसका दिमाग बहुत ही भयानक लगता था। ऐसा नहीं कि उसके दिमाग में कोई बुराई थी, लेकिन उसके दिमाग में उपेक्षाभाव था, ऐसा लगता था कि वह हर बात का मजाक उड़ा रहा है। वह लोगों की आस्था का भी मजाक उड़ा रहा होता था। वह मुझे भयभीत कर देता था, लेकिन मैं उसके प्रति आकृष्ट भी होता था। ऐसा लगता था कि मैं खिंचा चला जा रहा हूँ, अपने को रोकने के लिए कुछ भी करना सम्भव नहीं। मैं स्वतन्त्रता में अपने विश्वास का उसे सहभागी नहीं बना सकता था।

'उसका जीवन बुरा बीत रहा था लेकिन कुछ किया नहीं जा सकता था। सभी लोगों के जीवन के साथ ऐसा ही हो रहा था। उस पर सोवियत-विरोधी प्रचार करने का आरोप लगाया गया था- धारा ५८, उपधारा १०। अधिकांश लोगों पर यही आरोप लगाया जाता था।

'उसका मस्तिष्क बहुत शक्तिशाली था। उसके विचारों का महान प्रवाह सतत् बहा करता था। कभी-कभी

वह मुझे उस प्रवाह में बहा ले जाता था। कभी-कभी काँपने लगता था। जैसे प्रवाह के बीच पड़ गयी धरती काँपने लगती है।

'लम्बी पूछताछ किये जाने के बाद मुझे अपनी कोठरी में वापस लाया गया। हिंसा के उपायों की सूची बनायी जा सकती है- लकड़ी के चौखटों पर बाँध कर जला दिया जाना, जेल में कैद कर दिया जाना, आज की जेलें पुराने जमाने की राजधानियों जितनी बड़ी होती हैं, इनके साथ ही यातना श्रमशिविरों को भी रखा जा सकता है, फाँसी देने का सबसे पुराना तरीका पटुवे की रस्सी और गले में डालने का लकड़ी का चौखटा था। उसके भीतर ही आदमी का माथा पिस जाता था। आज कल तो जल्लाद केवल एक बटन दबा कर सैकड़ों, हजारों, दसियों-हजारों को फाँसी दे सकता है। आज कल कुल्हाड़ा उठाने की भी जरूरत नहीं है। हमारा युग राज्य द्वारा किये जाने वाली परम हिंसा का है। एक बेचारे मनुष्य के ऊपर ढायी गयी परम हिंसा। लेकिन इसी में हमारी शक्ति और हमारी आशा अन्तर्निहित है। बीसवीं शताब्दी ने हेगेल के विश्व ऐतिहासिक प्रक्रिया की युक्तिसंगति के सिद्धान्त को हिला करके रख दिया है। जो कुछ भी वस्तु जगत में है वह युक्तिसम्मत है, इस सिद्धान्त को निर्मूल कर दिया है। दसियों वर्षों तक चले एक चिन्ताजनक विवाद के बाद रूसी विचारकों ने इन सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया था। आज जब मानव स्वतन्त्रता को सर्वशक्तिमान राज्य ने विजित कर रखा है, कैदियों की पोशाक पहने हुए रूसी विचारक हेगेल के सिद्धान्त को उलट रहे हैं और विश्व इतिहास के इस सार्वभौम सिद्धान्त की घोषणा कर रहे हैं कि ''जो कुछ भी अमानवीय है, वह निरर्थक और निरुपयोगी है।''

'अवश्य, बिलकुल अवश्य, अमानवीयता की पूर्ण विजय के इस काल में यह स्पष्ट हो चुका है कि हिंसा के जरिए रचित हर बात निरर्थक और निरुपयोगी है। इसका कोई भविष्य नहीं है, इसका कोई चिन्ह अवशेष नहीं रहेगा।

'यह मेरी आस्था है, इसी आस्था को लेकर मैं अपनी जेल की कोठरी में लौट आया। एलेक्सेयी समायलोविच अकसर कहा करते थे, उन्होंने फिर कहा ''स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क देने की क्या आवश्यकता है? बहुत पहले इसे प्रगति का सिद्धान्त माना गया था। इसे प्रगति का अर्थ कहा गया था। अब तो यह पूरी तरह सुस्पष्ट हो चुका है कि ऐतिहासिक विकास जैसी कोई चीज नहीं है। इतिहास केवल एक आणविक प्रक्रिया है। मनुष्य केवल मनुष्य है। उसे बिगाड़ा या बनाया नहीं जा सकता। विकास नाम की कोई चीज नहीं है। एक बहुत सरल सा नियम है- यह नियम है हिंसा के संरक्षण का सिद्धान्त। यह ऊर्जा के संरक्षण के सिद्धान्त जितना ही सरल है। इसको नष्ट करने के लिए चाहे जितना कुछ किया जाये, यह हमेशा बना रहेगा। इसका न तो नाश होता है, न ही इसको घटाया जा सकता है। केवल इसका रूप बदला जा सकता है। आप इसको दासता में रूपान्तरित कर लीजिए या मंगोल आक्रमण में रूपान्तरित कर लीजिए। यह एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप पर प्रवास करता रहता है। कभी-कभी यह वर्ग-संघर्ष का रूप ले लेता है, कभी यह नस्ल-संघर्ष का रूप ले लेता है। कभी-कभी यह भौतिक क्षेत्र से धार्मिक क्षेत्र में पहुँच जाता है। ऐसा मध्ययुग में हुआ था। कभी यह कृष्णवर्णियों के विरुद्ध प्रयुक्त होने लगता है, कभी यह लेखकों और कलाकारों के विरुद्ध प्रयुक्त होने लगता है। लेकिन हिंसा का जितना भी उपयोग हो रहा हो धरती पर हमेशा इसकी मात्रा स्थिर रहती है। विचारक लोग हिंसा के अनवरत मायाजाल को विकास मानने लगते हैं और इसके नियमों की खोज में लगे रहते हैं। लेकिन इस अनवरत मायाजाल का कोई नियम नहीं है। इसका कोई विकास नहीं है, इसका कोई अर्थ नहीं है, इसका कोई लक्ष्य नहीं है। गोगोल जैसी प्रतिभा ने एक उड़ान भरती 'ट्रोइका' की कल्पना की थी और उन्हें इस 'ट्रोइका' के उड़ान में रूस का भविष्य दीखा था। लेकिन रूस का भविष्य गोगोल की 'ट्रोइका' के घोड़ों की उड़ान पर नहीं निर्भर था। रूस का भविष्य आकृतिविहीन सोवियत 'ट्रोइकाओं' पर निर्भर था- मनुष्य को गोली

मार देने का आदेश देने वाली खुफिया पुलिस की 'ट्रोइका', गाँवों में कृषकों की सूची बनाने वाली गाँव की 'ट्रोइका', विश्वविद्यालयों से युवाओं को निष्कासित कर देने वाली 'ट्रोइका', एक वृद्धा को अतीत में गुम हो गयी मान कर उसे राशन कार्ड देने से मना करने वाली 'ट्रोइका'।

'यहाँ यह आदमी अपने तख्ते पर बैठा हुआ गोगोल पर आरोप लगा रहा थाः ''निकोलाई वसीलियेविच, आपने गलत समझा! आप रूसी 'ट्रोइका' को नहीं समझ पाये। आपकी दृष्टि इसे साफ-साफ नहीं देख पायी। मानव इतिहास में उड़नशील 'ट्रोइका' नहीं, महाशून्य का खेल है। इसमें निरन्तर एक प्रकार की हिंसा दूसरे प्रकार की हिंसा में रूपान्तरित होती रहती है। 'ट्रोइका' उड़ती है लेकिन इसके चारों ओर गतिहीन ठहराव है। सर्वाधिक तो मनुष्य ही गतिहीन है, उसका भाग्य गतिहीन है। हिंसा को नष्ट करने के लिए जो भी किया जाए उसके बावजूद हिंसा में सातत्य है। 'ट्रोइका' उड़ान भरती रहती है लेकिन रूस के दुःख की इसे कोई चिन्ता नहीं है। और रूस के दुःख को ही 'ट्रोइका' की कोई परवाह नहीं है। रूस के दुःख को इस बात की क्यों चिन्ता हो कि 'ट्रोइका' उड़ रही है या ठहर गयी है।

'लेकिन यह गोगोल की 'ट्रोइका' नहीं है जो यहाँ इस इमारत में कहीं बैठी हुई मृत्यु दण्ड के वारण्ट पर हस्ताक्षर कर रही है। यह कार्य हमारी 'ट्रोइका' का है, एन.के.वी.डी. (खुफिया पुलिस) की 'ट्रोइका' का है।

'मैं इस तख्ते पर अधमरा पड़ा हुआ हूँ। केवल मेरी आस्था ही मेरे भीतर जीवित है। यह आस्था है- मेरा विश्वास कि मनुष्य का इतिहास स्वतन्त्रता का इतिहास है। यह हमेशा कम स्वतन्त्रता से अधिक स्वतन्त्रता की ओर बढ़ रहा है। जीवन के इतिहास के विषय में मेरी यह आस्था है। मनुष्य एक सूक्ष्म कीटाणु से एक पूर्ण जीवन की ओर विकसित हो रहा है। मेरी आस्था है कि इस जीवन का अर्थ है स्वतन्त्रता। यह आस्था मुझे शक्ति देती है। मेरी कैद के चीथड़ों के भीतर मेरा यह बहुमूल्य, दीप्त और अद्‌भुत विचार छिपा हुआ है जिसे मैं बार-बार पलटता रहता हूँ। जैसे मैं अपने हाथों से इस विचार- 'जो कुछ भी अमानवीय है वह अर्थहीन और निरुपयोगी है'- को टटोलता रहता हूँ।

'मैं अधमरा पड़ा हुआ हूँ लेकिन अलेक्सेयी समोयिलोविच सुनते रहते हैं और कहते हैं कि यह केवल दिलासा देने वाला झूठ है। जीवन का इतिहास हिंसा की विजय का इतिहास है। हिंसा सतत् वर्तमान है और यह नाशहीन है। इसका रूप बदल सकता है लेकिन कभी यह न तो विनष्ट होगी न क्षीण होगी। 'इतिहास' शब्द और इसकी अवधारणा भी कुछ लोगों ने कल्पित कर रखी है। इतिहास जैसी कोई वस्तु नहीं है। इतिहास वायु का घर्षण है। इतिहास पानी और पत्थर को घिस कर गारा बनाना है। मनुष्य न्यूनतर से उच्चतर की ओर नहीं विकसित होता। मनुष्य ग्रेनाइट की चट्टान की तरह गतिहीन है। उसकी सदाचारिता, उसकी बुद्धि और उसके स्वातन्त्र्य की मात्रा ये सब गतिहीन तत्त्व हैं। मनुष्यता में मानवीयता की कोई वृद्धि नहीं होती। जब मनुष्य की सदाचारिता ही एक स्थिर तत्त्व है तो मनुष्य का इतिहास क्या हो सकता है?

'क्या आप समझ सकते हैं। उस समय मुझे ऐसा लगा कि इससे बुरी बात कुछ हो नहीं सकती। मैं इस तख्ते पर लेटा हुआ हूँ। और मेरे ईश्वर, मुझे ऐसी पीड़ा हो रही है जो मेरे लिए असहनीय है। मैंने एक बुद्धिमान व्यक्ति से कुछ बात की और मुझे यह पीड़ा होने लगी। यह पीड़ा बिलकुल मृत्यु के समान है, जैसे मुझे फाँसी दी जा रही है। मैं अपनी साँसों की चाल को सुनना भी बरदाश्त नहीं कर पा रहा हूँ। इस समय मैं केवल यह चाहता हूँ कि मैं कुछ देखूँ नहीं, मैं कुछ सुनूँ नहीं, मेरी साँस चलनी बन्द हो जाए, मैं मर जाऊँ। लेकिन मुझे एक अप्रत्याशित दिशा से कुछ उम्मीद मिल गयी। मुझे फिर घसीट कर पूछताछ के लिए ले जाया गया। उन्होंने मुझे साँस लेने की भी फुरसत नहीं दी। मुझे अच्छा लगा, मुझे लगा जैसे राहत मिल गयी। मुझे फिर स्वतन्त्रता की अपरिहार्यता का ज्ञान हुआ।

सत्यानाश हो उस 'ट्रोइका' का जो उड़ते हैं, गरजते हैं और मृत्युदण्ड के वारण्टों पर हस्ताक्षर करते हैं। स्वतन्त्रता और रूस एक बने रहेंगे।

'आप मुझे सुन नहीं सकते। आप अस्पताल से हमारे पास कब वापस आयेंगे?

जाड़ों में एक दिन अन्ना सेरगेयेव्ना के साथ ईवान ग्रिगोरियेविच कब्रिस्तान में गये। उन्हें उनसे अपनी स्मृति में आयी सारी बातें, अपनी सोची हुई बातें, उनकी बीमारी के दौरान अपनी नोटबुक में लिखी गयी बातें, बताने का संयोग नहीं मिला था।

वे अपना सारा सामान उठा कर गाँव में चले गये। एक दिन एलिओशा के साथ बिताया फिर अपने कारखाने में काम करने जाने लगे।

(अनु.- कमलेश)

समाजवादी यथार्थवाद

समाजवादी यथार्थवाद की क्या परिभाषा है?- यह प्रश्न पूछे जाने पर कोई एक उत्तर मिलना कठिन है। लेकिन सोवियत संघ और 'सोवियत लेखक संघ' ने १९३० से ही इसका प्रचार शुरू किया। भारतवर्ष में प्रगतिशील लेखक संघ ने इसको साहित्य की एकमात्र मान्य शैली मान ली। द्वितीय महायुद्ध के बाद तो इसे सारे सोवियत देशों की सर्वमान्य साहित्यिक शैली मान लिया गया। समाजवादी यथार्थवाद रूसी साहित्य का अभिन्न अंग रहा है। ऐसा लगता है कि समाजवादी यथार्थवाद प्राचीन रूसी साहित्य में कहीं दबा पड़ा था, कम्युनिस्टों के सत्ता ग्रहण के बाद यह धीरे से अपने छिपने के स्थान से निकल कर समूचे साहित्य क्षेत्र में तेजी से घूमने फिरने लगा।

समाजवादी यथार्थवाद को लेकर मचाये जा रहे शोर के बावजूद सोवियत संघ की जनता को भी इसकी कोई समझ नहीं थी। इसका अभियान छेड़ते हुए स्तालिन ने १९३४ में कहा था- 'समाजवादी यथार्थवाद सोवियत साहित्य और कला की मूलभूत विधि है।... ...यह कलाकारों से यथार्थ के क्रान्तिकारी विकास का सत्य और ऐतिहासिक मूर्त चित्रण की अपेक्षा करता है।

लेनिन की तरह ही स्तालिन को भी सरल, सुस्पष्ट और आसानी से समझ आने वाले नारे पसन्द थे। स्तालिन के विश्वासपात्र ग्रोन्स्की ने बाद में बतलाया कि स्तालिन ने 'समाजवादी यथार्थवाद' का नारा इसलिए चुना था क्योंकि यह संक्षिप्त था (इसमें दो ही शब्द थे), यह सुस्पष्ट था और इसको परम्परा से जोड़ा जा सकता था। (स्तालिन इस नारे को दोस्तोयेव्स्की, तोलस्तोय और चेखोव द्वारा प्रवर्तित 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' से जोड़ कर देखते थे।)

''समाजवादी यथार्थवाद' को लेकर आज तक बहस चलती रहती है। यह साहित्य की विधि है। या केवल एक शैली है, या यह दोनों है। क्या कम्युनिस्ट विचारधारा को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य ही समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत आ सकता है। मायकोव्स्की की लेनिन पर लिखी हुई कविता क्या समाजवादी यथार्थवाद का उदाहरण है या इसमें अभिव्यंजनावाद प्रकट हुआ है। लेकिन सोवियत सिद्धान्त के अनुसार यह समाजवादी यथार्थवाद का उदाहरण है। सोवियत संघ में यही कसौटी पाब्लो नेरूदा और पाल एलुआर की कविताओं के लिए प्रयुक्त होती है। 'मास्को संक्षिप्त साहित्यिक विश्वकोष' के १९७२ के संस्करण में इन दोनों को ही नहीं, रोम्या रोलाँ और बर्तोल्त ब्रेख्त की रचनाओं को भी समाजवाद यथार्थवादी के अन्तर्गत रखा गया था। इसका मतलब यह होता है कि किसी भी तरह की रचना को समाजवादी यथार्थवाद माना जा सकता है। इसके लिए पार्टी की इच्छा ही पर्याप्त कसौटी है।

लेकिन यदि नेरूदा और ब्रेख्त अभिव्यंजनावादी नहीं हैं, एलुआर 'सुररियलिस्ट' नहीं हैं, बल्कि रोलाँ के साथ समाजवादी यथार्थवादी हैं तो फिर पास्तेरनाक के क्रान्तिकारी आख्यानों '१९०५', और 'लेफ्टिनेण्ट श्मिड्ट' को सोवियत संघ में समाजवादी यथार्थवाद का नमूना क्यों नहीं माना जाता था। लेकिन आज कल रूस में पास्तेरनाक और आन्द्रेई प्लाटोनोव को समाजवादी यथार्थवाद के अन्तर्गत नहीं गिना जाता। आज कल केवल घटिया उपन्यासकारों को समाजवादी यथार्थवाद से जोड़ा जाता है।

इसे यदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखें तो हमें १९३९ के वर्ष में जाना पड़ेगा जब स्तालिन पुरस्कार की स्थापना हुई थी। १६ मार्च १९४१ को प्रावदा में पहले स्तालिन पुरस्कार विजेताओं के विवरण छपे थे। स्तालिन सोवियत कला और साहित्य की उत्कृष्ट कृतियों को मान्यता देना चाहते थे। स्तालिन पुरस्कार की समिति का अध्यक्ष व्लादिमीर नेविरोविच दान्चेंको को बनाया गया था। इन्होंने स्तानिस्लाव्स्की के साथ मिल कर मास्को आर्ट थियेटर की स्थापना की थी। लेकिन पुरस्कार के लिए चुने गये लोगों के विषय में अन्तिम राय स्तालिन की होती थी। वह स्वयं सूची में नाम जोड़ सकते थे, कोई नाम काट सकते थे या पूरी की पूरी सूची निरस्त कर सकते थे। पहले दो प्रकार के पुरस्कार दिये जाते थे। प्रथम पुरस्कार एक लाख रूबल का था और दूसरा पुरस्कार ५० हजार रूबल का था। १९४८ में २५ हजार रूबल के पुरस्कार भी दिये जाने लगे। जब पहली बार पुरस्कार दिये गये थे तब 'काउन्सिल ऑफ पीपुल्स कमिस्सार्स' के १५ मार्च १९४१ के प्रस्ताव में कहा गया था कि ये पुरस्कार पिछले ६-७ वर्षों की कला और साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं के लिए दिये जा रहे हैं। प्रावदा में पुरस्कार विजेताओं के विवरणों के साथ साहित्यिक नीति भी निर्धारित की गयी है। 'सोवियत कला को जनता के समाजवाद की पूर्ण अन्तिम विजय के लिए किये जा रहे संघर्ष के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। सोवियत कला को समाजवाद को गौरवान्वित करने के इस संघर्ष का हथियार भी बनना चाहिए। कम्युनिज्म के लिए संघर्ष का युग कला में समाजवादी पुनर्जागरण का युग होना चाहिए क्योंकि केवल समाजवाद ही सभी राष्ट्रीय प्रतिभाओं के पूर्ण पल्लवन के लिए स्थितियाँ विरचित करता है।''

इस महा उपदेश की शैली और 'समाजवाद', 'संघर्ष' आदि शब्दों के बार-बार प्रयोग से यह स्पष्ट है कि यह लेख स्तालिन का लिखा हुआ था। स्तालिन प्रावदा के सबसे बड़े पाठक तो थे ही वे प्रावदा के अग्रणी लेखक भी थे। उनकी रचनाएँ प्रायः अनाम ही छपा करती थीं। स्तालिन के अलावा और किसी में भी यह साहस नहीं था कि इतालवी पुनर्जागरण का स्मरण कराने वाले शब्दों का प्रयोग करे। कोई और इस शब्द का इस्तेमाल करता तो उस पर यह आरोप लग सकता था कि कला को प्रोत्साहन देने के लिए अन्य तुलनाएँ (जैसे कला संरक्षक मेडिची परिवार से तुलना) भी की जा रही हैं। पहले स्तालिन पुरस्कार विजेताओं के फोटो भी प्रावदा के मुख्य पृष्ठ पर छपे हुए थे। क्रमानुसार ये थे- दिमित्री शोस्ताकोविच, अलेक्सान्द्र जेरासिमोव, वीरा मुखिना, वैलेरिया बरसोवा, सेर्गेई आईसेन्स्टाइन और मिखाइल शोलोखोव। इनमें चार पुरुष थे और दो स्त्रियाँ। इनमें से अनेक को सारी दुनिया महान प्रतिभाओं के रूप में जानती है। स्तालिन के लिए ये लोग रूस में हो रहे सांस्कृति पुनर्जागरण के प्रतिनिधि थे।

आज इनमें से किसी को भी समाजवादी यथार्थवाद का प्रतिनिधि नहीं कहा जायेगा। लेकिन उस समय वे इसी के प्रतिनिधि थे। भारतीय प्रगतिशील आन्दोलन और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा आज भी चलाये जा रहे यथार्थवाद से रूसी यथार्थवाद की तुलना करिये। भारतीय यथार्थवाद अत्यन्त दीनहीन कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रचारक लगेगा। आज भी वह प्रावदा के सम्पादकीय को ही अपना आदर्श मानते हुए साहित्य के पटल को गँदला करने में लगा हुआ है।

अम्बादास और ऑस्लो की मेरी दो यात्राएँ

प्रयाग शुक्ल

(सत्तर के दशक में अप्रतिम चित्रकार अम्बादास ऑस्लो गये थे। वहाँ वह जीवन के अंतिम दिनों तक कोई चालीस बरस रहे- अपनी नार्वेजियाई पत्नी हेगे बैके के साथ। पर, वहाँ रहते हुए वे प्रायः हर बरस भारत आते रहे। अकोला (महाराष्ट्र) में अपने परिजनों से मिलने के लिए जाते, दिल्ली और मुम्बई में कुछ दिन रहते, लेखक-चित्रकार मित्रों से मिलते, जिनमें स्वामीनाथन और उनकी पत्नी भवानी जी समेत, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश, हिम्मत शाह, राजेश मेहरा, अशोक सेकसरिया, प्रभाकर कोल्ते, अशोक वाजपेयी, अमिताभ दास, मोना राय, सुधाकर यादव आदि शामिल रहे हैं। स्वामी (स्वामीनाथन) जब भारत भवन के रूपंकर संग्रहालय के निदेशक बने और भोपाल में रहने लगे तो अम्बादास का भोपाल आना भी होने लगा, जिसका सिलसिला स्वामी के न रहने के बाद भी बना रहा। अम्बादास का दिल्ली आना हम लोगों के लिए एक 'उत्सव' सरीखा होता था। मैं भी उन सौभाग्यशालियों में रहा हूँ, जिनको, अम्बादास का संग-साथ और स्नेह मिला। वह हर यात्रा में हमारे घर ज़रूर आते रहे। मेरे परिवार से उनकी यह आत्मीयता, हमारी एक निधि सरीखी है। स्वामी के देहान्त के बाद और उनके रहते हुए भी अम्बादास प्रायः स्वामी के छोटे बेटे, चित्रकार हर्षवर्धन के साथ ठहरते, प्यार से उसे 'हर्षा' बुलाते और पुत्रवत मानते। अम्बादास के घनिष्ट मित्रों के साथ मेरा भी परिचय और मैत्री होने के कारण अम्बादास के जीवन और कामकाज की बहुतेरी नयी-पुरानी गतिविधियों से भी हम जुड़े रहे और उनकी कला से तो मेरा प्रेम और लगाव कभी कम नहीं हुआ। उनकी कला पर 'दिनमान' में और अन्यत्र भी मैं लिखता रहा। उनसे भेंटवार्ताएँ भी कीं और उनकी बहुतेरी प्रदर्शनियों की समीक्षाएँ

भी। भारत में उनकी प्रदर्शनियाँ आयोजित होती रहीं, सो उनका काम भी हमेशा देखने को मिलता रहा। भारत भवन के निमन्त्रण पर एक बार वह कोई तीन महीने भोपाल में रहे। उन दिनों भी भोपाल जाने पर मेरी उनसे लम्बी बातचीत होती रही। वह 'ग्रुप १८६०' के संस्थापक सदस्यों में थे - स्वामीनाथन, जेराम पटेल, हिम्मत शाह, ज्योति भट्ट, राघव कनेरिया आदि के साथ। इस समूह का समकालीन भारतीय कला में योगदान सुपरिचित है, सो, अम्बादास के साथ मानों एक पूरा युग जुड़ा हुआ था। स्वामीनाथन द्वारा प्रकाशित-सम्पादित पत्रिका 'कांट्रा' का भी यहाँ स्मरण कर लेना ज़रूरी है। 'ग्रुप १८६०' के बिखरने और 'कांट्रा' के बन्द हो जाने के बाद भी 'ग्रुप' की मूल प्रतिज्ञाएँ -संकल्पनाएँ स्वामी के साथ यात्रा करती रहीं और उनके सहयात्री अम्बादास तो ऑस्लो में बस जाने के बावजूद उन मूल संकल्पनाओं को मानो और ज़ोर-शोर से पकड़े रहे। ग्रुप की मूल संकल्पना यही थी कि कला सिर्फ़ सिद्धान्तों और प्रचलित प्रवृत्तियों और फ़ैशनों से नहीं उपजती, उसके लिए तो मानो उसके मूल उद्गम तक जाना ज़रूरी होता है। 'ग्रुप १८६०' के कलाकार न तो किसी 'आरोपित' भारतीयता के आग्रही थे, न ही किसी वैश्विक-प्रवृत्तियों वाली कला के। वे तो मानो एक 'आत्मा' अभिव्यक्ति की ही खोज में थे, ऐसी अभिव्यक्ति के, जिसके घेरे में बहुत कुछ आता और समा जाता हो। वे सीमाएँ बाँधकर चलने वाले कलाकारों में नहीं थे, और यूरोपीय-अमेरिकी शैलियों का जैसा 'अनुकरण' वे चारों ओर देख रहे थे, उसको तो सिरे से खारिज कर रहे थे, क्योंकि ऐसे अनुकरण में 'आत्म' और अपनी दृष्टि, अपने अनुभवों और प्रतीतियों का बहकर बिला जाना, या 'डाइल्यूट' हो जाना नितान्त स्वाभाविक ही तो था। अम्बादास इस मोर्चे पर अन्त तक डटे रहे और उन्होंने ऐसी कला-सर्जना की, अमूर्तन में, जिसकी ओर पीढ़ियों का ध्यान जाता रहेगा।

संयोगवश पिछले चार वर्षों में मैंने ऑस्लो की दो यात्राएँ की, पहली यात्रा में, जो २००६ में हुई मेरी छोटी बेटी वर्षिता मेरे साथ थी। हम ऑस्लो में तब तीन दिन रहे और अम्बादास जी और हेगे के साथ ही हमारा समय बीतता रहा। दूसरी यात्रा इसी वर्ष २०१३ में, जून के पहले सप्ताह में हुई। इस बार मेरी पत्नी ज्योति मेरे साथ थीं। इस बार का ऑस्लो, शारीरिक रूप से अम्बादास विहीन था पर अम्बादास की उपस्थिति हमें कई रूपों में हर समय महसूस होती रही। हम इस बार भी तीन दिन वहाँ रहे : ठहरे हेगे के साथ, उसी अपार्टमेण्ट में, जहाँ अम्बादास हेगे के साथ रहते थे। एक दिन हम उनकी गोद ली हुई बेटी कंचन के घर भी गये और उसके दोनों बेटों से मिले जो क्रमशः सात और चार वर्ष के हैं। हम उस स्मृति-स्थल में भी गये जहाँ अम्बादास माटी के नीचे सो रहे हैं।

अम्बादास से अपने संग-साथ और उनकी कला को याद करता हुआ यह वृत्तान्त/संस्मरण लेख/आकलन, इन्हीं दो यात्राओं के प्रसंग से लिखा गया है। मुझे लगा कि इन यात्राओं के प्रसंग से मैं, पलटकर उन बहुत सारी स्मृतियों के क़रीब हो सकता हूँ, जिनके कुल विवरण भले ही भूल जायें पर जो एक 'बोध' की तरह भीतर मौजूद रहती हैं। सो, यह आलेख अम्बादास नाम के व्यक्ति और कलाकार के 'बोध' को अपने लिए और सुधी पाठकों के लिए कुछ और बोधगम्य बनाने जैसा है। - लेखक)

पहली यात्रा

अम्बादास (जी) से मेरी भेंट दिल्ली में पहली बार कब हुई थी, यह तो अब याद नहीं है ; पर, वह ज़रूर ही या तो

दिल्ली के कॉफी हाऊस की गहमागहमी के बीच हुई थी या फिर रास्ता चलते अचानक सामना होने पर, किसी परिचित/मित्र ने हमारा परिचय करा दिया था। जो भी हो, वर्ष १९६५-६६ का रहा होगा और फिर तो भेंट का जो सिलसिला शुरू हुआ था, वह आजीवन कई ठिकानों में, कई अन्तरालों के बावजूद चलता ही रहा था। हाँ, उनसे हुई आख़िरी भेंट ज़रूर बहुत अच्छी तरह याद है। मैं वहीं से उनके काम-काज और उनके साथ अपने सम्बन्धों को पलट कर देखना चाहता हूँ। २००९ में मैं त्रांदाइम गया था, जो नार्वे का एक विश्वविद्यालयी शहर है, न बहुत छोटा, न बड़ा। वहाँ के 'एन टी एन यू' विश्वविद्यालय में हाइड्रॉलिक और एनवॉयरमेंटल इंजीनियरिंग विभाग में मेरे जामाता वेंकटेश गोविन्दराजन रिसर्चर हैं और मेरी छोटी बेटी वर्षिता भी अब वहीं विवाह के बाद-विश्वविद्यालय के प्रबन्धन/प्रशासनिक विभाग में काम करती है। नार्वे तब मैं पहली बार गया था और जब 'विवाह के बाद वर्षिता भी वहीं रहने लगेगी' की बात सोचता था तो अम्बादास जी की और उनकी नार्वेजियाई पत्नी हेगे का भी ध्यान सहज ही हो आता था। वे लोग भी यह जानकर प्रसन्न हुए थे कि वर्षिता नार्वे जा रही है। उन दोनों ने उसे बचपन से देखा था। नार्वे से जब वे लोग बरस-दो बरस पर दिल्ली आते थे तो हमारे घर भी ज़रूर आते थे। सो, वर्षिता ने भी त्रांदाइम पहुँचते ही हेगे से और अम्बादास जी से सम्पर्क साध लिया था : फोन और ईमेल से। २००९ के लंदन बुकफ़ेअर में भाग लेने के बाद मैंने वर्षिता और वेंकटेश से मिलने की सोची थी और यह भी सोचा था कि त्रांदाइम से ऑस्लो भी जाऊँगा - अम्बादास और हेगे से मिलने के लिए। वर्षिता ने कहा कि वह भी साथ चलेगी और पूछा कि मैं त्रांदाइम से ऑस्लो ट्रेन से जाना चाहूँगा या फ़्लाइट से। मैंने कहा, ट्रेन से। उसने ट्रेन से ही आरक्षण कराया और ऑस्लो में हम एक होटल में ठहरे थे। उन्हीं दिनों अम्बादास जी और हेगे की गोद ली हुई बेटी कंचन ने दूसरे बेटे को जन्म दिया था और हेगे ने कुछ क्षमा भाव के साथ कहा था कि वे तब व्यस्त रहने के कारण हमारी देख-रेख ठीक से न कर सकेंगी। हमने यही कहा था कि इसमें कोई समस्या नहीं है। वर्षिता ने जिस होटल में ठहरने की अग्रिम बुकिंग करा ली थी, वह अम्बादास - हेगे के घर के बहुत पास ही निकला। और जब हम ऑस्लो स्टेशन से होटल पहुँचकर वहाँ अपना सामान रखकर कुछ खाने-पीने की खोज में बाहर निकले तो पाया कि जिस रास्ते को पार करने के इंतज़ार में हम खड़े हैं उसी रास्ते के पार हेगे खड़ी हैं। दोनों रास्ता पार करते हुए, अधबीच में मिले और इस संयोग पर कुछ चकित-विस्मित हुए कि बिना तय किये हुए, ऑस्लो पहुँचते ही हमारी भेंट इस तरह सम्भव हो गयी है। हेगे ने बताया कि उनका अपार्टमेंट कुछ ही दूर है और वे हमारे लिए ही केक लाने इधर आयी थीं। शाम को हम उनके यहाँ निमंत्रित थे। कोई घंटा भर बाद हमें ले जाने के लिए हेगे ठीक समय पर होटल पहुँची थीं - अपनी कार लेकर।

त्रांदाइम से ऑस्लो के रास्ते में वर्षिता ने भी उन दिनों की याद की थी जब दिल्ली में अम्बादास - हेगे हमारे घर आते थे और उनकी प्रायः हर यात्रा में स्वामी (स्वामीनाथन) और भवानी जी के घर पर भी हमारी भेंट होती ही थी, जहाँ वह ठहरा करते थे। यह भी एक संयोग ही था कि अम्बादास - हेगे हमारी ऑस्लो यात्रा के कुछ महीने पहले ही भारत आये थे और दिल्ली के अलावा हमारी भेंट उनसे भोपाल में भी हो गयी थी - जहाँ वह कुछ दिनों के लिए गये थे। सो, अम्बादास और हेगे से जुड़ी अपनी यादों का साझा वर्षिता मुझसे करती रही और मैं भी अम्बादास जी के संस्मरण रह-रहकर उसे सुनाता रहा।

इन संस्मरणों के अलावा अम्बादास जी उस ट्रेन यात्रा में मेरे 'साथ' और भी कई तरह से थे। त्रांदाइम से ऑस्लो तक

का ट्रेन सफ़र सुन्दर दृश्यावली से भरा हुआ है : खिड़की से जब भी बाहर झांकिये, आपको पहाड़ - पहाड़ियाँ, जलप्रपात, नदियाँ, झीलें और भाँति-भाँति के आरण्यक दृश्य देखने को मिलते हैं। नार्वे का आसमान बिल्कुल नीला और स्वच्छ रहता है। हरियाली की तो पूछिये ही मत। एक निष्कलुष, निर्मल दृश्य के बीच में ही हर समय आप रहते हैं। उन दिनों अप्रैल के महीने में जमी हुई वह बर्फ़ भी जगह-जगह नज़र आती थी जो बर्फीली ऋतु के समाप्त हो जाने के बावजूद अभी पूरी तरह पिघली नहीं थी।

मैं रह-रहकर खिड़की के बाहर देखता और अम्बादास जी से जुड़ी पुरानी स्मृतियों के साथ ही, उनकी चित्रकृतियाँ भी 'उभर' आती। हम सब जानते हैं कि यह एक विरल अनुभव होता है: आप किसी सफ़र में हों और तैरती हुई कोई चित्रकृति (याँ) या फ़िल्म-दृश्य 'उभर' आये तो जो दृश्य आप देख रहे होते हैं वह दृश्य दुहरा हो जाता है। सो, मैं उस यात्रा में 'दुहरे दृश्य' के बीच ही था। अम्बादास जी की कला को मैं एक अप्रतिम सौन्दर्य की रचना के रूप में भी देखता हूँ - सो नार्वे की सौन्दर्यमयी दृश्यावली की तरह ही उनकी कला निर्मल और निष्कलुष है। ज़ाहिर है कि जिस दृश्यावली की मैंने चर्चा की है, वह अम्बादास की कृतियों से बहुत भिन्न है - अपने रंग-रूप में, पर उस दृश्यावली के बीच उनकी कृतियों के स्मरण की अपनी अर्थवत्ता थी। अम्बादास जी के 'सुधक्कड़ी' स्वभाव की तरह ही उनकी कला भी मुझे बराबर 'साधु रंगों' की तरह ही लगती है। उनकी कृतियों में एक उजास है और उनकी कृतियों की लहरीली, सर्पिल गतियाँ और उनका किसी ओर अचानक मुड़ना और उठना आपके (दर्शक के) भीतर भी कुछ अनोखी - सी गतियों को जन्म देता है। जिस तरह हम पहाड़ी पगडंडियों को कभी ऊपर जाते, कभी नीचे उतरते, कभी किसी जगह अचानक मुड़ जाते देखते हैं - उसी तरह के तो हैं उनके ब्रशस्ट्रोक्स। फ़र्क इतना ही है कि पहाड़ी पगडंडियाँ तो अपने वास्तविक रूप में (पहले से) मौजूद रहती हैं; उनकी निर्मित्त के स्रोतों और चिन्हों को भी हम जान ले सकते हैं पर अम्बादास जी के ब्रशस्ट्रोक्स तो इतने स्वतः स्फूर्त लगते हैं और होते हैं कि हम यही अनुभव करते हैं कि उनकी निर्मितियाँ, तो बस एक अप्रत्याशित 'घटना' से कम नहीं हैं। अम्बादास जी, फ़र्श पर कैनवास बिछाकर, उसके इर्द-गिर्द घूमकर भी, रंग-पट्टिका (प्लेट) से रंग उठाकर, कैनवास को एक लम्बे ब्रश के सहारे ब्रशाघातों से पूर देने वाले चित्रकार रहे हैं : एक खोजी और अनुसन्धानकर्ता, जो खाली कैनवास में मानो उन स्थलों को ढूँढ रहा हो, जो कहीं स्मृति में हैं किसी 'बोध' की तरह मौजूद हैं, अंतःकरण में और जिस 'बोध' को प्रत्यक्ष करना और उकेरना ही उनका उद्देश्य है। वह सचमुच 'बोध' को ही उकेरते हैं और इसीलिए वहाँ कोई 'छवियाँ' और वस्तुएँ नहीं हैं - बस रंग, रेखाएँ और ब्रशाघात हैं - उस 'बोध' का पता देते और इस बोध का स्वभाव क्या है : उसमें शान्ति के तत्त्व हैं, सौन्दर्य के और उन अनोखी प्रतीतियों के तत्त्व, जो प्रकृति और इन्दियाँ हमें सौंपती हैं। मुझे उनके चित्र देखकर बहुधा कई 'उपमाएँ' सूझी हैं : जिनमें से एक तो यही है कि उनके ब्रशाघात कुछ वैसे हैं जैसे एक किसान के हल के होते हैं, जब वह अपने खेत पर उसे चलाता है - धरती 'फटती' जाती है और माटी में आकार उभरते हैं, जो पहले 'मौजूद' नहीं थे।

अम्बादास सौन्दर्य की फसल के लिए ही लालायित हैं। इस यात्रा में मैंने और वर्षिता ने अम्बादास जी के बातचीत करने के अंदाज़ को भी याद किया। वह अक्सर किसी बातचीत में, बहस में, कुछ व्यग्रता के साथ हिस्सा लेते थे और मानो अपनी बात को आप तक पहुँचाने के लिए अपने मन और शरीर को भी शब्दों में 'रूपांतरित' कर देना चाहते थे।

वर्षों पहले की बात है। दिल्ली में, एक विचार-गोष्ठी हुई थी, लेखकों-कलाकारों की सम्भवतः विट्ठलभाई पटेल हाऊस में। किस प्रसंग में हुई थी यह अब याद नहीं है। पर इतना अच्छी तरह याद है कि इस गोष्ठी में 'अज्ञेय' भी थे और अम्बादास जी के बोलने के बाद उन्होंने कहा था : 'मैंने (अज्ञेय ने) अम्बादास जी की बातें सुनी भी और देखी भी।'

अम्बादास जी की हँसी की भी याद हमने की, वह एक प्रसन्न हँसी हुआ करती है - उस यात्रा में वह हमारे साथ शामिल हो गयी - वह प्रसन्न हँसी और हम उसकी याद करके सचमुच कई बार प्रसन्न होते रहे।

अम्बादास जी और हेगे के अपार्टमेंट में हम पहुँचे तो कोई आठ बजे थे - पर रात नहीं थी। दिन का ही उजाला था। महीना नवंबर का था, पर अंधेरा-सा उतरने में कुछ देर थी। वह हमारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। हेगे हमें बता चुकी थीं कि अम्बादास अब काफ़ी चीज़ें भूलने लगे हैं : वह कपड़ों की अल्मारी में खाने-पीने की चीज़ें रख देते हैं और खाने-पीने की चीज़ों की अल्मारी में कपड़े आदि। हमें आशंका थी कि हमें देखकर वह पता नहीं कैसी और क्या प्रतिक्रिया करें। पर मेरी ख़ुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा जब हम दोनों को लेकर किसी विस्मृति का कोई संकेत उन्होंने नहीं दिया। प्रेम से हमारा स्वागत किया और चाय के साथ सामने रखी गयीं खाने-पीने की चीज़ों के बारे में भी हमें ज़रूरी जानकारी देते रहे और आग्रह करते रहे कि अमुक चीज़ का स्वाद हम अवश्य लें। मैंने नोट किया कि मेज़ पर कई तरह की चीज़ के साथ, जैम और ब्रेड-स्प्रेड की कई क़िस्में हैं। फल तो थे ही। हेगे बताती रहीं कि इनमें से अम्बादास को कौन सी चीज़ विशेष रूप से पसन्द है। अपार्टमेंट के ड्राइंगरूम में हम बैठे थे। दीवारों पर अम्बादास (जी) की चित्रकृतियों के साथ ही कुछ नार्वेजियाई कलाकारों के काम थे, और यूरोप के प्रमुख कलाकारों के प्रिंट आदि भी। इस अपार्टमेंट में शिफ़्ट हुए उन्हें लम्बा समय नहीं हुआ था और हेगे यह भी बताती रही कि इस अपार्टमेंट में आये हुए हमें ज़्यादा अरसा नहीं हुआ। पहले हम जिस जगह थे वह काफ़ी बड़ी थी। अम्बादास का मन वहाँ काम करने में लगता था। वहाँ हमने संगीत-नृत्य के बहुतेरे आयोजन भी किये। भारत से आने वाले संगीतकार-नृत्यकार बहुधा हमारे मेहमान होते थे। इस नयी जगह अम्बादास का मन नहीं लग रहा है और वह अपने स्टूडियो वाले कमरे में जाते हैं, झाँकते हैं। लौट आते हैं। अम्बादास यह सब सुनते हुए मुस्कराते रहे। वह बीच-बीच में दिल्ली के कला-जगत से, या मित्रों से जुड़ा, कोई सवाल पूछ बैठते, पुराने दिनों का। पर उसे देख मानो वर्तमान में रहे होते। जैसे कोई 'भूल जाये' कि अमुक का बेटा अब बच्चा नहीं रहा, वह तो जवान हो चुका है पर उसके बारे में जब बात करें तो इस तरह मानो वह बच्चा है, जानना चाहें कि उसकी स्कूली पढ़ाई और उसके खेलने-कूदने की गतिविधियाँ कैसी हैं। बहरहाल ऐसा दो-चार मौकों पर हुआ, अन्यथा हमारी बातचीत सामान्य तरीके से होती रही। वह हमारे पहुँचने से प्रसन्न थे और यह प्रसन्नता किसी न किसी प्रसंग में उभर आती थी।

अम्बादास की उपस्थिति, एक सच्चे, खरे, अपनी दुनिया में खोये व्यक्ति की थी। पर, 'अपनी दुनिया में खोये रहने' का अर्थ यह नहीं था कि निकट बैठे हुए व्यक्ति (यों) के 'साथ' (भी) वह न हों। एक स्थायी-स्मिति उनके चेहरे में रहती थी। उस वक़्त वह करीब ८५ वर्ष के थे, पर उनके उत्साह में भी कमी न थी। मुझे याद है, जब हेगे ने अगले दिन का कार्यक्रम बनाते हुए, मुझसे और वर्षिता से कहा कि वह हमें अमुक-अमुक संग्रहालयों में ले चलेंगी और

क़रीब ग्यारह बजे हमें लेने हमारे होटल में आ जाएँगी, तो यह सब सुनते हुए, अम्बादास जी ने बड़ी मासूमियत से पूछा, 'मैं भी चलूँगा न !' हेगे की मुस्कराहट फूट पड़ी और वह बोलीं, 'हाँ, हाँ आप भी ज़रूर चलेंगे।' मुझे यह बात अच्छी लगी कि अम्बादास हमारे साथ रहेंगे और चलने के लिए स्वयं उत्सुक हैं। उस शाम की एक बात और याद रह गयी है। बातचीत के बीच यह जानकार कि वर्षिता नार्वेजियन सीख रही है और वह उसे अच्छी तरह बोल भी लेती है, हेगे ने कहा, 'मुझे इस बात का अफ़सोस है कि यहाँ रहते हुए अम्बादास ने थोड़ी भी नार्वेजियन नहीं सीखी।' अम्बादास यह सुनकर धीरे-से बोले, 'मैं तो भाषा को ही हटाने की चेष्टा करता रहा हूँ।' एकदम से तो मैं उनका आशय नहीं समझ पाया, पर अगले क्षण चौंककर पहचाना कि एक चित्रकार के नाते वह गहरी बात कर रहे हैं, जिसके लिए शब्द-भाषा के 'शब्द' से अधिक चित्र-भाषा के 'शब्द' का महत्त्व है और वह उस 'शब्द' की ही साधना करना चाहते हैं।

और क्या है चित्र-भाषा का शब्द ?

वह रंग-रेखाओं से आकार लेता है। शब्द-भाषा की तरह, उसके पास भी पहले से प्राप्त 'शब्दों' (आकारों, रंगों, रेखाओं से निर्मित चित्रों) का एक बड़ा भंडार है, जिसे चित्रकार चाहे तो एक स्रोत की तरह इस्तेमाल कर सकता है - करता भी है। पर अपनी अभिव्यक्ति के लिए-आत्म अभिव्यक्ति के लिए - उसे अपना शब्द (अपने शब्द) गढ़ने पड़ सकते हैं और इस अर्थ में उसकी चुनौती किसी कवि-लेखक से अधिक बड़ी होती है। शब्द-भाषा के शब्द का एक सामान्य अर्थ होता है, जो उस भाषा को जानने वाले के लिए बोधगम्य होता है, पर चित्र-भाषा का 'शब्द' एक सामान्य अर्थ नहीं रखता, ख़ासतौर पर अगर वह किसी अमूर्त चित्रकृति में व्यवहृत हो रहा है।

मसलन, अम्बादास की चित्र-विधि का, उसके रंग-रूप का, आकार-प्रकार का, भला क्या सामान्य अर्थ हो सकता है ? वह तो नहीं हो सकता है। पर, हम जानते हैं कि उसका कोई सामान्य अर्थ भले न हो, पर वह अर्थहीन नहीं है।

अर्थहीन नहीं है तो इसीलिए कि उसे देखकर कई मनोभाव जागते हैं। कई स्मृतियाँ एक नया जन्म लेती हैं। एक सौन्दर्य का बोध हमें होता है।

(पीपल-बरगद के तनों पर बाँधे गये लाल-पीले धागों का कोई अर्थ होता है ?वे मनौतियों के द्योतक हैं। पर उससे भी पहले एक सौन्दर्य का बोध कराते हैं। हमारे तमाम अनुष्ठानों में, लोकजीवन में, वनस्पतियों में फल-फूलों में, जो रंग-रूप हैं, क्या वे भी अपनी राह अम्बादास जी जैसे चित्रकार के काम में नहीं बना लेते, रूपान्तरित होकर वहाँ बस नहीं जाते हैं। कई बार ऐसी बातें मुझे ध्यान में आती हैं और इसकी याद तो आती ही है कि अम्बादास जी ने एक भेंटवार्ता में मुझसे बचपन के उन दिनों का साझा किया था, जब आम-जामुन के बागों में वह समय बिताते थे और फलों और पत्तों के रंग-रूप उनका मन मोह लेते थे। वे उन्हें कुछ 'रहस्यात्मक' से भी लगते थे। याद कीजिए उन पत्तों की, जो चित्तीदार होते हैं, जिनमें काले-सफेद छींटे से उभर आते हैं या अपने स्वभाव में ही, प्रकृतिगत रंग-रूप में ही, वे चित्तीदार होते हैं। क्या ऐसी तमाम चीज़ें अम्बादास के यहाँ एक स्रोत के रूप में हैं? शायद, हाँ। पर वे स्मृति का एक हिस्सा बनकर ही वहाँ रूपान्तरित होती हैं, अन्यथा उनके चित्रों के आशय किसी 'चित्रण मात्र' के मोहताज

नहीं हैं। उनकी रंग-रंगतों का अपना एक निजी स्फुरण और स्पन्दन है। वे अपने आप में 'वास्तविक' बिम्बावलियाँ हैं।)

बहरहाल, अगले दिन हम 'वाइकिंग' संग्रहालय में गये। वाइकिंग काल की कई वस्तुएँ देखीं या उनकी प्रतिकृतियाँ। काठ की वे बड़ी नावें देखीं, जिनमें गज़ब के 'उत्कीर्णन' थे। वाइकिंग थे तो समुद्री लुटेरे ही, पर उनकी नावों में विशेष रूप से सम्मोहित करने की शक्ति है - अपनी बनावट में।

फिर हम ऑस्लो के एक आधुनिक कला संग्रहालय में गये, जो शहर के बाहरी हिस्से में है, एक झील के किनारे। कई आधुनिक यूरोपीय, अमेरिकी चित्रकारों के काम देखे। एक कक्ष में, किसी प्रसंग से, चार्ली चैप्लिन की फ़िल्म 'मॉडर्न टाइम्स' दिखायी जा रही थी। हम उस स्क्रीन के सामने रुके। अम्बादास जी का उन्मुक्त हास्य वहाँ प्रस्फुटित हुआ। हम खूब घूमे-फिरे। बहुतेरी बातें की।

अम्बादास सब कुछ के बीच होते हुए भी, सब कुछ से सम्पृक्त होते हुए भी, एकान्तवासी लगते थे। 'बच्चन' की पंक्तियाँ हैं न, 'तन के सौ सुख सौ सुविधा में, मेरा मन बनवास दिया-सा'।

(सम्भवतः स्वामी से ही कभी यह मालूम हुआ था कि एक समय अम्बादास कुछ समय किसी साधु की तरह ही वनों - पर्वतों में भटके थे और बर्मा (म्यांमार) के जंगलों तक चले गये थे।)

ऑस्लो के उन्हीं दो - तीन दिनों में हम एक दिन 'आफ़िस ऑफ़ कंटेम्परेरी आर्ट' नाम की गैलरी में गये थे। हेगे ने ही बताया था कि वहाँ नसरीन मोहम्मदी के कामों की एक प्रदर्शनी लगी हुई है। अम्बादास भी साथ थे। नसरीन के इतने सारे रेखांकन, इतने सारे काम देखकर बहुत अच्छा लगा था। प्रदर्शनी में नसरीन को लेकर जेराम पटेल की एक वीडियो-वार्ता भी दिखायी जा रही थी। जेराम भाई की आवाज़ सुनकर, उनका चेहरा देखकर, हम एकदम से ठिठक गये। अम्बादास जी ने जेराम भाई को वीडियो स्क्रीन पर देखते हुए कहा, 'अरे, जेराम हमें पहचाना नहीं।' फिर अपने ही मनोविनोद पर मुस्कराये। मैंने भी उनका साथ दिया। उसी यात्रा में मैंने उनसे 'ग्रुप १८६०' को लेकर कई बातें की थीं। अम्बादास जी को भी कहीं गहरे में यह बात चुभती थी कि 'प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप' के बाद भारत में जो 'आर्ट इस्टैब्लिशमेंट' बना, उसने उसी ग्रुप को 'आधुनिकता का एक स्थायी' सन्दर्भ मान लिया। इसके कारण 'ग्रुप १८६०' के कलाकारों की न केवल कुछ अनदेखी हुई, बल्कि उनकी मूल संकल्पनाओं और रचनात्मक प्रयत्नों को दरकिनार-सा कर दिया गया। यह अलग बात है कि स्वामीनाथन, अम्बादास, जेराम पटेल और हिम्मत शाह जैसे कलाकारों के काम को ओझल नहीं किया जा सका। अम्बादास जी ने उस यात्रा में मुझसे यह बात भी कही थी 'कुछ भी हो, भले ही 'ग्रुप १८६०' एक ही बड़ी प्रदर्शनी (१९६३, जवाहर लाल नेहरू द्वारा उद्घाटित और ऑक्तोवियो पॉज़ की लेखनी से समर्थित) के बाद बिखर गया पर उसकी मूल संकल्पनाएँ कुछ कलाकारों में हमेशा जीवित रहीं।

इनमें से स्वयं स्वामी द्वारा 'प्रस्तावित' एक मूल संकल्पना तो यही थी कि कला का वास किसी यथार्थ के 'यथार्थ चित्रण' में नहीं होता, उसका जन्म तो स्वयं इमेज के 'यथार्थ' बन जाने पर होता है।

अम्बादास भी इसी पर विश्वास करते थे : चाक्षुष-स्तर पर एक चित्रकृति में हम जो कुछ देखें, वह अपने आप में हमें एक प्रकार का यथार्थ लगे। उसकी अपनी दुनिया का यथार्थ।

मैं उनकी दो छोटी कृतियों को तो अक्सर देखता हूँ, जो मुझे उन्होंने सस्नेह भेंट में दी थीं : एक १९८० के आसपास और दूसरी २००१ में। इस चित्रकृति के पीछे की ओर उनके हस्तलेख में एक छोटी-सी चिट्ठी भी है : यह कृति डाक से आयी थी। Dear Prayag ji and dear family, we think of you all dearly and heartily. Our best wishes and cordial greetings to you for the Christmas and the new year – 2002, Love and warm regards, - Hege, Ambadas - Kanchan.

(प्रिय प्रयाग जी एवं प्रिय परिवार, हम आपको याद करते हैं, प्रेम से, हृदय से। क्रिसमस और नये वर्ष २००२ के लिए हमारी शुभकामनाएँ और हार्दिक बधाईयाँ प्रेषित हैं - हेगे-अम्बादास- कंचन)

तो जब भी उनकी चित्रकृतियों को देखता हूँ उनके यथार्थ से चमत्कृत होता हूँ। वे निरा अंकन नहीं हैं। उनमें तो कोई मनन-चिंतन, एक व्यग्रता, एक गति, मनोभावों का प्रस्फुटन और उनका संकलन वहाँ है। चाक्षुष रूप से उनकी उपमा हम कभी ज्वार-मकई की बालियों से भी दे सकते हैं, कभी उन सर्पिल जीवों (उनकी गतियों) से जो हम माटी और बालू में देखते हैं, कभी हम उनमें 'दूध के फटने' जैसी कोई 'ध्वनि' सुन सकते हैं, उबल कर कई लकीरों में उसके बहने जैसी कोई गति भी देख सकते हैं, कभी उनके रंग और रंग-बुँदकियाँ, तेल की उन बूँदों की याद दिला सकती हैं जिन्हें हम कई रूप-रंगों में पानी में तैरता हुआ देखते हैं, जब कहीं से पानी में तेल मिश्रण हो जाए। हम सब जानते हैं कि 'अमूर्तन' में दर्शकों की ओर से ऐसे तमाम अनुमान-अनुभव-कल्पनाएँ जाने-अनजाने, अनायास ही शामिल हो जाते हैं। अच्छे-अच्छे कला-पारखियों के मन में भी, क्योंकि चित्र है ही ऐसी चीज़ जिसे देखकर मन चंचल और गतिशील हो उठता है - आँखों की गतिशीलता के साथ। यह अलग बात है कि इन अनुमानों-अनुभवों-कल्पनाओं से गुज़रकर, किसी हद तक उन्हें भुलाकर हम चित्र के किसी मूल बोध तक पहुँचते हैं और वह हमें प्रिय हो उठता है।

ऑस्लो की हमारी दूसरी यात्रा, इसी वर्ष जून २०१३ के तीसरे सप्ताह में हुई।

ऑस्लो स्टेशन के जिस प्लेटफ़ार्म में हम उतरे वहाँ हेगे पहले से ही खड़ी हुई दिखाईं पड़ी। ट्रेन लेट हो गयी थी। बारिशों और भूस्खलन के कारण ट्रेन को एक जगह, कुछ अधिक देर तक रुकना पड़ा था। त्रांदाइम से ऑस्लो तक के सफ़र में मैं और ज्योति रास्ते के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों को सराहते हुए आये थे। अम्बादास को भी याद करते हुए। ज्योति को अम्बादास जी के सहज, कुछ व्यग्र, पर शालीन तरीके से बातचीत करने की मुद्राएँ याद आयीं, मुझे उनकी हँसी, हृदय की निर्मलता आदि की।

हेगे ने प्रस्ताव रखा कि हम पहले पास ही स्थित 'ऑपेरा हाऊस' तक चलें, वहीं की कैफ़ेटेरिया में कुछ खा-पी लें, फिर घर चलें, तो कैसा रहे! हमने अपनी स्वीकृति दी।

'ऑपेरा हाऊस' की अत्यन्त सुन्दर और मौलिक ढँग से परिकल्पित इमारत की याद मुझे पिछली यात्रा से ही थी, जहाँ

मैं अम्बादास और हेगे के साथ ही गया था। मन में 'दबी' हुई इस इच्छा ने ज़ोर मारा कि ज्योति भी उस इमारत को अभी (ही) देख ले तो अच्छा, फिर मौका मिले न मिले। हेगे एक तयशुदा जगह पर गाड़ी लेकर आयीं, वहाँ हमने उसमें अपना सामान रखा, गाड़ी वे पार्क कर आयीं, फिर। हम उनकी प्रतीक्षा करते रहे। वे आयीं, हम पैदल ही 'ऑपेरा हाऊस' की ओर चल पड़े। कभी-कभी लगता है न, किसी जगह पहुँचकर, मानो हम कल ही तो वहाँ थे और आज आकर फिर बैठ गये हैं, वहीं। पर, नहीं। 'ऑपेरा हाऊस' पहुँचकर यह लगा तो कि हम 'कल' यहीं थे पर फिर रिक्ति महसूस हुई - अम्बादास के साथ न होने की।

हेगे ने भारत के हालचाल पूछे। हमारे, वर्षिता के। फिर अम्बादास 'हमारे बीच' आकर बैठ गये। मुझे पिछली यात्रा की कई बातें याद आयीं, अम्बादास और हेगे के साथ पास के 'फ़्योड' (समुद्री पानी) के किनारे टहलने की। अम्बादास के साथ कई 'दृश्यों' को साझा करने की। आज सोचकर देखता हूँ तो यही पाता हूँ कि अम्बादास किसी दृश्य या वस्तु को जब सराहते हुए देखते थे, तो अत्यन्त विस्मय के साथ ! विस्मय का यह भाव मानों यों भी (स्थायी तौर पर) उनमें बना ही रहता था, इसलिए उनके साथ होने पर दृश्य गतिशीलता सक्रिय हो उठती थी।

एक कवि या कलाकार के मन में क्या चल रहा होता है, दूसरे उसे भला कैसे जान सकते हैं। हाँ, उसके 'स्व-भाव' की एक निर्मिति अपने लिए ज़रूर कर ले सकते हैं। वही हम करते भी हैं। अम्बादास 'अपने में खोये रहने वाले' व्यक्ति भी ज़रूर लगते थे, अन्तर्मुखी भी पर चीज़ों और बातों में रस लेने वाले भी। मैत्री-भाव उनमें भरपूर था। स्वामी और अम्बादास के सम्बन्धों में हमने इस मैत्री-भाव को बार-बार महसूस किया था। स्वामी दिल्ली में हों या भोपाल में, उनके साथ एक छोटा बैग रहता था। उन्हें यह कहते हुए कई बार सुनता था, 'अम्बादास की चिट्ठी आयी है, जबाव देना है।' फिर एक दिन वह भी आता था, जब वह कहते कि 'अब अम्बादास को क्या लिखना, अब तो आने ही वाले हैं।' पर, वे चिट्ठियाँ हमेशा उनके साथ रहती थीं। अम्बादास, जब 'स्वामी' को 'स्वामी' कहकर पुकारते तो उस उच्चार में हम उनके प्रेम, आत्मीयता, एक-दूसरे से जुड़े रहने की व्यग्रता, एक-दूसरे के साथ रहने की प्रसन्नता को सहज ही अनुभव करत थे। सर्दियों में स्वामी, हेगे का बुना हुआ स्वेटर ही वर्षों पहनते रहे।

मैंने 'चिट्ठी प्रसंग' की याद की तो मेरे साथ हेगे और ज्योति भी मुस्करायीं और मानो अब 'अम्बादास और स्वामी' दोनों हमारे बीच आकर बैठ गये।

कितना विचित्र होता है यह कि हमारे भीतर कुछ स्मृतियाँ-छवियाँ चल रही होती हैं, अन्य उसे देख नहीं सकते हैं और हम कुछ-कुछ बातें भी करते जाते हैं, अतीत की छवियों से परे, वर्तमान में (भी) अपनी आँखें खुली रखते हैं।

सो, मैंने पाया कि मेरे 'भीतर' बहुत कुछ चल रहा है। और मैं कैफ़ेटेरिया में बैठे हुए अन्य लोगों की ओर, उनकी गतिविधियों की ओर भी एक नज़र डाल लेता हूँ, ऑपेरा हाऊस के वास्तुशिल्प को भी सराह लेता हूँ, रह-रहकर इसे पिछली बार अम्बादास के साथ भी सराहा था। कला का सौन्दर्य इसमें भी निहित रहता है कि चाहे वास्तुशिल्प हो या चित्र, हम उसके 'वजन' और 'इतिहास' में ही दबे न रह जाएँ। उसमें एक स्वाभाविक गतिमयता हो जो स्मृति की मामूली छुअन के साथ हमारे संग हो ले : हम उसे सहज ही 'उठाये-उठाये' घूमें। अम्बादास की कला में ऐसा सौन्दर्य

है, इसे इस यात्रा में भी हमने कई बार महसूस किया।

घर पहुँचे तो रात के नौ बज रहे थे पर अभी उजाला था। रास्ते में एक जगह रुक कर एक दुकान से हेगे ने कुछ सब्जियाँ-फल लिये थे, खाने-पीने का अन्य सामान भी। दुकान का अपेक्षाकृत युवा मालिक टर्की का था। हेगे ने परिचय कराया तो उसने मुझे सम्बोधित करते हुए, 'नमस्ते इंडिया' कहा, मैंने उसे 'नमस्ते टर्की' कहकर संबोधित किया। हम दोनों मुस्कराये। हेगे ने प्रसन्न हँसी के साथ हमारा साथ दिया। मालूम हुआ अम्बादास जी यहाँ प्रायः आते थे। मैंने दुकान को एक बार फिर दिलचस्पी के साथ देखा।

अम्बादास - हेगे के ड्राइंगरूम में उसी सोफ़े पर बैठा था जहाँ पिछली बार वह साथ बैठे थे। उनके कुछ चित्र वहाँ भी टँगे थे - नार्वेजियाई, यूरोपीय कलाकारों के चित्रों और ग्राफ़िक प्रिंट्स के साथ। पिछली बार की ही तरह। नहीं, कलाकार की जगह कभी खाली नहीं होती। अपने-अपने बियर के कैन लिये मैं और हेगे बातें करते उस रात काफ़ी देर तक बैठे रहे। हेगे ने पूछा था कि 'क्या भारत में आगे भी लोग अम्बादास को याद करेंगे।' मैंने कहा था, 'बेशक।' उनकी जगह सुनिश्चित है। उन्हें यह भी बताया कि कुछ नये और अपेक्षाकृत युवा कलाकार अम्बादास के काम के प्रति नये सिरे से आकर्षित हैं। उदाहरण स्वरूप सीरज सक्सेना की उस टिप्पणी का उल्लेख भी किया जो सीरज ने 'जनसत्ता' में लिखी थी। किरण नाडार म्युज़ियम दिल्ली में आयोजित उस स्मृति-सभा की भी चर्चा की, जिसमें एस. कालिदास, किशोर सिंह, रुबीना करोडे और मैंने अम्बादास को 'याद' किया था और सभा में काफ़ी लोग पहुँचे थे। (हेगे को इसकी जानकारी पहले से ही थी।) मैंने, हेगे से यह ज़रूर कहा कि, अफ़सोस इसी बात का है कि 'प्रोगेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप' की चाहे जो भी रचनात्मक भूमिका रही हो, पर उसके आगमन के बाद हमारी कला-चर्चा और समीक्षा में पश्चिमी कला के बहुतेरे सन्दर्भ आवश्यक - अनावश्यक और अतिरंजित रूप से चले आये और वे आज तक सन्दर्भ के रूप में बरकरार हैं। नतीजा यह कि उनके बोझ तले अम्बादास जैसे चित्रकार के रचनात्मक उन्मेष को ठीक से समझने वाले कला-इतिहासकारों और कला-समीक्षकों का अभाव-सा है। अम्बादास की सर्जनशीलता के बोध और व्याख्या के लिए एक नयी भूमि बननी चाहिए। पिछली बार ऐसी ही चर्चा अम्बादास जी से भी हुई थी।

अगले दो दिन, ज्योति, हेगे और मैंने संग्रहालयों में कैफ़े, रेस्तराओं में और पैदल, कार, ट्राम, टैक्सी आदि में घूमते-फिरते बिताये। एडवर्ड मुंक की १५०वीं जयन्ती पर आयोजित प्रदर्शनी भी देखी। रात का खाना घर में ही खाते - बनाते रहे और ड्राईंग रूम में बैठकर बातें करते रहे। देर रात तक भी। जिस दिन हमें लौटना था, उसके एक दिन पहले, हेगे ने यह प्रस्ताव रखा कि हम उस स्मृति-स्थल तक चलें, जहाँ अम्बादास माटी के नीचे सोये हैं। यह भी बताया कि वह तेजी ग्रोवर को भी वहाँ ले गयी थीं। हम ने कहा, हाँ, हम ज़रूर वहाँ चलना चाहेंगे। सुबह के नाश्ते में हेगे ने यह चर्चा की कि उन्होंने अभी वहाँ पत्थर नहीं लगवाया क्योंकि तय नहीं कर पायीं कि वह कैसा हो। यह भी बताया कि हम यहाँ अम्बादास को दफ़ना ही सकते थे। पर, सेमेट्री के पास स्थित चर्च में जो प्रार्थना-सभा हुई थी, उसमें एक तमिल भाषी गायिका ने अपना शास्त्रीय गायन प्रस्तुत किया था। वह सभी को बहुत भाया। हम सेमेट्री में पहुँचे तो वहाँ परम शान्ति थी। इक्का-दुक्का गाड़ियाँ ही थीं। अम्बादास के स्मृति-स्थल में पहुँचकर हमने पाया कि वहाँ कुछ घास उग आयी है, कुछ मौसमी फूल भी हैं, अपने रंगों के साथ, अपने आप उग आये, उस स्मृति-पट्टिका

की बगल में, जो इंच-फुट नापने वाले स्केल की तरह लग रही थी। शेष कब्रों में, बाकायदा फूल-पौधे लगाये-उगाये गये थे। मैंने हेगे से कहा, 'चाहें तो इस पर आप कोई भी कैसा भी पत्थर न लगवायें, बस पहचान के लिए कोई मज़बूत स्मृति-पट्टिका लगवा दें।' वह कुछ सोचने लगीं।

सेमेट्री का रख-रखाव, उसकी हरियाली, उसकी शान्ति-सौम्यता बहुत दूर तक हमारे साथ चले आये।

अगले दिन, जब हम अपना सामान लेकर नीचे उतरे, तो ज्योति ने, अनायास 'बाय अम्बादास जी' कहा। मानों अम्बादास वहाँ खड़े हों। हेगे और मैंने पलटकर ज्योति की ओर देखा। उसके यह 'विदा' वाले शब्द इतने-स्वाभाविक सहज लगे कि हेगे की प्रसन्नता फूट पड़ी। वह हमें छोड़ने स्टेशन तक आयीं। हमने उनसे भी विदा ली।

पर, यह विदा-शब्द तो आत्मीय सम्बन्धों की निशानी भर थे। उन पर एक मुहर सी लगाते हुए।

अम्बादास तो साथ ही हैं हमारे और यह कोई भावुक कथन नहीं है।

जीने का वैभव

मानस मुकुल दास

“शबीह (पोट्रेंट) एक आत्मा का वह अक्स है जो दूसरी आत्मा के आईने में झलकता है।”

चार्ल्स मॉगन, पोट्रेंट इस ए मिरर

‘‘मेरे ऐसे जीवन का क्या अर्थ है, मृत्यु जिसे पोंछ कर मिटा देगी?” यह प्रश्न अज्ञेय की लेखनी में बार-बार सिर उठाता है; शेखर : एक जीवनी, जिसका पहला खाका उन्नीस बरस की उम्र में लिखा गया था, से लेकर मरणोपरान्त छपी मरूथल (१९८९) काव्य श्रृंखला तक, जिसमें ग्यारह कविताएँ और एक असमाप्त कविता सम्मिलित है। मृत्यु के बरक्स अपनी अस्मिता की लम्बी खोज में अज्ञेय को समय-समय पर अलग उत्तर हासिल हुए। वह प्रश्न जो अपने ही अन्तः करण से या किसी अव्यक्त से शायद अनुपस्थित ईश्वर से, लगातार मुठभेड़ करता रहा, किसी दिये हुए या बने-बनाये उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होने वाला था। उसे वही उत्तर स्वीकार्य था जो अस्तित्त्व की कसौटी पर खरा उतर सके, जो अनुभूत सत्य हो। जब उत्तर उपलब्ध नहीं था। तब प्रश्न ही वह सत्य बन गया, जिसे जिया जाना था।

मुझे अज्ञेय के धीर-गम्भीर, स्वतन्त्र, दूसरे पर खुद को कतई आरोपित न करने वाले और बगैर दिखावे के दूसरे के प्रति अत्यन्त संवेदनशील रहने वाले व्यक्तित्व को नजदीक से जानने का बचपन से ही मौका मिला। मैं भी उनके जीवन के अर्थ को जानना चाहता हूँ, दोनों तरह से उनके अपने सन्दर्भ में और दूसरी तरह से भीः उस जीवन का अर्थ क्या है जिसे मृत्यु खत्म कर देगी? औरः उस जीवन की गुणवत्ता जो अपने चारों ओर निर्बाध स्वतन्त्रता,

खुलेपन, शान्ति, गरिमा, मैत्री, लावण्य, घरोपे और सर्जनात्मकता का वातावरण बुनती है। क्या इन गुणों को सिरजना ही उसकी अर्थवत्ता हो सकता है? क्या इस अर्थवत्ता को सम्प्रेषित किया जा सकता है? क्या उसे जज्ब किया जा सकता है? एक जीवन के गढ़े जाने में दूसरे अर्थान्वेषी जीवन की क्या भूमिका हो सकती है?

कुछ लोग हैं जो निधन के बाद भी मेरे बीते हुए जीवन की स्मृति मात्र का हिस्सा नहीं बने। उन्होंने मेरे होने को शब्दों से नहीं, अपने होने से रचा था। मेरा दिमाग आज भी उन्हें स्मृतिशेष के बजाय जीवन्त उपस्थिति के रूप में ही दर्ज करता है।

एक ऐसी उपस्थिति जो मृत्यु द्वारा प्रत्यारोपित अनुपस्थिति से प्रांजल और सघन हो उठी है। मृत्यु शरीर को ले जाती है, किन्तु जिये गये जीवन से उत्पन्न अर्थ, जीवन के अर्क को नष्ट नहीं कर पाती। मरणोपरान्त उपस्थितियाँ काल निर्धारण के परे जाते हुए अमर पितरों की कोटि में आ जाती है; 'नश्वरता के दाग से उन्मोचित' क्षण, जो अनन्त बन जाते हैं। दिवंगत उपस्थितियों को हम अवसाद, पछतावे, या रह-रहकर उठने वाली हूक या 'वे दिन जो अब नहीं रहे' की स्मृति से बनने वाली छायाओं की तरह नहीं याद करते, बल्कि 'ईश्वर की पवित्र आभा में खड़ी दीप्त देहों' के रूप में याद करते हैं, जो मस्तिष्क को उस क्षण के उत्सव को जीना सिखाती हैं जिस क्षण में वे थे। मेरे जीवन में अज्ञेय ऐसी ही उपस्थिति हैं। दूसरी उपस्थिति हैं मेरी माँ। इनके अलावा मेरी इस सूची में मेरे पिता तथा चार-पाँच लोग और हैं। उनमें से एक से मैं कभी नहीं मिला क्योंकि वे मेरे जन्म से कुछ सप्ताह पहले इस पृथ्वी से विदा ले चुके थे; किन्तु जो वे थे वह उनके गीतों में हमेशा के लिए रचा-बसा है।

अर्थवत्ता की तलाश में, मृत्यु बार-बार उठने वाला एक विषय हो सकता है, इसलिए नहीं कि अर्थान्वेषी मृत्यु से भयाक्रान्त है, बल्कि इसलिए कि उसे जीवन से बेलाग प्यार है, कि वह अपनी इन्द्रियों, भावनाओं और विचार द्वारा इस चराचर, मानव जगत से अपने सम्बन्ध के सौन्दर्य का कायल है। मृत्यु का अहसास पंगु करने के बजाय जीवन के उल्लास की अनुभूति को अधिक गहराता है। और मृत्यु जो हमें हमारे जीवन के प्रेम से सम्पूर्ण रूप से विलगाने आती है, उससे हमारे गरिमामय साक्षात्कार में एक सौन्दर्य पनपता है। क्या जीवन से प्रेम, अगाध प्रेम सम्भव है बिना उसे खो देने के भय के, बिना उसके मोहपाश में बँधे?

एक दिन भोपाल में विवेक दत्त ने हमें एक दास्तां सुनाई थी। वे और अज्ञेय रेल से यात्रा कर रहे थे और बातचीत राग-विराग, आसक्ति-अनासक्ति पर चल रही थी। अज्ञेय ने कहा कि जीवन से पलायन अनासक्ति नहीं, बल्कि जीवन का भय है या उससे भागना है। जब कि उत्सव, लगाव, संवेदनशीलता गहरे अर्थों में केवल अनासक्ति से ही सम्भव हैं। रेल अपने गन्तव्य पर पहुँचने को थी। अज्ञेय ने अपना पश्मीना एक महँगे से बैग में तह करके रख दिया। वे अच्छी चीजों के शौकीन थे; बैग में दूसरी कीमती वस्तुएँ कैमरा आदि भी रही होंगी। विवेक उठे और अचानक वह बैग गुजरती हुई नदी में फेंक दिया। विवेक दत्त ने बताया, ''उस व्यक्ति का आन्तरिक अनुशासन इतना प्रबल था कि चेहरे पर शिकन तक न आयी।''

एक वाकया मुझे भी याद आता है। एक बार दिल्ली में उनके घर पर जापान से लाया हुआ एक सुन्दर पोर्सलेन का

गुलदान मेरे हाथों टूट कर चकनाचूर हो गया। वे अगले कमरे में शान्त भाव से पढ़ते रहे। अपना-सा मुँह लिये मैं उनके पास गया और सारी बात बताई। वे बोले ''तुम चप्पल पहन लो'', और फिर अपनी किताब पढ़ने लगे। ''कोई बात नहीं'' कहे बगैर उन्होंने मुझे फिक्र के बोध से उबार लिया था।

१९५५ के आसपास, परीक्षाओं के बाद, अपनी शीतकालीन छुट्टियाँ मैं उनके पास दिल्ली में बिता रहा था। उनकी पुस्तकों के भण्डार को खँगालते हुए मुझे डेविड पेट्रिक द्वारा सम्पादित चेम्बर्स के अँग्रेजी साहित्य विश्वकोश के मोटी जिल्द वाले तीन सुन्दर भाग दिखाई पड़े। दूसरे और तीसरे भाग की भीतरी जिल्द पर लिखा था ''मद्रास क्रिश्चयन कॉलेज के द्वितीय वर्ष, १९२६-२७ के छात्र एस.एच. वात्स्यायन को जूनियर मिलर पुरस्कार के बतौर भेंट''। पहले भाग की भीतरी जिल्द पर लिखा थाः ''हीरानन्द शास्त्री, १६ नवम्बर १९३०ः अपने तीसरे बेटे (या पाँचवे, चूँकि दो की मृत्यु हो गयी थी) सच्चिदानन्द के लिए, जिसे दुर्भाग्य से आज ही गिरफ़्तार कर लिया गया है। विधि का खेल देखिये, अन्य दो भाग उसे पुरस्कार में प्राप्त हो गये थे।'' में इस खजाने को देखकर खुश था। हर दिन मैं इनमें से कभी यहाँ कभी वहाँ घण्टों पढ़ता रहता। रवाना होने वाले दिन मुझे अपने सामान के ऊपर मोटे खाकी कागज और मजबूत डोरी से बँधा एक बण्डल मिला, जिसे उठाने के लिए बाकायदा उसी डोरी का हैण्डल भी बना दिया गया था। क्रिश्चियन कॉलेज, मद्रास के इतिहास में पहली बार किसी विज्ञान के छात्र को दिया गया आर्थर मिलर पुरस्कार चुपचाप मुझे हस्तान्तरित हो चुका था।

कुछ वर्ष बाद १९६४ मैं मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. अँग्रेज़ी की परीक्षा दी। परिणाम अभी आना वाकी था। अज्ञेय कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में पढ़ा रहे थे। उन्होंने मुझे लिखा ''तुम्हारी विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी हो रही है, मैं तुम्हें सौ पुस्तकें भेंट करना चाहता हूँ। जल्दी से किताबों की सूची या अपनी दिलचस्पी के विषय मुझे लिख भेजो।'' जल्द ही विविध विषयों पर किताबें आने लगींः काव्य संग्रह, कथा साहित्य, डायरियाँ, पत्र, मिथक, नृतत्वशास्त्र, कला, दर्शन, धर्म और सौन्दर्यशास्त्र से जुड़ी पुस्तकें। उनका आना सौ के आँकड़े पर समाप्त नहीं हुआ। उन्होंने परीक्षा में मेरे अव्वल आने का इन्तज़ार भी नहीं किया। उनके लिए बस इतना पर्याप्त था कि मुझे पुस्तकों से प्रेम है। वे अपनी प्रिय पुस्तकों का दूसरे से साझा करना चाहते थे। एक बार जब मैं बड़ा हो रहा था, उन्होंने मुझे बचपन की किताबें बच्चों में बाँट देने की सलाह दी। मैंने उन्हें बाँट तो दिया, लेकिन बड़े भारी मन से।

अज्ञेय को सुन्दर चीजों से लगाव थाः खुद के डिजाइन किये हुए सुघड़ फर्नीचर, कपड़े, पुरानी वस्तुएँ, पोर्सलेन और क्रिस्टल की चीजें, हाथ के बुने मोजे; बढ़िया चमड़े के जूते, वाइन के गिलास, क्रॉकरी, चाँदी और पीतल की वस्तुएँ, कैमरा और तरह-तरह के उपकरण, विश्व साहित्य, दर्शन व कला की पुस्तकों के पुस्तकालय संस्करण, कवियों द्वारा पढ़ी गयी कविताओं की रिकार्डिंग, अनेक लोगों, प्राकृतिक दृश्यों, पुरातात्विक इमारतों और कलाकृतियों के छायाचित्रों का संकलन, स्याहीवाले पेन, कापियाँ, अगरबत्तियाँ, फूल-पौधे, स्वादिष्ट भोजन, सबसे बढ़िया रेस्तराँ में खाना, यात्राएँ।... वे हर चीज का आनन्द लेते, लेकिन लालसा किसी चीज की नहीं पालते या कहना चाहिए किसी वस्तु को अपने अधिग्रहण में लेने के मोह से सर्वथा मुक्त रहते। चीजों को खुद अपने पास रखने के बजाय लोगों को देने या उनसे साझा करने में उन्हें शायद ज्यादा सुख मिलता था।

अपने अपने अजनबी (१९६१) में सेल्मा के प्रसंग में अन्त में जब सेल्मा और यान को टूटे हुए पुल पर से बचाने के लिए दल आता है, तब निविड़ अकेलेपन से धुला उसका मन दुनिया को 'बैरी अन्य' (हॉस्टाइल अदर) की तरह देखना भूल, दूसरे के साथ सब कुछ का साझा करने की उत्कंठा से भर जाता है, और जेन की तरफ देखते हुए सेल्मा के भीतर जीवन के एक नये अर्थ का उन्मेष होता है। अब जीवन कहीं नहीं से कहीं नहीं को जाता टूटा पुल नहीं रह जाताः

''नहीं, अन्त वहाँ पुल पर नहीं था; अन्त यह था जो कि नया आरम्भ था अन्धी गली वह नहीं थी, मोड़ का कोई सवाल ही नहीं था, क्योंकि रास्ता ही नहीं था, क्योंकि यह आरम्भ तो खुला आकाश था.... जिसमें-से एक नया जीवन उपजा एक नया अनुभव, एक नयी गृहस्थी, तीन सन्ताने; सुख-दुःख के साझे का एक जाल जिसमें जीवन की अर्थवत्ता के न जाने कितने पंछी उन्होंने पकड़े.... फिर वह दिन आया कि यान नहीं रहा; पर वह अर्थवत्ता नहीं मिटती, पाये हुए सारे अर्थ चाहे छिन जावें।'' अज्ञेय शायद सबसे अधिक महत्त्व मानवीय रिश्तों की बहुपरतीयता को देते थे और इसे बचाते थे। वे असली, ठोस और मूर्त, हाड़-मांस के बने लोगों से जुड़ते थे, शब्दों, निराकार विचारों और समाजशास्त्रीय अवधारणाओं से निकली जन, दलित, सर्वहारा, शोषित, हाशिए के लोग जैसी अमूर्त कोटियों से नहीं। साहित्य मानवीय अनुभवों की सघनता, सबका प्रतिनिधित्व कर सकने वाली ठोस सर्वव्यापकता की तलाश से बनता है; दर्शन इससे उलट होता है। जो हालाँकि ज्यादा समग्र मगर भंगुर और अमूर्त सर्वव्यापकता के जरिए शायद सैद्धान्तिक खोज करता है। अज्ञेय एक सृजनशील लेखक की तरह रहते, सोचते, अनुभव करते और लिखते थे, न कि एक सामाजिक दार्शनिक की तरह। और राजनैतिक कार्यकर्ता की तरह तो और भी कम। किसी विचारधारा से मुक्त वे सबसे सहज रूप से संवाद करते थे। मुझे उनके यहाँ नौकर के होने का अहसास कभी नहीं हुआ। गोविन्द सिंह एक भरे पूरे व्यक्तित्व की तरह याद आते हैं।

एक बार अज्ञेय के साथ यात्रा करते हुए रेल और पुलिसकर्मियों को एक गरीब असहाय को मारते और फिर हवालात में धकियाते हुए देखा। अज्ञेय ने इसका प्रतिरोध करते हुए कहा, ''एक जुर्म के लिए किसी को दो बार सजा नहीं दी जा सकती। तुम उसे थप्पड़ मार चुके हो। अब उसे हवालात में नहीं डाल सकते।'' वे दृढ़ता से बोले थे। पुलिस कर्मचारी नहीं समझ सके कि क्या जवाब दें। शायद उन्होंने अज्ञेय को कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा हो, जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती थी। उनमें से एक बोला, ''जनाब, क्या यह बात आप हमें एक कागज पर लिख कर दे सकते है?'' उन्हीं से कागज़ लेकर अज्ञेय ने बाकायदा हस्ताक्षर के साथ वह बात लिख दी। वह आदमी छोड़ दिया गया।

ज़रूरत पड़ने पर अज्ञेय एक मित्र की तरह खड़े-पैरों मदद करना जानते थे। बिना इसका तनिक अहसास कराए। शिवमंगल सिंह सुमन डी.लिट्. के लिए अपना शोधकार्य पूरा नहीं कर पा रहे थे। शोध जमा करने की अन्तिम तिथि घोषित हो चुकी थी। इसके बाद भी काम की चाल सुस्त बनी हुई थी; सिर्फ अठारह दिन बचे थे। वाराणसी में वे लिख नहीं पा रहे थे क्योंकि वहाँ मिलने-जुलने वाले अधिक थे। परेशान हो सुमन अज्ञेय के पास इलाहाबाद पहुँचे। अज्ञेय तब कई अन्य लेखक मित्रों के साथ एक सृजनशील समुदाय बनाकर १४, हेस्टिंग्स रोड पर रहते थे। उस इमारत में आजकल उत्तर मध्य क्षेत्रीय सांस्कृतिक केन्द्र है। हम भी तब २८ कमरों और आसपास पाँच एकड़ जमीन वाले उसी

घर में रह रहे थे। बच्चों में मैं और मेरे भाई ही थे और हमें सुमन जी से बड़ा लगाव था। हमें घर आने-जाने वाले लोगों को सुमन के वहाँ होने का सुराग न लगने देने की जिम्मेदारी सौंपी गयी थी, यानी मिलने वालों को चकमा देने का काम!

अठारह दिन तक सुमन जी को एक कमरे में कैद रखा गया। यदि कोई आकर कहता कि उन्होंने सुमन को मय सामान के रिक्शे में आते देखा था, तो हम खाँसने लगते या गोलमोल बातें करने लगते। माँ सुमन जी का चाय, नाश्ता, भोजन उनके कमरे में ही पहुँचातीं। पिता दरवाजे तक जाकर उनकी हौसला अफजाई कर आते। अज्ञेय उन दिनों नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ और प्रतीक का सम्पादन कार्य कर रहे थे। उन्होंने अपने टाइपिस्टों को सुमन की सेवा में लगा दिया, जो रात दिन लिखते जा रहे थे। न बात, न चीत, न किसी से मेल-मुलाकात, न अखबार, न खान-पान की फिक्र सुमन बस लिखते जाते थे। जो लिख जा रहा था अज्ञेय उसे पढ़ते, सुधारते और अन्तिम रूप देते जाते। सत्रहवें दिन पूरी तरह से थके हारे सुमन ने अन्ततः दाढ़ी बनाई, नहाये और घोड़े बेच कर सो गये। उधर अज्ञेय ने शोध ग्रन्थ की अपेक्षित प्रतियाँ निकलवा कर उनकी जिल्द बँधवाई। अगली सुबह श्रीपत राय की कार में सुमन को मय शोधग्रन्थ बिठा कर अन्तिम अवधि बीतने से पहले खुद कार हाँकते हुए वाराणसी पहुँचाया।

अज्ञेय के समूचे जीवन को देखता हूँ तो मुझे उनके भीतर बन्धुत्व की गहरी अभीप्सा नजर आती है; मिल-जुलकर रहता, साझा करता एक सृजनशील समुदाय। शायद इस बन्धुत्व की तलाश में और नये लेखकों को स्थापित करने की गरज से ही उन्होंने तार सप्तक, अन्य सप्तकों, प्रतीक, नया प्रतीक का सम्पादन किया। फिर अपने जीवन के सन्ध्याकाल में वत्सल निधि की स्थापना कर लेखक शिविर तथा अलग-अलग सृजनात्मक क्षेत्रों में काम कर रहे लोगों को साथ लेकर जातीय स्मृति में बसे स्थलों की महत्त्वपूर्ण यात्राएँ आयोजित कीं । उन्होंने अपनी कमाई का बड़ा हिस्सा सुन्दर किन्तु अलग-थलग सी जगहों पर सृजनात्मक सांस्कृतिक गतिविधियाँ आयोजित करने में लगाया जिसमें एक साथ नये और स्थापित कवियों, लेखकों, कलाकारों, आलोचकों, बुद्धिजीवियों को एक सहज और आत्मीय वातावरण मे संवाद करने का मौका सुलभ हो सके। मुझे उन्होंने तीन शिविरों में आमन्त्रित किया। मैं केवल वृन्दावन के शिविर में पहुँच पाया। जब शिविर में पढ़े गये पत्र 'साहित्य और समाज' नाम से प्रकाशित हुए तो उसमें उन्होंने 'कूदा दादुर' शीर्षक से स्वयं मेरे निबन्ध (फ्रॉग जम्प्स इन) का अनुवाद किया। बहरहाल, सब चीजों से ऊपर उनका मानव साहचर्य को पाने की चाह उनके जीवन में व्याप्त थी। घर की तलाश में, उन्होंने सदैव अपने इर्द-गिर्द घर-सा माहौल रच दिया।

वे जीना और जीवन का साझा करना जानते थे, बदले में बिना कुछ पाने की चाह रखे; देने की खुशी उनके लिए बड़ी होती थी। वे राजा हर्षवर्धन की बात करते हुए हमेशा खुशी से भर उठते, जो हर बारहवें वर्ष अपनी सकल सम्पत्ति यज्ञ द्वारा लोगों को बाँट देते और फिर अपनी बहन राज्यश्री से अपने पहनने के लिए वस्त्र माँगते थे। मुझे अज्ञेय से अनगिनत सौगातें मिलीं, जिनमें सिर्फ कुछ का जिक्र यहाँ सम्भव है। वे हमेशा चीज़ों की शक्ल में नही होती थी। कभी-कभी वे लीक से हटकर एक उत्सव की शक्ल में भी सामने आती थीं।

मैं स्कूल में पढ़ रहा था। ''तुम्हारी गर्मी की छुट्टियाँ शुरू होने वाली होंगी, चलो पहाड़ों पर छुट्टियाँ बिताएँ'', ऐसा

उन्होंने एक बार इलाहाबाद आने पर कहा। जल्द ही मैं उनके और कपिला जी के साथ अल्मोड़ा की यात्रा पर था; यहीं से आरम्भ हुई एक छुट्टी की सौगात। दिल्ली में वे मुझे गद्दों के लिए कपड़ा खरीदने और खोल सिलवाने ले गये, जिनका एक सिरा खुला छोड़ा गया। रुई नही भरी जाएगी? नहीं, उसकी जरूरत नही पड़ेगी, वे बोले।

अल्मोड़ा में स्नो-व्यू एस्टेट में एक बँगला उन्होंने किराये पर लिया हुआ था, जो अल्मोड़ा के काली मठ और आगे बिनसर जाने वाली सड़क पर शहरी क्षेत्र से तीन मील दूर था। कुछ दूरी पर दो बँगले और थे। एक में विवेक दत्त रहते थे, जिनका उन्हीं दिनों मारिया से विवाह हुआ था, जो अगर मुझे सही याद है एक टेप रेकार्डर लेकर कुमाऊँ के लोकगीत संग्रहित करने वहाँ आयी थीं। दूसरे बँगले में सफेद बालों वाली गरिमामय वृद्धा जीन लायन और एक नवयुवक रहते थे। युवक का सदैव शान्त, मुस्कुराता, संयत व्यक्तित्त्व मुझे आकर्षित करता था। अज्ञेय का उपन्यास अपने-अपने अजनबी, 'जीन लायन की स्मृति को' समर्पित है, जिनके किसी अनुभव के आधार पर ही योके व सेल्मा के एक घर में बर्फ़बारी में दब जाने की घटना विकसित की गयी है।

बँगले में बिजली नहीं थी। रात में हम लालटेन जलाया करते थे। पानी के लिए भी थोड़ी दूर जाना पड़ता था। अज्ञेय और मैं पैदल वहाँ जाते, वहीं नहाते और लौटते वक्त दो बाल्टी पानी लेते आते। घर के चारों तरफ चीड़ का जंगल था। दिन को खिलने और शाम को बन्द हो जाने वाले लिली के जंगली फूल भी चारों ओर थे। मैं अपने साथ उनके कुछ बल्ब इलाहबाद ले आया; आज साठ साल बाद भी वे हर गर्मियों में मेरे बगीचे में खिलते हैं।

अल्मोड़ा पहुँचने के अगले दिन मुझे गद्दों के खोल लेकर चलने के लिए कहा गया। हम जंगल में निकल गये। वहाँ चीड़ की सुई-नुमा पत्तियों को खोल में भरने के बाद बकायदा गद्दे तैयार हो गये, जिन्हें हम घसीटते हुए घर तक लाये। हम जंगल से अक्सर अलाव जलाने के लिए चीड़ के शंख (कोन) भी लाया करते थे।

दिल्ली से बेकार बोझा ढोने की जरूरत नहीं थी। अज्ञेय ने मुझसे कहा था कि पढ़ने के लिए ज्यादा वक्त नहीं मिलेगा, मैं अपने साथ दो किताबें रख सकता हूँ। एक किताब जो उन्होंने सुझाई, वह थी आर.एल.स्टीवेन्सन की ट्रेवल्स विद ए डंकी एंड एन इनलैंड वॉयेज। मुझे दोपहर जंगल में चीड़ के तने से टिककर वह किताब पढ़ना और उस अध्याय पर पहुँचना अभी भी याद है, जिसका शीर्षक था 'चीड़ों के बीच एक रात'। वहाँ उसे पढ़ना कितना आल्हादकारी था! उस रोज मेरी जेब में जो दो-चार सिक्के थे, लौटते वक्त उन्हें मैंने भी पगडंडी पर पहाड़ी बच्चों के लिए छोड़ दिया था।

अज्ञेय और कपिला जी ने कुछ मित्रों को उनकी सुविधानुसार वहाँ कभी भी चले आने का खुला आमन्त्रण दे रखा था। मुझे ऐलीजाबेथ गॉबा और रिचर्ड बार्थोलोम्यू का आना याद है। वहाँ आने वाले मेहमानों को जिस आत्मीयता और गरमाहट से सत्कार होता, वह मुझे बहुत अच्छा लगता। उसमें उनके एकान्त का भी पूरा खयाल रखा जाता था। सुबह की कॉफी और दोपहर की चाय का सुन्दर अनुष्ठान वह समय था, जब मैं चुपके-चुपके उन सबकी बातचीत सुनने-समझने की कोशिश करता। कभी विवेक दत्त आते या हम उनके यहाँ चले जाते। मुझे उन्हें अज्ञेय के साथ बातें करते देखना बहुत अच्छा लगता था। उनकी बातचीत में लम्बे-लम्बे अन्तराल होते, जब उनकी आँखें किसी एक जगह केन्द्रित न होकर कहीं दूर या कहीं नहीं या जमीन पर गड़ी होती; कोई कुछ नहीं बोल रहा होता, तब भी उनके

बीच एक भरे-पूरे संवाद का रचाव होता था।

हम लोगों के वहाँ पहुँचने के कुछ महीने पहले तक ब्रूस्टर नामक एक खब्ती चित्रकार कुछ वर्ष बँगले में रहे थे। उसने खिड़कियों, दरवाजों और अलमारियों के पल्लों पर चमकीले रंगों में बेलबूटे बना दिए थे। बरामदे के खम्भों पर जंगली हनीसकल की बेल फूलों के साथ लदी थी। छुट्टियों की उस सौगात की छोटी-छोटी बातें मुझे ठीक से याद हैं एक दिन मैं कपिला जी और आंटी मारिया के साथ बैठा था। अचानक कपिला जी ने मुझे गाना सुनाने को कहा। कुछ सकपकाते हुए मैंने 'ब्यूटीफूल ब्यूटीफूल ब्राउन आईज़, आई शैल नेवर लव ब्लू आईज़ अगेन' सुना डाला। गाना खत्म हुआ तो कपिला जी धीरे से बोलीं अब एक रवीन्द्र गान सुनाओ!

बाद में भी मैंने अज्ञेय के साथ पहाड़ों और नदियों के किनारे जो छुट्टियाँ बिताईं और दिल्ली में उनके तमाम घरों में जो समय बिताया, उस सबके जिक्र के लिए न यहाँ जगह होगी, न जरूरत ही हैं। मुझे याद नहीं कि मैं कितनी बार उनके अन्तिम आवास कैवेंटर्स ईस्ट और पहले २३ डी-१ चाणक्यपुरी में रहने गया। पर उन सारी जगहों पर, उस सुन्दर वातावरण का अहसास मुझे होता था जिसे वे अपने होने से रचते थे, साथ में इसका अवकाश भी कि दूसरे अपने होने को अपने ढँग से जी सकें। वे आपको बिना किसी पूर्वग्रह या तुलना के आपके स्वत्व में ग्रहण करते थे। एक पारम्परिक संस्कृत का विद्वान, बर्कले का अलंकारशास्त्र का प्रोफेसर, एक नवयुवक जिसे अभी अपनी दिशा पानी है, उनकी उपस्थिति में बड़े सहज होकर सम्वाद कर सकते थे।

मैं प्रोफ़ेसर लियोनार्ड नाथन को ध्यान से सुन रहा था, जो बता रहे थे कि कैसे अज्ञेय और पं. विद्यानिवास मिश्र की मदद से उन्होंने और कुछ साथी अमरीकी कवियों ने नितान्त अपरिचित भाषाओं यानी संस्कृत तथा हिन्दी की कविताओं को पढ़ा और समझा। वे कविताओं का अँग्रेज़ी में अनुवाद करके देते और फिर उसके बाद मूल कविता को कई-कई बार पढ़ के सुनाते ताकि छन्द और लय का अहसास हो सके। इसके बाद वे उसके स्वर-सौन्दर्य, व्युत्पत्ति मूलक विशेषताओं, मिथकीय या अन्य सन्दर्भों का हवाला देते। इसके बाद वे अमरीकी कवि अपना काम शुरू करते थे। काम पूरा लिया जाता, नहीं तो वे उनकी अपनी मौलिक रचनाएँ हो जातीं! नाथन ने मुझे 'असाध्य वीणा' का अद्‌भुत अनुवाद 'द अनमास्टर्ड ल्यूट' पढ़कर सुनाया। मुक्त छन्द और अतुकान्त छन्द के जोड़ से वह लम्बी कविता एक आख्यान की भव्य चाल से आगे बढ़ती है।

'जिजीविषा' अज्ञेय के पसन्दीदा शब्दों में एक था। जीने की प्रबल चाह। उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों, बुद्धि और संवेदन, अपने सम्पूर्ण स्वत्व से प्रकृति और मनुष्य द्वारा प्रदत्त सब कुछ का आनन्द लिया; पहाड़, चट्टानें, रेगिस्तान, पानी, मौसम और वनस्पति; साहित्य, शब्द और भाषा का सौन्दर्य; वास्तुकला, दूसरी कलाएँ, संगीत और दर्शन; और स्त्री, पुरुष और बच्चों के साथ मानव सम्बन्धों की तमाम बारीकियों का।

आमोद-प्रमोद के लिए भी उनके जीवन में खूब जगह थी। हम साथ-साथ बैडमिंटन, स्क्रैबल और ब्रिज खेलते; बाहर खाने जाते, पिकनिक मनाते और अक्सर कोई बिलकुल अनूठी बात उन्हें सूझती। जब वे सत्तर पार कर चुके थे, मैं कुछ दिनों के लिए कैवेंटर्स ईस्ट पहुँचा तो उन्होंने मुस्कराते हुए पूछा, ''क्या तुमने थियोफिलस का घर देखा हैं?'' मैंने ना में सिर हिलाया। ''आओं, दिखाता हूँ।'' हम बँगले के उस ओर गये जहाँ बहुत सारे पेड़ थे। एक पेड़ की डाल दो

भागों में विभक्त होती थी। उसी पर उन्होंने एक घर बना दिया था। वहाँ तक पहुँचने के लिए बाँस की एक लम्बी सीढ़ी लगा दी थी। मैंने उसके बत्तीस पायदान चढ़े और 'मचान' तक पहुँचा, उसकी छत ढलुआ थी। उसमें तीन खिड़कियाँ थीं और भीतर एक मेज और दो कुर्सियों के लिए पर्याप्त जगह। पिछली शताब्दी के तीसरे दशक में जब अज्ञेय क्रान्तिकारी गतिविधियों के चलते जेल में थे, तब थियोफिलस उनकी पालतू गिलहरी थी। उनकी जेब में बैठकर वह जेल से बाहर आ गयी थी। ट्रेन यात्रा के दौरान एक दिन अचानक लगे ट्रेन के झटके से घबराकर वह खिड़की से कूदकर एक पेड़ पर जा बैठी। अब, पचास से भी अधिक वर्षों के बाद, पेड़ पर थियोफिलस का 'घर' तैयार था। पेड़ पर बने उस घर में बहुत-सी गिलहरियाँ आती थीं। कई बार वे खिड़की पर बैठीं उन्हें दी जाने वाली चीजें खाती रहतीं। क्या थियोफिलस पुनर्जन्म लेकर वहाँ आ गयी थी?

अस्सी के दशक में मेरी कैवेंटर्स ईस्ट की एक अन्य यात्रा के दौरान अज्ञेय ने मेरे एक मित्र को तार भेजाः ''इला और वात्सल्यन डॉ. हरीश त्रिवेदी को नाश्ते, भोजन, चाय, रात्रिभोज या चारों पर फलां-फलां-फलां तारीख में किसी भी दिन या तीनों दिन डॉ. मानस मुकुल दास जो इन दिनों यहाँ हैं से बात करने, स्क्रैबल खेलने या बगीचे में साथ बैठने के लिए सादर आमन्त्रित करते हैं।''

रचनात्मकता मानव-मन का एक विशेष गुण हैं। उसकी अभिव्यक्ति शब्दों में ही हो, यह जरूरी नहीं। अज्ञेय की रचनात्मकता सिर्फ उनके लिखे तक सीमित नहीं थी। वह उनके जीने, अनुभव करने के तरीके का हिस्सा थी। रंग, गन्ध, बुनाबट, संरचना, स्वर, गति के हलके से हलके आभास पर उनकी पकड़ अचूक थी। वे चेहरे पर उभरने वाले संवेगों की छोटी-सी हरकत भाँप लेते थे। एक कौर चखकर भोजन में इस्तेमाल हुए विविध मसालों का पता बता सकते थे। छायाओं को देख दिन का प्रहर बता देते थे। कितने ही पक्षियों की आवाजें निकाल सकते थें। वे जानते थे कि कौन-से मौसम में किस पेड़-पौधे पर पत्तियाँ आएगी, कौन-से फूल, कौन-सी सुगन्ध, कौन-से पक्षी, कैसी रोशनी, रंग छायाएँ, आकाश और धरती पर दिखेंगे।

उनका जीवन उनके लेखन की ही तरह इस धरा की वनस्पति, जलराशि, चट्टानों और रेगिस्तानों का उत्सव मनाता रहा। उनके साथ कितने ही पहाड़ों को पैदल नापने, नदी में नाना प्रकार की जलक्रीड़ा करने, रेत में किले बनाने, पहली बरसात में भीगने, गीली रेत भरे डिब्बों में लाल मखमली कीड़े पकड़ने, आवाजें निकाल बसन्त के पक्षियों को चिढ़ाने, बिना केंचुओं को चोट पहुँचाए जमीन खोद कर पौधें रोपने और फिर बगीचे में उनकी बहार की कल्पना करने की असंख्य स्मृतियाँ मेरे साथ हैं। उन्होंने मुझे शरीर की लययुक्त गति से नाव खेना सिखाया ताकि चप्पू के पानी की सतह छूने से छींटे न उड़ें। मैंने उनसे हर किए जाने वाले काम का आनन्द लेना और करते हुए उसे सजग रूप से देखने का गुर सीखा कि जो कर रहा हूँ, उसे कैसे कर रहा हूँ। मुझे याद है एक बार बचपन में उन्होंने मुझसे कहा, ''चलो देखें कि बिना आवाज किये, बिना उँगलियाँ साने, अन्त में प्लेट साफ छूटे ऐसे खाया जा सकता है क्या?'' धीरे-धीरे मैंने छोटी-छोटी चीजों पर इस तरह गौर करना सीखा।

एक घटना तब की है जब मेरा दिमाग राजा आर्थर और उसके शूरवीरों की कहानियों के जबरदस्त प्रभाव में था और में बीसवीं शताब्दी में शूरवीरों के गुणों को आत्मसात कर रहा था। किसी महिला के कार में बैठने या उतरने के वक्त

उनके लिए आगे बढ़कर कार का दरवाजा खोलना मेरे लिए एक वीरोचित काम था। एक कार का पिछला दरवाजा मुझसे कभी नहीं खुल पाता था। एक रोज, मेरे दुर्भाग्य से, मैंने खुद को कार के उसी बेढब दरवाजे के सामने खड़े पाया जब दो महिलाएँ कार की और बढ़ी चली आ रही थीं। अगले ही क्षण अज्ञेय चुपचाप आये और दरवाजा बस एक इंच खोलकर बगल से आगे बढ़ गये। दरवाजे का हत्था थाम मैंने बड़े अन्दाज के साथ उसे खोला। अटल विपदा की घड़ी से 'मर्लिन के हाथ की जादूगरी' ने मुझे छुटकारा दिला दिया था। और इस प्रक्रिया में मर्लिन ने मुझे एक अद्‌भुत सौगात भी दी, बशर्ते मेरे पास उसे देखने की दीठ होः मनुष्य की झेंप के प्रति संवेदशील होने की सौगात, बच्चे के आत्मसम्मान को ठेस न पहुँचाने की संवेदनशीलता। मैं उनकी संवेदनशील, रचनात्मक, स्नेहभरी ऐसी छोटी-छोटी बातों का कायल था। इससे भी गहरा आश्चर्य मुझे तब होता जब वे अपने को समेटकर पूरी तरह मौन को समर्पित हो जाते, अपने चारों और से पूरी तरह अनभिज्ञ। तब वे सिर्फ़ और सिर्फ़ अपने साथ होते। सृजनशीलता सम्बन्धों में पैदा होती है या मौन में? या सम्बन्धों के उस नर्तन में जिसे सिर्फ़ मौन में गुना जा सकता है?

अज्ञेय अपने ही सत्य को जीते और रचते थे; उस बिन्दु पर सत्य की उनकी समझ जैसी होती उस आधार पर। किन्तु समझ बदलती है और परिष्कृत भी होती है। ममेतर से द्वन्द्व में अपनी अस्मिता की तलाश (शेखरः एक जीवनी) से आगे बढ़ते हुए यह तलाश अन्य (अपने अपने अजनबी में सेल्मा) के साथ साझा करने में रूपायित होती है। इसके आगे, अपनी इयत्ता की तलाश सम्पूर्ण सृष्टि के साथ साझा सम्बन्ध कायम करने में परिलक्षित होती है (आँगन के पार द्वार में 'असाध्य वीणा') और फिर भीतर कहीं दो समान्तर अस्तित्वों की अनुभूति से उपजा द्वन्द्वः एक वह अस्मिता जो स्थायी नहीं रहेगी, और दूसरी सम्पूर्ण की अस्मिता, जिसमें घुल गयी, लीन हो गयी अस्मिताएँ क्या कोई वजूद रखती हैं? कैसा? (मरूथलः मरणोपरान्त प्रकाशित कविता संग्रह)।

'शेखर : एक जीवनी' की शुरूआत मृत्युदण्ड की घोषणा से होती है और इसी बिन्दु से शेखर की अपनी अस्मिता की तलाश शुरू होती है। ये व्यक्तित्त्व नकार से, और अधिक धारदार और मुखर होकर विरोध से, संघर्ष में ही अपने वजूद का अहसास पाता है। व्यक्तित्व की खोज का यह तरीका आधुनिक समय में पश्चिमी साहित्य द्वारा की गयी खोजों जैसा ही है जिनमें कामू का उपन्यास लीत्रोंजे (अजनबी) या हेमिंग्वे की 'मनुष्य का क्षरण किया जा सकता है किन्तु हराया नहीं जा सकता' जैसी स्थापनाएँ आ जाती हैं।

अपने अपने अजनबी में सेल्मा अन्य के प्रति द्वेष की भावना रखने से ऊँचे उठकर अन्य के साथ साझा करने में अपना अर्थ और प्रामाणिकता ग्रहण करती है 'अन्तहीन आकाश में फैले उजास की तरह।' द्वन्द्व में अपने व्यक्तित्त्व की तलाश से आरम्भ कर वह रिश्ता कायम करने में, क्षमा और गरिमा में अपना व्यक्तित्व तलाशती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद दिमागी सन्तुलन खो बैठी योके किसी भले मनुष्य की उपस्थिति में आत्महत्या करना चुनती है। क्यों? और जो नेक दिल इंसान उसे मिलता है, उसका नाम जगन्नाथन सृष्टि का कर्ता-धर्ता क्यों है?

'असाध्य वीणा' में एक कथा वर्णित है। किम्वदन्ती बन चुके एक तपस्वी साधक ने राजा को एक वीणा भेंट की जिसे उसने एक विराट वृक्ष किरीट-तरु के तने से बनाया था, जिसमें अनगिनत जीव-जन्तुओं ने आश्रय पाया था और

जिसका फैलाव पाताल को बादलों के पार आकाश से जोड़ता था। पर इस वीणा को बजायेगा कौन? उसे कोई नहीं बजा पाता। तब राजा एक 'केशकम्बली गुफागेह' को आमन्त्रित करते हैं जो वीणा पर माथा टेक, अपने को उसके प्रति समर्पित कर, उस वृक्ष के ध्यान में लीन हो जाता है। ध्यान में स्वयं को तिरोहित करते ही वीणा अपने आप झंकृत हो उठती है और उससे फूटने वाला संगीत सृष्टि का संगीत है, जिसे हर व्यक्ति अलग तरीके से सुनता है। जिस अस्मिता की तलाश यहाँ हो रही है, वह त्रासद नहीं है बल्कि अपने आत्म को सृष्टि की अखण्डता में तिरोहित करने वाली एक गुह्य अस्तित्त्व की तलाश है। वही जिसे कबीर ने कहा है: ''जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं।'' यह शब्द ब्रह्म की तलाश है, ओहम् से सोहम् तक की यात्रा है। किन्तु यह महत्वपूर्ण है कि कविता के अन्त में कवि सीधे अपने पाठक को सम्बोधित करता है: ''प्रिय पाठक, यों मेरी वाणी भी मौन हुई।''

क्यों अज्ञेय आत्म के रहस्य का सन्धान प्रगीतात्मक कविता के प्रथम पुरुष एकवचन में नहीं करते, जैसे रवीन्द्रनाथ करते हैं? क्यों उन्हें वृत्तान्त की ओर मुड़ना पड़ता है और अपने पाठक को सम्बोधित हो, याद दिलाना पड़ता है कि वह जो सुन रहा था वह एक कथा थी। १८४५ में नाटकीय एकालापों के लिए ख्यात रॉबर्ट ब्राउनिंग ने एक पत्र में एलिजाबेथ बैरेट को लिखा था: ''तुम स्वयं बोलती हो, मैं केवल स्त्री-पुरुषों से बुलवाता हूँ, इस तरह सत्य को उसकी इन्द्रधनुषी छटाओं में पकड़ता हूँ और सफेद रोशनी की शहतीर से घबराता हूँ।'' सफ़ेद रोशनी, अविभक्त सम्पूर्णता के अनुभव को वही बखान सकता है जिसने उसका साक्षात्कार किया हो। रहस्यवाद के प्रति अज्ञेय के मन में गहरा खिंचाव था: किन्तु वह उनका अनुभूत सत्य नहीं था। वे अपनी प्रथम पुरुष एकवचन में लिखी गयी कविताओं में अपने अनुभूत सत्य के संघर्ष के प्रति वफादार रहते हैं। जबकि रहस्यवाद के आनन्द को वे एक बाहरी की तरह, किसी कथावाचक द्वारा सुनाई जा रही कथा के रूप में, अद्भुत बिम्बों और शब्दों की ध्वन्यात्मक अनुगूँजों की सृष्टि से एक पौराणिक आख्यान के रूप में सिरजते हैं।

अज्ञेय का स्वयं का सत्य रहस्यवाद के मौन तक तो नहीं पहुँचा, किन्तु आत्मा के आगे पसरे रेगिस्तान की अँधेरी रात (डार्क नाइट ऑफ द सोल) की यात्रा तक अवश्य पहुँचता है, जहाँ आत्म स्वयं अपनी मृत्यु की शून्यता का साक्षी है। अज्ञेय की मरुथल श्रृंखला की कविताओं में हमें, त्रासद संवेदना के उच्चतम शिखर जो लगभग रहस्य के दरवाजे खटखटा रहा है, का एहसास होता है। गुजरते कारवां के वे कौन-से पदचिह्न हैं, जो रेगिस्तानी अन्धड़ों में खो गये?

''कैसे करें हम
कि वह उतरे
उतर कर वही हो जो कि वह है?
अगर हम नहीं हो पाते वह
कि जो हमें होना है?
मरु में उसने रचा है हमको
क्या हम उसमें रचेंगें एक मरु?''

मरुथल श्रृंखला की कविताओं में हमें अज्ञेय की सादगी का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है; एक त्रासद दृष्टि-विन्यास के कवि के रूप में, जो अपने देवता को नहीं छोड़ सका जिसने अपने मरु देवता से संघर्ष किया कि वह खुद मरुथल में विलीन हो जाए, अपने मरु देवता का मरुथल बन जाए। स्वीडी लेखक पेल लागरक्विस्त, जिनकी उपन्यास-त्रयी का उन्होंने महायात्रा नाम से अनुवाद भी किया था, की तरह अपनी कविता में अज्ञेय ईश्वर के प्रतिद्वन्द्वी की मुक्ति तलाश रहे हैं। पाषाण ईश्वरत्व से टकराकर वे विदा होते हैं किन्तु अपने जीवन की बालू पर अपनी फूँक से लिख चुकने के बाद। क्या ईश्वर वह मरुथल है जो दूसरों को मरुथल में तब्दील करने के लिए ही उन्हें नष्ट करता है?

अज्ञेय की यह यात्रा एक आश्चर्यचकित करने वाली यात्रा है, अपने विकास के हर पड़ाव में अत्यन्त ईमानदार। उन्होंने वही लिखा, जो वे थे। और उन्होंने अपने सत्यों को अपनी लेखनी और अपने जीवन दोनों से सत्यापित किया।

किशोरावस्था में लाहौर विश्वविद्यालय से अँग्रेजी में स्नातकोत्तर परीक्षा देने के दौरान उनका सत्य क्रान्ति था और इसलिए वे एक गुप्त क्रान्तिकारी दल के सदस्य बन गये। दिल्ली षडयंत्र मुकदमे में अभियुक्त होने के नाते उन्नीस वर्ष की उम्र में अँग्रेज हुकूमत के विरुद्ध षडयंत्र रचने तथा दूसरे गम्भीर आरोपों में उन्हें जेल में डाल दिया गया (१९३०-३४)। जिस मृत्युदण्ड के उल्लेख से 'शेखरः एक जीवनी' का आरम्भ होता है, वह एक निकट की आशंका थी। मृत्यु से यह नजदीकी साक्षात्कार और इतने मनमाने ढँग से कट जाने के कगार पर खड़ी एक युवा जिन्दगी का अर्थ ढूँढने की ऊहापोह ही इस अधूरी रह गयी कृति की विषयवस्तु बने, जिसका पहला और दूसरा भाग क्रमशः १९४१ और १९४४ में छपे। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान फासीवाद दुश्मन के रूप में उभरा और १९४३ में अज्ञेय सेना में भर्ती हो गये। लेकिन जब सीमा पर जापान के हमले का खतरा बना, तब उन्हें लोगों में दुश्मन के प्रति प्रतिरोध की जागरूकता लाने के काम के लिए कप्तान बना कर शिलांग भेजा गया। यहीं पहली बार उनकी मेरे पिता से मुलाकात हुई।

फासीवाद का सक्रिय विरोध करने की गरज से अज्ञेय सेना में भर्ती हुए थे। फासीवाद की हार के साथ युद्ध के समाप्त होते ही उन्होंने सेना से इस्तीफा भी दे दिया। उन्होंने अपने जीवन में कई साहसिक कार्यों का बीड़ा उठाया, लेकिन आजीविका की गरज से नहीं; सदैव इसलिए कि वह कार्य उनकी दृष्टि में जरूरी था।

वे दिनमान के पहले सम्पादक बने और उसे ऐसी पत्रिका की शक्ल प्रदान की जो राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय गतिविधियों के हर पहलू पर आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करती थी। हिन्दी में इसके पूर्व ऐसी कोई पत्रिका नहीं थी। उन्होंने सहयोगी पत्रकारों और लेखकों को चुना और अपने साथ जोड़ा। नयी पत्रिका की सफलता के लिए अपने समूह के सदस्यों के साथ मिलकर हिन्दी गद्य का एक लचीला पठनीय स्वरूप भी तैयार किया। उस दौर में मैं जब दिल्ली जाता तो उन्हें दिनमान के सहयोगियों के साथ काम करते देखता। हालाँकि मैं स्वयं कोई सहयोग करने की उम्र में नहीं था, पर चाव से देखता कि किस तरह वे सौहार्द, उत्साह और शालीनता के साथ सहयोगियों से अंक की हर सामग्री पर चर्चा करते। उनका व्यवहार जताता था कि सहयोगी बराबर से सहकर्मी हैं, निरे मातहत नहीं।

वे नवभारत टाइम्स के भी सम्पादक हुए। जेपी के 'एवरीमेन्स वीकली' का भी सम्पादन किया। बिना किसी आर्थिक सहयोग के उन्होंने 'प्रतीक' और 'नया प्रतीक' के कई अंक तथा 'वाक्' नामक अँग्रेजी पत्रिका के कुछ अंक निकाले। पाठकों के चंदे से मिलने वाली राशि उसे छापने पर आने वाले व्यय से हमेशा कम रहती। जब उनका अपना आर्थिक स्रोत सूख गया तो पत्रिकाएँ बन्द हो गयीं; पर हिन्दी साहित्य और आलोचना में अपना समुचित योगदान स्थापित करने के बाद। वैशाख से शुरू होने वाली भारतीय कालगणना के अनुसार ग्रीष्म से लेकर बसन्त तक छह ऋतुओं के लिए प्रतीक के छह अंक साल में निकलते थे पृष्ठ पर प्रतीक के विचार को स्पष्ट करते हुए एक टीप छपती थीः

प्रतीक पत्र भी है, पुस्तक भी। वह पत्र की नियमितता से प्रकाशित होगा और पत्र की भाँति सामयिकता, नूतनता और विविधता लिए हुए होगा।.... वह पुस्तकोचित गम्भीरता और स्थायित्व लिए रहेगा और पुस्तक की मर्यादा के अनुकूल साहित्य-रचना को प्रेरित और प्रभावित करने की क्षमता भी उसमें होगी।

जैसे पत्रिका की घोषणा न हो, किसी सृजनात्मक समुदाय का घोषणा-पत्र हो। प्रतीक में छपने वाली कविताएँ, कहानियाँ, आलोचनात्मक लेख, पत्रिका का आवरण और प्रस्तुतीकरण सब इस स्तर के थे कि लगता था वह साहित्य में नव-आन्दोलन की ही आवाज हो। मुखपृष्ठ के भीतरी पृष्ठ पर सम्पादकीय व दफ़्तरी पता १४, हेस्टिंग्स रोड का दिया रहता था, जो एक छत के नीचे रह रहे लेखक समूह का साझा पता भी था। गुप्त क्रान्तिकारी दल की सदस्यता, जेल में एकान्तवास का चुनाव ताकि मौन और नितान्त अकेला रहा जा सके, फासीवाद से लड़ाई में मित्र देशों की सेना में कप्तान के नाते भर्ती होना और फिर लड़ाई के उपरान्त सेना से निवृत्ति ले एक बार फिर समय के अपने सत्य को समर्पित हो जानाः रचनात्मक जीवन में स्वयं के निमित्त जो है उसका दूसरों के साथ साझा। किन्तु अज्ञेय सिर्फ एक साहित्यिक आन्दोलन की अगुवाई नहीं कर रहे थे। उनकी कोशिश लगातार खुद को मनुष्य के रूप में विकसित करने की, जीवन और मृत्यु के अर्थ की रही। इस परिवर्तन के क्या कारण रहे होंगेः शेखर के सौन्दर्यात्मक शून्यवाद और अक्खड़ मानववादी व्यक्ति से होते हुए अपने अपने अजनबी में क्षमा और साझा करने में गरिमा और अर्थवत्ता का बोध और फिर ईश्वर के प्रतिद्वन्द्वी का मरुथल के देवता से दो टूक संवाद?

अज्ञेय पढ़ते खूब थे। उन्होंने मुझे रिल्के और लागरक्विस्त को आतोनलैण्ड के डब्ल्यू.एच.ऑडन और लीफ़ जोबर्ग द्वारा किया गया अनुवाद पढ़वाया थाः

ईश्वर जो नहीं है

वही मेरी आत्मा को जलाता है,

मेरी आत्मा को जो उजड़ बना देता है

एक जलती जमीन, एक झुलसी हुई धरती, आग से तपी हुई

क्योंकि वह नहीं हैं।

वही है जो मेरी आत्मा को बचाता है, उसे मरु बनाकर

और झुलसाकर।

ईश्वर जो नहीं है

वह भयावह देवता।

किन्तु आन्तरिक परिवर्तन शायद पढ़ने मात्र से नहीं, सहानुभूति और तादात्म्य के द्वारा, गहरे व्यक्तिगत अनुभव अथवा किसी आदरणीय, घनिष्ठ के ऐसे परिवर्तन से गुजरने से सम्भव होता है। १९५६ से १९५८ के बीच लिखी कविताओं का संग्रह अरी ओ करुणा प्रभामय, जो १९५९ में छपा, शायद उज्ञेय के मानसिक विकास में आ रहें बदलाव का प्रमाण है। पुस्तक का समर्पण इस प्रकार हैः

गुरूस्थानीय बउदि को

हाँ, विस्मय विभोर

सब जैसे हैं मैं भी हूँ

किन्तु जानता हूँ रहस्य मैं अन्तःरतम में

धरणी शुभदा, भरणी है

पर यह प्रणाम मेरा

है तुमको, केवल तुमको

'गुरूस्थानीय बउदि' मेरी माँ थीं। वे अपने चारों ओर, हर किसी का ध्यान बहुत सहज, सरल, गरिमापूर्ण रूप से रखती थीं। अपने बड़े बेटे की मृत्यु की गहरी वेदना में भी उनका अपने कठोर देवता से सम्बन्ध टूटा नहीं। वे छोटे काम को भी ईश्वर की उपस्थिति महसूस करते हुए करती थीं। उनका देवता उन्हें ढाँढस नहीं बँधाता था, बल्कि स्वयं से अधिक प्रेम करने की प्रेरणा देता था। वे अपने इर्दगिर्द होने वाली अनर्गल कानाफूसियों और कारस्तानियों से पूरी तरह अप्रभावित रहती थीं। उनकी आध्यात्मिक डायरी, जिसमें कृष्ण की बाँसुरी के निराकार-अपरिमित संगीत की तरह एक प्रवाह था, जिसका एक भी शब्द कटा-छँटा नहीं होता था, लिखित ध्यानावस्था में, अपने ईश्वर के साथ उनके संवाद का दस्तावेज़ है।

पिताजी की पढ़ाई शान्तिनिकेतन में हुई थी। यह रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल पुरस्कार मिलने के थोड़े बाद का समय रहा होगा। फिर उन्होंने चिकित्साशास्त्र की पढ़ाई की। माँ से विवाह के बाद १९३२ में शिलांग आकर बस गये। वहाँ डॉक्टरी का काम शुरू कर दिया। वहीं १९३६ में मेरे भाई का और १९४१ में मेरा जन्म हुआ। चालीस के दशक में हम 'गिरिमाया' नामक छोटे, सुन्दर से बँगले में रहते थे जो एक पहाड़ी की पीठ पर था। वहाँ से एक सड़क ऊपरी शिलांग की और जाती थी और दो सड़कें नीचे कस्बे की ओर। माँ घर के सारे कामकाज करती थीं।

खाना बनाने, घर की साज-सम्भाल करने और बागवानी में माँ का जवाब नहीं था। एक बार शिलांग घूमने आये डच लोगों के दल ने उनके बगीचे की तस्वीरें यह कह कर खींची थीं कि किसी घर में इतना सुन्दर बगीचा उन्होंने कभी नहीं देखा। वे बुनाई करतीं, कढ़ाई करतीं और बाद में चमड़े की अद्‌भुत चीज़ें भी बनाती थीं, जो हुनर उन्होंने दरअसल अज्ञेय से सीखा था। भोजन की मेज खासी बड़ी थी, उस पर दस लोग बैठकर खा सकते थे। हर शाम घर पर मेहमान होते और उन्हें हमेशा रात्रिभोजन के लिए रुकने को कहा जाता। शान्तिनिकेतन का वसुधैव कुटुम्बकम् का सूत्र हमारे घर पर पूरी तरह से लागू होता था। पिता को लोगों की आवभगत करना अच्छा लगता था। उस सुन्दर पहाड़ी शहर में आने वाले मित्र और मित्रों के मित्र हमारे यहाँ ही रुकते। कुछ मशहूर शख्सियतें भी हमारे यहाँ ठहरी थीं। किशोर सत्यजित राय अपनी माँ के साथ एक महीने हमारे यहाँ ठहरे। उनकी माँ ने कई स्वादिष्ट व्यंजन माँ को सिखाये। मेरे पिता के गुरू क्षितिमोहन सेन भी हमारे यहाँ ठहरे। सुधीर खास्तगीर आये और आठ दीवार वाली बैठक की चार दीवारों पर उन्होंने बुद्ध के जीवन की कुछ घटनाएँ भी चित्रित कीं।

एक शाम पिता अपने दवाखाने से लौटे तो साथ में अज्ञेय को घर लेकर आये। वे फौजी वर्दी में थे। चार साल का था और मेरा भाई नौ साल का। अज्ञेय से हमारा परिचय 'केप्टर काकू' के रूप में करवाया गया। पिता के तमाम मित्र जो उनसे उम्र में छोटे होते, उन्हें हम 'काकू' और उनमें बड़ों को 'जेटू' कह कर बुलाते थे। उनकी पत्नियों को हम काकीमा या जेठीमा न कह कर पीशीमा कहते थे। अज्ञेय पिताजी को डॉक्टर या आशा दा कहकर सम्बोधित करते थे। पिताजी उन्हें आजीवन कैप्टन कहकर बुलाते रहे, जबकि कुछ समय बाद अज्ञेय ने सेना से निवृत्ति ले ली थी। थोड़े अरसे बाद, जब ग्यारह बरस की खासी बड़ी उम्र में मेरा स्कूल में दाखिला हुआ, मेरे पास एक ऑटोग्राफ़-बुक थी। उसके पन्नों के एक कोने पर मैंने पक्षियों और जानवरों के चित्र चिपका रखे थे। जब मैं उस कॉपी को अज्ञेय के पास लेकर गया तो उन्होंने उसमें गिलहरी वाला पन्ना चुना और हस्ताक्षर के साथ अँग्रेज़ी में जो लिखा उसका अनुवाद कुछ इस तरह होगाः

थियोफिलस गिलहरी जहाँ दिखती है

वहीं रहता है जंगल का खतरनाक डाकू;

और नीचे जो हस्ताक्षर तुम देखोगे

उसके मायने हैं तुम्हारे कैप्टन काकू।

एस.एच. वात्स्यायन

उन्हें जब कैप्टन काकू के रूप में हम दोंनो से मिलवाया गया तो उनकी मुस्कराहट देखकर उसी घड़ी हमें लगा कि हम उन्हें शायद अपने साथ खेलने के लिए आमन्त्रित कर सकते हैं। वे राजी हो गये। हम उन्हें बगीचे में ले गये जहाँ हमारे अन्य मित्र ताप्शु, झोन्टू और जॉली भी आ गये थे। जल्द ही हम मौज-मस्ती में खो गये। अज्ञेय ने अपनी उँगलियाँ एक-दूसरे में फँसा कर सिर के पीछे रख लीं। हम उनकी बाँहों से लटक गये और वे हम पाँचों को लटकाकर

मैरी-गो-राउंड की तरह घूमने लगे। जब हमारी पकड़ ढीली होने लगी, तब हम एक-एक कर घास पर हँसते-हँसते लुढ़क कर गिर गये। हमने उनसे पूछा कि क्या उन्हें कोई करतब भी आते हैं? वे सिर के बल खड़े हो गये और फिर हमें हाथों पर चलकर दिखाया। अपने रूमाल का चूहा बना कर भी कुदाते रहे। उस दिन के बाद से वे अक्सर हमारे घर आने लगे। काम से लौटते समय अमूमन वर्दी में ही होते। एक दिन मैंने पूछ लिया ''क्या आपके पास एक ही पोशाक है?'' उन्होंने पूछा, ''क्या तुम अपनी कुछ पोशाकें मुझे दोगे?'' मैंने उन्हें ऊपर से नीचे तक देख कर कहा, ''वे तो आएँगी नहीं आपको।''

हम पिकनिक मनाने के लिए चेरापूँजी जा रहे थे। पाँच साल का मैं बगल में बैठा था। जंगल के एक गेस्ट हाउस में गाड़ी रुकी, जहाँ उन्होंने हमारे लिए नाश्ते का इन्तज़ाम करवा रखा था। हम एक मेज के इर्द-गिर्द बैठे थे। खानसामा अण्डे लेकर आया और सबसे पहले मेरी तश्तरी में दो तले अण्डे रख दिये। चौंक कर माँ बोली, ''क्या यह जायंट (दैत्य) है जो दो अण्डे खा लेगा?'' पिता हँसकर बोले, ''उसके साथ एक जायंट काकू भी तो हैं!'' उस दिन के बाद कई सालों के लिए 'कैप्टन काकू' हमारे लिए 'जायंट काकू' हो गये और अज्ञेय भी मुझे वर्षों तक 'जायंट' कह कर पुकारते रहे। वे बहुत खयाल रखने वाले व्यक्ति थे, इस बात का खयाल रखने वाले भी कि बड़े हो गये बच्चे को उनके व्यवहार से झेंप न हो। जब उन्हें लगा कि अब मुझे लोगों के सामने जायंट कहलाना अच्छा नहीं लगेगा, उस रोज से, बिना इसका अहसास दिए, मैं 'मानस' हो गया।

लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। इसी बीच पिताजी को दिल का दौरा पड़ा। लेकिन तबीयत सँभल गयी। शायद उनके लिए पहाड़ पर और रहना ठीक नहीं था। अज्ञेय सेना से त्यागपत्र दे चुके थे। उनके साथ उत्तर भारत की यात्रा का कार्यक्रम बना। इसका एक उद्देश्य यह भी था कि अगर हमें पहाड़ छोड़कर रहना है तो पिताजी उपयुक्त नयी जगह ढूँढ़ सकें।

बनारस पहुँचकर हम गदोलिया में श्रीपत राय के घर रह रहे थे। मेरे जन्म के समय माँ के मन में बेटी की चाहत थी। इसलिए उन्होंने मेरे बाल कटवाये नहीं। वे मेरे कन्धों पर झूलते रहते थे। एक रोज़ मैं सबके सामने कैंची लेकर अज्ञेय के पास गया और उनसे मेरे बाल काट देने को कहा। वे मुस्कुराकर राजी हो गये और माँ को चिढ़ाते हुए बोले कि पहले पहल बाल उतारने के लिए बनारस सबसे उपयुक्त जगह रहेगी, बाल की सारी लटें सीधे स्वर्ग को जाएँगी। लटों के स्वर्ग पहुँचने का तो पता नहीं, पर यह दावे से कह सकता हूँ कि इतना ख़ासुलख़ास पहला नाई किसी दूसरे को नसीब नहीं हुआ होगा !

शिलांग से अमृतसर और लाहौर तक पूरे उत्तर भारत की यात्रा करते हुए हम इलाहबाद पहुँचे। युद्ध की समाप्ति के बाद अज्ञेय के मन में समान धर्माओं के साथ एक सृजनात्मक सहचर्य का विचार चल रहा था। अज्ञेय, श्रीपत राय, भारतभूषण अग्रवाल, बिन्दु अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, रेखा जैन, उनकी बेटी रश्मि और अन्य लोग चौदह, हेस्टिंग्स रोड़ पर साथ रहने लगे। उस समय प्रतीक का सम्पादन इलाहबाद से ही किया जा रहा था और उसकी छपाई श्रीपत राय के बनारस स्थित सरस्वती प्रेस नामक छापेखाने से होती थी। हम लोग अज्ञेय के पास उसी घर में शायद १९४७

की शुरूआत में पहुँचे और कुछ माह रूके। बाद में वहाँ फिर आये।

शिलांग में रहना पिताजी के लिए अब ठीक नहीं था तो हम इलाहबाद में रह सकते थे। पर पिताजी उस पहाड़ी शहर को एक और मौका देना चाहते थे जहाँ उन्होंने जीवन के सोलह खुशगंवार वर्ष बिताये थे। किन्तु शिलांग लौटने पर उन्हें दिल का दूसरा दौरा पड़ा और अब वे समझ गये कि पहाड़ों में रहना उनके लिए दुष्कर होगा। जीवन में उन्होंने जोड़ा कुछ ख़ास नहीं था। कमाया तो खर्च भी खुले हाथ किया। अज्ञेय ने हमें चौदह, हेस्टिंग्स रोड़ पर रहने का आमन्त्रण दिया। आर्थिक और भावनात्मक रूप से कठिन दौर से गुज़रते हुए मेरे माता-पिता अज्ञेय के सम्बल के चलते हम बच्चों को लेकर दिसम्बर १९४७ में इलाहबाद आ गये। उस जगह का माहौल कुछ ऐसा था कि हम बच्चों को कठिन दौर की भनक भी नहीं हुई। हर परिवार उस विशाल बंगले के अलग-अलग हिस्सों में रहता था। शुरूआत में अज्ञेय और श्रीपत राय अविवाहित थे। बाद में श्रीपत राय का विवाह उसी घर में सम्पन्न हुआ। रसोई एक ही थी जिसका जिम्मा मेरी माँ के पास था।

१९४७ से मई १९५० के बीच हम उनके साथ रहे। शिलांग के कुछ मकानों को छोड़कर ज़्यादातर १४ या १८ हेस्टिंग्स रोड़ के घर में जहाँ कई और परिवार साथ रहने को आते और जाते रहे। पूरी सूची देना उबाऊ होगा किन्तु उसी दौर में पहली बार मैं इलाहबाद के प्रसिद्ध कॉफी हाऊस गया। घर के अन्य लोग वहाँ रिक्शे से पहुँचे। मैं अज्ञेय की हम्बर साईकिल पर गया। वे ज़मीन पर पैर जमाये सीट पर बैठे और मैं उनके कन्धे पकड़कर कैरियर पर खड़ा हो गया। कॉफी हाऊस पहुँचने पर मैं वीर-दर्प के साथ साईकिल से कूदकर उतरा। साईकिल की वह मेरी पहली सवारी थी। पहाड़ों में साईकिल कोई नहीं चलाता था। जब हम दूसरे वाले घर में रहने आये, उस वक्त श्रीपत राय अपनी पत्नी के साथ ६, ड्रमण्ड रोड पर चले गये। उस घर को बाद में उन्होंने खरीद लिया। उनके साथ हमेशा दोस्ती बनी रही। वे और शिवमंगल सिंह सुमन, जब बीच में कुछ समय के लिए हम लोग वापस शिलांग चले गये थे, हमारे यहाँ कुछ दिनों के लिए आये।

प्रतीक दो साल चला और पैसे ख़त्म हो जाने पर बन्द हो गया। मई १९५० तक सारे परिवार भी इधर-उधर चले गये। कुछ गहरी दोस्तियाँ बनी रहीं और एक बच्चे के दिमाग में कुछ अमिट सुप्त स्मृतियाँ, जिनका करीब छः दशक बाद एक अलग ही रूप में, सृजनात्मकता की और स्थान की एक अलग ही अवधारणा लिये पुनः प्रस्फुटित हुआ। सृजनात्मकता अभिव्यक्ति की चाह की उपज है या दिमाग की एक विशिष्ट अवस्था ?क्या 'स्थान' धरती पर फैला, नापा जा सकने वाला विस्तार है या मनुष्य की चेतना में न नापा जा सकने वाला विस्तार ?किन्तु यह एक अलग कहानी है। आकाश के संग मेरे सम्वाद और कार्य करते हुए जीवन से सीखने की कहानी। उस अभी भी घटित हो रही अद्भुत कहानी का वृत्तान्त कभी और कहा जायेगा।

१९५० में अज्ञेय दिल्ली चले गये। पिता हम सबको लेकर बेली रोड स्थित 'बसुधा' नाम के सुन्दर-से छोटे घर में रहने आ गये, जिसमें पहले कभी हरिवंश राय बच्चन और सुमित्रानन्दन पन्त रह चुके थे। पन्त ने ही इस घर का नामकरण किया था जो वहाँ एक संगमरमर की पट्टी पर खुदा था : बच्चन से 'ब', सुमित्र से 'सु' और धाम से 'धा'। पन्त ने ही मकान मालिक से पिता की मुलाकात करवाई थी। अज्ञेय का अक्सर इलाहबाद आना होता था और वे

हमारे साथ 'बसुधा' में ही ठहरते थे।

हम ४ मई, १९५० को 'बसुधा' में रहने आये। अगले तैंतालीस वर्ष वही मेरा घर रहा। दो अक्टूबर को मेरी माँ का जन्मदिन पड़ता है। एक बार दो तारीख की रात लगभग बारह बजे अज्ञेय घर पहुँचे। जो हमेशा तोहफ़ों को बहुत सलीके से कागज़ में लपेटकर दिया करते थे, उस रोज़ उनके हाथों में बेतरतीब चिंदियों से लिपटा एक बण्डल था। उसे उन्होंने माँ के हाथों में सौंपा, माँ हाथ में लेते ही समझ गयीं कि उसमें क्या है। उन्होंने हौले से चिन्दियाँ खोलीं : भीतर एक मुस्कुराते, बंशी लिये कृष्ण की संगमरमर की मूर्ति निकली।

माता-पिता जन्म से ब्रह्मसमाजी थे, जिसमें मूर्तिपूजा और पूजा-पाठ आदि की मनाही थी। लेकिन बचपन से माँ का कृष्ण के प्रति गहरा झुकाव था। उन्होंने मूर्ति के लिए अलग से कोई मन्दिर नहीं बनाया पर कमरे की अलमारी के सबसे ऊपरी खण्ड के बीच उसे रख दिया। कभी-कभी उसके पास वे गुलदान में फूल सजाकर रख देतीं। भगवान वहाँ मुस्कुराते खड़े रहते। उनके आसपास कोई तामझाम नहीं होता था। न कोई उन्हें प्रसाद चढ़ाता, न अगरबत्ती जलाता। कोई उनके आगे बैठ प्रार्थना भी नहीं करता था। वे मुस्कुराते वहाँ खड़े रहते ; सुन्दर पत्थर के शोभित बुत। अलमारी के ऊपरी हिस्से में वे प्रतीक्षारत खड़े रहते ; अभ्यर्थना की प्रतीक्षा में।

१५ अगस्त, १९५१ की स्वतन्त्रता दिवस की परेड देखकर लौटने के बाद मेरा भाई बीमार पड़ गया। तब वह पन्द्रह साल का था-लम्बा, मजबूत, जीवन्त और शरारती, प्रेम से भरपूर और सारे आस-पड़ोस का चहेता। फ़ादर जॉर्ज भी उसे चाहते थे, इसके बावजूद कि उसकी पढ़ने में रूचि नहीं थी और स्कूल से भाग कर स्केटिंग करता या नदी किनारे जा बैठता। उसकी बीमारी डॉक्टरों की समझ के बाहर थी। शहर के छह बड़े डॉक्टर और पिता के मित्र, रोगी के खून, थूक, एक्स-रे आदि की जाँच में लगे थे। क्या टी.बी. है? नहीं। फिर क्या हो सकता है? रेडियोलोजिस्ट मेजर डे ने फेफड़े के एक्स-रे में दिखती विचित्र छाया की ओर इशारा किया : फफूँद की छाया। रोग पकड़ में आया : मोनालिएसिस। चिकित्सा के इतिहास में इसके गिने-चुने मामले तो दर्ज थे पर इलाज कहीं नहीं था।

भाई -माँ के कमरे में बिस्तर पर लेटा रहता : कभी-कभी पीड़ा में और खून की उल्टियाँ करते हुए, पर अक्सर खुश और मुस्कुराता चेहरा लिये हुए। माँ हर वक्त उसके पास बैठी महाभारत-रामायण की कहानियाँ सुनातीं या रवीन्द्रनाथ का पाठ करती, जिनका नाम हमारे परिवार का हिस्सा था। उसकी बीमारी की खबर पाकर लोग उससे मिलने आते। गहरी मित्रताएँ कायम हुईं, जिनमें से कुछ आजीवन बनी रहीं। कभी-कभी बिस्तर पर लेटे-लेटे वह संगमरमर की उस मूर्ति की ओर मुस्कुराता और हाथ से पास बुलाने का इशारा करता। माँ का इस पर ध्यान गया और उन्होंने पूछा, 'क्या मैं उसे तुम्हारे तकिये के पास रख दूँ?' वह खुश हो गया। उस दिन से ११ सितम्बर १९५१, भादो की शुक्ल एकादशी, उसकी मृत्यु के दिन तक, वह मूर्ति वहीं रखी रही। जिस दिन उसकी मृत्यु हुई उस सुबह भाई माँ से बोला, 'रोना मत माँ, मुझे जाना होगा, कृष्ण मुझे लेने आये हैं।'

उस शाम मूसलाधार बारिश के साथ बादलों की गर्जन हो रही थी। बिजली रह-रहकर आसमान के भाल को चीर जाती थी। पर घर उसे देखने आये लोगों से भरा था। वह स्वयं उठ पाने में असमर्थ था, सो माँ को सहारे के लिए कहा। फिर हाथ जोड़कर मिलने आये लोगों से विदा ली। शाम पौने सात बजे तीन बार अपने प्रिय देवता का नाम

लेकर वह माँ की गोद में सदा के लिए सो गया। मैं तब दस बरस का था। मैं रोता हुआ बाहर की ओर दौड़ गया। एक पड़ोसन ने मुझे अपनी बाँहों में ले लिया। उस रात बाद में माँ भाई के शरीर को लेकर बैठी नहीं रहीं। भावनाओं के ज्वार से रह-रहकर टूटती आवाज में वे रवीन्द्रनाथ के मृत्यु गीत गाती रहीं और शव को श्मशान ले जाने दिया। फिर अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द कर वेदना में कृष्ण की मूर्ति के सामने बैठ गयीं, जिसमें अब उनके बेटे के यों चले जाने से प्राण प्रतिष्ठित हो गये थे। बगल के कमरे से मुझे कभी उनके रोने की आवाज़ सुनाई पड़ती, कभी निविड़ सन्नाटा।

भाई बीमार पड़ा, तब अज्ञेय कश्मीर में थे। उन्होंने कमल के फूलों से आच्छादित झील का एक पिक्चर पोस्टकार्ड भेजा और लिखा 'बापी, जल्दी ठीक हो जाओ। फिर हम साथ-साथ कश्मीर आएँगे।' कार्ड देर से पहुँचा। पिता का तार पाते ही अज्ञेय तुरन्त इलाहाबाद आये। जब घर पहुँचे मौन और गम्भीर तो माँ बोल पड़ीं, 'बापी नहीं रहा। अब वह तुम्हारे साथ कभी कश्मीर नहीं जा सकेगा।' वे मृत्यु की शून्यता के सामने खड़ी थीं जिससे आगे भी उनका कई बार साक्षात्कार होना था, पर उन्होंने अपने ईश्वर को कभी नहीं छोड़ा। अक्सर वे अकेली अपने कृष्ण के आगे बैठी रहतीं। वे गहरे अकेलेपन के दौर से गुजर रही थीं, जिसमें किसी भी चीज का सहारा नहीं था। उस अकेलेपन में उनका सम्वाद केवल अपने देवता से था कभी मौन, कभी गीतों के जरिए। पिता भी अवसाद में डूबे थे। अज्ञेय चुप खड़े रहे। सान्तवना देने की कोशिश उन्होंने नहीं की। उनका मौन मुझे कहीं किसी गहरायी में छूता था। उन दिनों जब माँ के चेहरे को देखता तो लगता था कि प्रतिदिन एक प्रशान्त सौन्दर्य वहाँ छा जा रहा था।

भाई की मृत्यु के साथ एक तरह से मेरे बचपन का अन्त हो गया। वह मेरा मित्र था। मैं उसके साथ ही झगड़ता, खेलता था। अब वह सब कुछ ख़त्म हो गया था। पड़ौस में भले बच्चे थे, जिनके साथ मैं शाम को खेलने चला जाता था। लेकिन पुराना समय लौटकर नहीं आता। सम्बन्ध की वह गहरायी अब नहीं थी। अब मैं अकेले रहने और परोक्ष में बड़ों की बातें सुनने में आनन्द पाता था। मैं छत पर, बगीचे के पेड़ पर, गंगा किनारे या अपने छोटे कमरे में बैठा किताबें पढ़ना पसन्द करता था।

पिता दिल के दौरे झेलने के बाद पैंतालीस वर्ष की उम्र में रक्तचाप के मरीज बनकर इलाहाबाद आये थे। उन्हें शहर में नये सिरे से अपनी डॉक्टरी जमानी थी। वे गरीबों और मित्रों से फीस नहीं लेते थे। और उनका स्वभाव ऐसा था कि उनके मरीज बहुत जल्दी उनके मित्र बन जाते थे। अतिथियों की ख़ातिर करने के दिन अब गुज़र चुके थे। किन्तु अब अगर उनके पास पैसा देने वाले मरीजों की कमी थी तो कई गहरे-गम्भीर मित्र थे जो भोजन न सही, माँ द्वारा परोसे गये चाय-नाश्ते के साथ सम्वाद में शरीक होने आते रहे। एक बड़े समूह ने मिलकर 'विचित्रा' नामक एक संस्था बनाई थी, जिसकी बागडोर पिताजी के हाथों में थी। वे पिता से रवीन्द्र संगीत सीखने आते थे। उनमें कई प्रतिभाशाली लोग थे जो अलग-अलग साज बजाते थे। साल में दो-तीन बार वे किसी बड़े हॉल या स्कूल के मैदान में रवीन्द्र-नृत्य-संगीत उत्सव का आयोजन वर्षा, या नव-वर्ष के आगमन, या ऐसे ही किसी मौके को लेकर करते थे।

माँ मेल-जोल से, घर के बाहर की गतिविधियों से दूर रहती थीं। पर हर वर्ष ११ सितम्बर को मेरे भाई की पुण्यतिथि और बुद्ध पूर्णिमा के दिन उसका जन्म दिवस अवश्य मनातीं। इन मौकों पर पिता युवाओं को रवीन्द्र संगीत सिखाते तथा वे और उनके मित्र मिलकर माँ के चुने गीत, जो अक्सर रवीन्द्रनाथ के होते, गाते थे। यहाँ मैं उनमें से केवल

एक को उद्धृत करूँगा :

जिस रात मेरे घर के दरवाजे तूफान में टूटे थे
क्या जानता था मैं कि वह तुम आये थे।
सब कुछ कालिमा में डूब गया
दीया बुझ गया
किसके लिए मैंने हाथ आसमान की ओर उठाया ?
अन्धकार को ताकता रहा स्वप्न मानकर
तूफान जो तुम्हारी जय ध्वजा है क्या मैंने जाना ?
भोर, जागने पर पाया मैंने
वहाँ तुम्हें खड़ा
घर पर छाये शून्यता के वक्ष पर
जाना नहीं तुम मेरे आये घर में।

घर के सारे कामकाज निपटाकर, पेड़-पौधों की देखभाल, सिंचाई आदि के बाद सन्ध्याकाल माँ बरामदे की सीढ़ी पर बैठे आकाश के बदलते रंग और पेड़ों का डोलना चुपचाप देखती रहती थीं। आसमान में तारों के आने तक वे वहाँ शान्त बैठी रहती थीं। फिर उठकर एक दीया जलाकर मुक्त आकाश के नीचे एक चौकोर पत्थर पर रख देतीं। एक दिन उनके पास बैठे मैंने ऐसा करने की वजह पूछी तो वे बोलीं, 'जब मैं देखती हूँ हर रात कोई मेरे लिए हजारों तारों से अन्धकार को सजा रहा है तो उसके उद्देश्य में मैं एक प्रदीप जलाती हूँ।'

दूसरा एक दिनः मेरे भाई का जन्मदिवस था। लोग आने को थे, संगीत शुरू होने वाला था। माँ के कमरे के सामने से गुजरते हुए मैंने पर्दों के बीच से देखा, माँ घर के सारे काम करने वालों के साथ थीं। माली, कहारिन, धोबिन, पिताजी का रिक्शावाला, स्नानघर आदि साफ करने वाली। वे हर एक को मिठाई का डिब्बा और फूलमाला देते हुए उनके पैर छू रही थीं। रात में जब मैंने उनसे ऐसा करने का कारण पूछा तो वे बोलीं ''मै अपने देवता को, जो उनके अन्दर रहकर मेरा सब कामकाज करते हैं, प्रणाम कर रही थी।"

माँ का धर्म किसी संस्कृति विशेष का नहीं था। उन्होंने आराधना के अपने अनुष्ठान रचे थे। अनन्त से उनकी अन्तरंगता वैसी ही थी, जैसी हमारी अपने मित्रों से हुआ करती है। जब वे गातीं तो जैसे उनका सम्पूर्ण अस्तित्त्व गा रहा होता था। उनका गान अपने ईश्वर के लिए था, श्रोताओं के लिए नहीं। वे घर में कामकाज करते हुए या फिर सदा से बंसी बजा रहे अपने आराध्य के आगे बैठकर गाती थीं।

दुख के समय वे लोगों के हृदय को स्पर्श कर सकती थीं और आनन्द के क्षणों को अधिक समृद्ध बना सकती थीं। जिसे वे गलत समझती थीं, उसके खिलाफ दृढ़ता से अपने को व्यक्त करती थीं। एक बार मैंने लापरवाही से एक लिफाफे पर पता लिखा था। उसे देख वे बोलीं, ''यह मत भूलो कि तुम्हारी यह लापरवाह लिखावट पोस्टमैन के रूप में

उस ईश्वर का अपमान है, जिन्हें यह पढ़ना पड़ेगा।''

माँ की तरह पूजा-स्थल या घर के हर कोने को शायद ही कोई सजा सकता होः अल्पना, दीये, फूलों की सजावट, गमलों का सलीके से रखा जाना, हाथ के कढ़े मेजपोश, चादरें, तकियों के खोल, जमीन पर बिछाने की सफेद जाजम या हाथ की बुनी हुई दरियाँ। और यह सब कुछ वे गाते गुनगुनाते हुए किया करती थीं। ओने-कोने, ऊपर-नीचे रंगों, आकारों का आपसी खेल और सन्तुलन इत्यादि कला की तमाम अवधारणाएँ स्वाभाविक और स्वतः स्फूर्त ढँग से उनके हर काम में समाई हुई थीं। भाई के मृत्यु-दिन पर, वे कृष्ण की मूर्ति पर केन्द्रित कर सारा घर सजाती थीं। अज्ञेय अक्सर इस अवसर पर हमारे यहाँ होते। चुपचाप वे शाम के उत्सव के लिए दिन भर की जा रही तैयारियों को देखते। वे उसमें जुड़ भी जाते। गुलदान में फूल या फर्श को कालीनों से सजाने में।

फूल सजाना उनकी खास रुचियों में था। जापान से लौटते वक्त वहाँ फूल सजाने की विभिन्न विधियाँ इकेबाना आदि पर वे बहुत सारी पुस्तकें लाये थे। वे विदेश से सुन्दर से सुन्दर गुलदान भी लाये। जापान से जेड, चेकोस्लोवाकिया के कट-ग्लास। इन उत्सवों के लिए वे चुन कर खास-खास धूप-अगरबत्ती भी लाते थे। हर ११ सितम्बर को शाम पौने सात बजे प्रेम और भक्ति से सजाए एक कमरे में, धूप की सुगन्ध के बीच मीरा के भजन ''सुनी मैं हरि आवन की आवाज'' और शंखनाद से संगीत सन्ध्या का आरम्भ होता। इसके बाद पिता के सिखाए गायकों के कंठों में, विशेष कर रवीन्द्रनाथ के गीत गाये जाते थे। सभी के योगदान से श्रद्धा का ऐसा शान्त वातावरण बनता जिसमें मानव-मन की सीमाएँ असीम में खो जातीं। अज्ञेय चुपचाप किसी कोने में बैठे सुनते रहते। समारोह की समाप्ति पर भी वे मौन ही बने रहते थे। कभी-कभी गान आदि के आरम्भ से पहले वे कैमरा निकाल कर तस्वीरें ले लेते। वे तमाम तस्वीरें अब उन स्मृतियों का सुन्दर दस्तावेज हैं।

अज्ञेय को सबसे गहरे मौन में डूबते मैंने तब देखा जब माँ ने घर पर आनन्दमयी माँ को बुलाया था। आनन्दमयी माँ की उपस्थिति अत्यन्त सहज, निर्दोष और पारदर्शी थी। उनकी आँखें बिना दोष-गुण देखे सिर्फ और सिर्फ करुणा से सबको देखती थीं। वे जहाँ भी जाती बिना शब्दों के, अपने परिवेश से एक हो जाती थीं। उसके दुख-सुख उनके होते। उसमें कोई विभेद न होता। उनका होना ही अभिव्यक्त होता था। समग्र अस्तित्त्व के आनन्द और विशाद में अनन्य होकर, अपने होने की परिपूर्ण सरलता, सहजता में वे गातीं, बोलतीं या मौन रहती थीं। कुछ भी करते हुए उनकी उपस्थिति अनाम बनी रहती, अनेच्छ और अनेपक्ष, सृष्टि के असीम बहाव में बहती हुई, उससे एकरूप, महज एक साक्षी।

मेरी माँ ने बगीचे में लोगों के बैठने के लिए इन्तजाम किया था। अज्ञेय से कहा था, उन्हें जरूर रहना है। अज्ञेय देखने के लिए रुके देखकर ऐसे गहरे मौन में उतर गये जैसा मैंने उन्हें पहले कभी नहीं देखा था। वे सबके जाने के बाद घंटों तक बगीचे में अकेले अपने में निमग्न बैठे रहे। वे अपने गहन अनुभवों के बारे में बात नहीं करते थे। उनके ऐसे अनुभव शब्दातीत मौन में अनकहे रहते थे। बउदि (भाभी) के प्रति अगाध श्रद्धा और आदरभाव के कारण उनकी अस्तित्त्व की यात्रा का प्रभाव अज्ञेय पर भी गहरा पड़ा होगा। अन्याय के विरुद्ध संग्राम में अभिव्यक्ति पाने वाले शेखर से लेकर अपने अपने अजनबी में सम्बन्धों के बीच प्रेम-करुणा में अपनी पहचान पाने तक या 'असाध्य वीणा'

में सृष्टि की अविभाज्यता से एकाकार होने या मरुथल की कविताओं में आत्मा की अँधेरी रात में मरुभूमि के देवता में मरु बनकर मिटने की पीड़ा तक का सफर अस्तित्त्व की एक कठिन यात्रा ही रही होगी जिसमें किन पगडंडियों से आत्मा गुजरी होगी, चेतन से अधिक अचेतन अवस्था में, इसके बारे में कोई कम ही जान सकता है।

एक शाम कैवेंटर्स ईस्ट में अज्ञेय और मैं अनुभूत सत्य की अस्तित्त्ववादी अवधारणा पर बात कर रहे थे। जब स्कूल में फादर डी' मेलो ने कक्षा में प्रश्न रखा था कि ''ईश्वर है, इसका प्रमाण क्या है?'' मैंने जवाब में कहा था, ''उन पर विश्वास करने वाले लोगों के जीवन और व्यक्तित्त्व में जिस करुणा और प्रेम का जन्म होता है, सिर्फ वही ईश्वर के होने को प्रमाणित करता है।'' मेरे मन में शायद माँ की छवि थी। कुछ देर तक चुप रहने के बाद अज्ञेय बोले, ''सत्य जो अनुभूति में जन्म लेता है, शब्द से अधिक मौन में व्यक्त होता है।'' फिर देर तक चुप रहने के बाद उन्होंने एक कहानी सुनाई। वे यूरोप में रेल से यात्रा कर रहे थे। रेल एक छोटे-से स्टेशन पर रुकी। उन्हें न जाने क्यों वहाँ उतरने की प्रबल इच्छा हुई। यह इच्छा इतनी प्रबल हो गयी कि वे उतर गये। रेल चली गयी। प्लेटफॉर्म पर कोई नहीं था। जरा ही देर बाद एक ईसाई तपस्वी वहाँ आये और अज्ञेय के पास आकर बोले, "मैं तुमसे मिलने आया हूँ।" अज्ञेय को वे तपस्वी एक निर्जन मठ में ले गये। वहाँ दो दिन तक दोनों निरे मौन में निमग्न रहे। किसी के पास बोलने को कुछ नहीं था।

मैंने सोचाः क्या यह वही सत्य की अनुभूति थी जिसे शब्द नहीं छू सकते, जो मौन में भी अभिव्यक्त होती है? माँ रवीन्द्रनाथ की ये पक्तियाँ अक्सर गाया करती थींः

मेरे गान के पार खड़े हो तुम

मेरे स्वर तुम्हारे चरणों को पाते हैं, मैं तुम्हें नहीं पाता।

लोग अक्सर संवाद के दौरान अज्ञेय के चुपचाप सुनने को गलत समझते थे। उन्होंने मुझे एक वाकया बताया था। रघुवीर सहाय लखनऊ में आयी बाढ़ से गोमती के पुराने मंकी ब्रिज के कुछ हिस्से के बह जाने और बचे हिस्से पर मूँगफली बेचने वाले द्वारा दाम दुगने कर देने का किस्सा सुना रहे थे। किस्से के बीच ही रघुवीर सहाय बोले, ''मैं आपको इतनी दिलचस्प घटना सुना रहा हूँ, किन्तु आपका ध्यान कहीं और है!'' अज्ञेय ने यकीन दिलाने की चेष्टा करते हुए कहा, ''मैं बहुत ध्यान से आपकी बात सुन रहा हूँ, किन्तु मेरा दिमाग कहीं और भी है।'' आखिरकार उन्हें अपने अपने अजनबी का सम्पूर्ण ढाँचा सूझ गयाः टूटे पुल पर गिरफ़्तार कुछ लोगों का प्रसंग मिल रहा था उस प्रंसग से, जिसमें दो स्त्रियाँ बर्फ़बारी के दौरान एक टपरे के भीतर कैद हो गयी थीं।

अज्ञेय के साथ मेरे संवाद का सम्बन्ध कब आरम्भ हुआ? ठीक-ठीक तो नहीं बता सकता। शायद १९६४ में। या फिर '५९ में? या ५९ से ६४ के बीच जो एक तरह से मेरे लिए संक्रमण काल था? इसके पहले मेरा दिमाग एक नवागत के तीव्र, यद्यपि सुप्त, रचनात्मक दौर से गुजरा, जिसमें उसने अनेक धाराओं को अपने घर, विद्यास्थल एवं अन्य गृहवत स्थानों में पाया। १९५१ में मेरे भाई की मृत्यु ने मुझे अन्तर्मुखी और एक साक्षी, एक नीरव श्रोता बना दिया था। मुझे खेलों में अपने से पलायन करना जँचता नहीं था। अपने से सयाने लोगों की सोच मुझे कहीं अधिक आकर्षित करती

थी। बाहर का 'मैं' एक बालक ही था, पर भीतर का 'मैं' कुछ और था। मैं चुपके से उन्हें सुना करता, अपने अन्दर अकेले में संवाद करता; जो सुनता था उससे अनुत्तरित प्रश्नों को दिमाग में कैद रखता। ये कैदी मेरे दिमाग की चहारदीवारी में छेद करते रहते। मुझे अज्ञेय की बातों को परोक्ष में सुनना अच्छा लगता था और मैं उनके इलाहाबाद आने या खुद के दिल्ली जा पाने की राह देखता था।

पिता से मेरा संवाद सीधे होता था, खाने की मेज पर रात का भोजन समाप्त कर हम घण्टों बातें करते रहते थे। उनके पास कहानियों, गीतों का खजाना था। उनका रवीन्द्र साहित्य में गहरा अध्ययन था और शान्तिनिकेतन में पढ़ते समय उन्होंने रवीन्द्रनाथ को एक समग्र व्यक्ति के रूप में भलीभाँति देखा था। माँ, जो बुद्धि के धरातल से परे, 'होने' के धरातल पर जीती थीं, ने मुझे सूक्ष्म एवं व्यापक रूप में प्रभावित किया। उन्हें देखना या सुनना एक बिलकुल ही अलग अनुभूति होती थी। उनसे सुने गान और पिता से सुनी कहानियाँ, रवीन्द्रनाथ जिनकी मृत्यु मेरे जन्म के तीन सप्ताह पूर्व हो चुकी थी को एक जीवन्त अनुपस्थिति में मौजूद उपस्थिति बनातीं। 'बसुधा' में मेरा छोटा-सा कमरा छुपकर बैठक में हो रही बातें सुनने के लिए ठीक जगह स्थित था। शिलांग के 'गिरिमाया' और फिर हेस्टिंग्स रोड के दोनों बँगलों में खेलने की उम्र बिताकर 'बसुधा' और दिल्ली में मेरे दिमाग की दीक्षा कई वर्षों तक, लोगों की नजरों से ओझल, किसी कोने की कुर्सी पर बैठ, बड़ों के आपस में चलते अन्तविहीन रचनात्मक सम्वादों को चुपचाप सुनने में हुई।

उस दौर में मेरे पिता के मित्रों को लेकर मेरी स्मृति उन्हें प्रत्यक्ष सुनने की नहीं, बल्कि परोक्ष में सुनने की है। मेरा छोटा-सा पढ़ाई का कमरा बैठक से लगा हुआ था जहाँ बैठकर वे लोग पुराने किस्से, कहानियाँ, साहित्य, कला, संगीत, सौन्दर्यशास्त्र, धर्म, दर्शन, मूल्यों या भारतीय नवक्रान्ति, स्वतन्त्रता संग्राम और राष्ट्र निर्माण आदि पर चर्चा किया करते थे। मैं उन तामाम चर्चाओं को बड़े ध्यानपूर्वक अपने कमरे में सुनता, भले ही आधी बातें मेरी समझ में न भी आतीं। स्वरों में कोई जल्दबाजी नहीं होती थी, वाक्यों के बीच अक्सर मौन होता था; और होता था गम्भीर चिन्तन, गरमाहट और कभी-कभी अट्टहास ; परनिन्दा कभी नहीं। बचपन के उस घर में, एक छोर से आती थी मन को गहरे में छूने वाली माँ की गाने की आवाज। घर के तमाम कामकाज करते हुए वे गाती रहती थीं रवीन्द्रनाथ की पंक्तियाँ या कभी रजनीकान्त, रामप्रसाद और मीरा की। उनके लिए कोई काम उबाऊ नहीं होता था ; काम उनके लिए पूजा थी। वे काम करते हुए गाती रहती थीं, अपने और अपने ईश्वर के लिए, और सब कुछ भूलकर। पता नहीं मेरे कानों में जो पहुँचते थे कितने शब्द थे और कहाँ तक स्वर। किन्तु स्वर भी पोषण करते हैं।

अब मुड़कर देखने पर, मुझे लगता है, इतिहास में से उभरता हुआ भारतीय मानस का प्रतीक। अनेक आवाजों के साथ होने में हैं आवाजें, जो गहरे सम्वाद में जुटी हैं, जिनकी व्याप्ति और विरासत विराट है, जो विश्लेषण में गहन हैं, जो गहरे श्रवण की मुखर चुप्पी में विन्यस्त हैं, और जिनमें संस्कृति के दूसरे छोर से भक्ति और श्रद्धा के स्रोत आकर मिले हैं। मेरे संरक्षक बुजुर्गों का वह बन्धुत्व मेरे लिए संस्कृतियों के संगम पर बने एक आधुनिक भारतीय मानस का प्रतिनिधित्व करता है। बहुत-सी संस्कृतियों का इस भू-भाग से नाता जुड़ा और उन्होंने अपनी तमाम भाषाओं, शाब्दिक और गैर-शाब्दिक, जिनमें उनका अर्क संचित था, का इससे साझा किया।

एक गूढ़ वाक्य जिसे मैंने छुपकर कभी सुना था और जो मुझे सदा उद्वेलित करता रहा, वह था 'मौन के अतिरिक्त जो सबसे बड़ी उपलब्धि हमें हो सकती है, वह है भाषा।' इस वाक्य के बाद एक लम्बा मौन था। उसके बाद एक युवा आवाज ने जोड़ा था, 'निश्चित ही भाषा, किन्तु शाब्दिक और गैर-शाब्दिक दोनों। नृत्य भी तो एक भाषा ही है, बल्कि शायद शब्दों से भी ज़्यादा पूर्णता लिए भाषा है। कविता और संगीत की तरह वह भी मौन की लय से उपजती है अनहद नाद की तरह।' कुछ देर बाद माँ के गाने का दूर से आता स्वर कानों में पड़ता, 'तुम्हारी स्वर लहरी मुझ पर बरसती है, ओ प्रिये, मैं अवाक् सुनती हूँ। केवल सुनती हूँ।'

कुछ ऐसा था माँ, पिता, अज्ञेय व उनके अन्य साथियों द्वारा रचा गया वातावरण जिसमें मेरा किशोर मन भीगता, खिलता और ताका-झाँकी किया करता था। ये संवादरत सयाने मेरे मानस में सदा यात्रा करते हुए मिथक चरित्र जैसे बन गये हैं। परोक्ष में सुनी उन आवाजों ने ही मुझे अपने को जानने, रचने, सचाई की तथा विभिन्न संस्कृतियों के क्षितिजों की खोज में अन्तहीन यात्रा के लिए प्रवृत्त किया। क्या इसी प्रेरणा में दीक्षा देने के लिए १९६४ में अज्ञेय ने मुझे सौ पुस्तकों को भेंट देने का सोचा था ?

कविता वह विधा है जिसमें भाषा की सबसे सघन अभिव्यक्ति होती है। अज्ञेय हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी की कविताओं का पाठ करते समय इन भाषाओं की ध्वन्यात्मक अनुगूँजों का, तथा कविता में छन्द और सपाटपन के सूक्ष्म खेल को भी अपनी आवाज़ में उतार लाते थे। हेस्टिंग्स रोड वाले घर पर मैंने उनसे बारम्बार अनुरोध पर कथित रूप से रावण द्वारा रचित 'शिव स्तुति' इतनी बार सुनी थी कि मुझे उसके कुछ शुरुआती पद जुबानी याद हो गये थे। मुझे हू-ब-हू अज्ञेय की तर्ज में कविता दोहराना अच्छा लगता था। मैं उनके रॉबर्ट ब्राउनिंग की कविता 'कैवेलियर सांग' को पढ़ने के तरीके की भी नकल करता था और ब्रिटिश इंडियन आर्मी जिस धुन से अपने सैनिकों को नाश्ते के लिए बुलाती उसकी भी : 'गरम आलू, गरम आलू, गरम आलू, आलू गरमागरम !!' बचपन के दिनों में मैंने उनसे 'हॉउ दे ब्रॉट दि न्यूज फ्रॉम घेन्ट टु ऐक्स' और 'पाइड पाइपर ऑफ हैमलिन' अनेक बार सुनी होंगी। उनकी स्वयं की कविताओं और निराला की 'राम की शक्तिपूजा' का उनके मुख से पाठ मैंने बाद में सुना।

निराला की कविताओं को पढ़ने का सुमन और अज्ञेय का तरीका बिल्कुल अलग था। सुमन अपने नाटकीय वाचन से श्रोताओं को आनन्दविभोर कर देते। अज्ञेय का जोर निराला के शब्दों की लय में निहित उस महाकाव्यात्मक आभा पर होता था, जो मस्तिष्क को ध्यान की ऐसी अवस्था में ले आता है, जो कार्य करने की शक्ति को बटोर कर, घनीभूत कर अपने वश में कर लेता है। उनके काव्यपाठ के ढँग से ही मैंने जाना कि लय ही कविता की आत्मा है। और यह भी कि कैसे महान कविता अपने रूप की आन्तरिक मर्यादा और सौष्ठव से संवेदना के ज्वार को चेतस दृष्टि के द्वारा समग्र दृश्य की तरह देखती है, न सिर्फ पीड़ा को बल्कि उस पीड़ा से उपजी करुणा और समझ को भी। कविता के स्वभाव के बारे में जो अन्तर्दृष्टि मुझे पहले परोक्ष में सुनकर, बाद में संवाद से प्राप्त हुई, वह कविता की पश्चिमी आलोचनात्मक समझ से भिन्न थी।

१९८३ में मैकमिलन से मेरी पुस्तक 'टॉमस हार्डी : पोयट ऑफ ट्रेजिक विजन' छप कर आयी। अज्ञेय ने उसकी पाण्डुलिपि देखी थी और पुस्तक का बेहतर शीर्षक सुझाया था। 'द रूटेड एलियन', जो पुस्तक से ही चुना गया

वाक्यांश था। मुझसे बिना पूछे सम्पादक ने उसका नाम बदल दिया। उसके अनुसार शीर्षक में टॉमस हार्डी का नाम आना ज़्यादा ज़रूरी था। पता नहीं उन्हें 'टॉमस हार्डी : द रूटेड एलियन' शीर्षक क्यों नहीं सूझा ! खैर, पुस्तक को पर्याप्त सराहना मिली और मुझे १९८६, ८८ या ९२ में इंग्लैण्ड में अन्तरराष्ट्रीय हार्डी कान्फ्रेंस में बोलने के लिए निमन्त्रण मिला। १९९२ में 'हार्डी : एक धार्मिक कवि' को संगोष्ठी का श्रेष्ठ परचा घोषित किया गया। अनेक सम्मानित विद्वान जैम्स गिब्सन से सहमत थे जब उन्होंने मुझे बोला, 'आप हार्डी को एक धार्मिक कवि के रूप में इसलिए देख पा रहे हैं क्योंकि आपके पास एक अत्यन्त भिन्न और परिपक्व सांस्कृतिक दृष्टि है।' अपनी किताब की भूमिका में, मैंने अज्ञेय के योगदान का उल्लेख बहुत अपर्याप्त ढँग से किया था; 'इस अध्ययन में निहित कई मूल्यों और स्थापनाओं का श्रेय उन अनौपचारिक वार्ताओं को जाता है जो वर्षों तक अज्ञेय के साथ होती रहीं।' यदि वे मेरे भीतर पश्चिम की दृष्टि से नितान्त भिन्न एक आलोचनात्मक दृष्टि जगा सकते थे तो स्वयं उनकी दृष्टि का फलक क्या रहा होगा ?

अज्ञेय में कई सांस्कृतिक दृष्टियों के समावेश की क्षमता थी; उनके भिन्न अनुभवों से अस्तित्त्वपरक ढँग से गुजरने की क्षमता; और उन तमाम संस्कृतियों की मिट्टी व लोगों से सीधे ऐन्द्रिक और भावनात्मक रूप से जुड़ने की क्षमता। यह पूछना कि उनका संवेदन तन्तु पूर्व का था या पश्चिम का, किपलिंग की तरह पूर्व और पश्चिम को परस्पर विरोधी के रूप में देखना होगा। रवीन्द्रनाथ और अज्ञेय ने संस्कृतियों से ग्रहण किया और संस्कृतियों का समावेश किया। वे सम्पूर्ण मानवता को जोड़ने वाले नायब लोगों की परम्परा में से थे। भारतीय साहित्य के इतिहास में उनके युग को मैं औपनिवेशिक या उत्तर-औपनिवेशिक जैसे रूप में नहीं, बल्कि रचनात्मक सांस्कृतिक सन्धिकाल के रूप में देखता हूँ, मानवता के बढ़ते क्षितिज और अनेक संस्कृतियों के मध्य समकक्षीय वैश्विक सम्वाद के रूप में, जिसमें बाजार की एकरंगीय, एक ही साँचे में ढली अर्थशास्त्रीय संस्कृति को उखाड़ फेंकने की शक्ति है। संस्कृतियों के बीच इस सम्वाद का शायद बुद्धि के अभिजात्य से बुद्धि के प्रजातंत्र की ओर बढ़ना है। इतिहास को कोई नहीं रचता। इतिहास या वैश्विक चेतना, या देवता की बाँसुरी, या हम उसे जो भी नाम देना चाहें उसने अज्ञेय के भीतर बुद्धि का ऐसा ऐश्वर्य रचा जिसमें कई संस्कृतियाँ आपस में सम्वादरत हुईं। इस मन्थन से निकला सारतत्त्व सम्भवतः संवेदन के रूप में किसी अनाम, अकिंचन आकाश की तरह रिक्त अर्थात् स्वयं आकाश और लोक चेतना सम्पृक्त लोकतान्त्रिक समुदाय को हस्तान्तरित हो पाएगा।

अज्ञेय को नापसन्द करने वाले लोगों ने उन्हें तरह-तरह से देखा है। सरासर चरित्रहनन करने वालों को छोड़ भी दें तो उन्हें अभिजातवादी, अहंकारी, व्यक्तिवादी, प्रभुत्ववादी शक्तियों के हाथ की कठपुतली, जासूस, जन-शत्रु, प्रगतिशीलता विरोधी, प्रतिक्रियावादी, पुनरुत्थान-धर्मा तक कहा गया।

सृजनधर्मी लोगों का एक समुदाय उन्होंने १४, हेस्टिंग्स रोड के अहाते में जोड़ा था जो एक परिवार की तरह वहाँ रहता था, शायद इस उम्मीद में कि एक दिन उसमें से बृहत्तर मानव परिवार का अंकुरण होगा। वह स्वप्न बिखर गया। पर उनकी बुद्धि सरहदों को लाँघना जानती थी। वे व्यक्तियों से मिलते थे बिना किसी अहंकार के, उनके लिए कुछ भी करने को तत्पर, और गहरी मैत्री में 'जन की अवधारणा' से नहीं। बचपन के वे दिन मुझे याद हैं जब बीमारी से पस्त मेरे पिता को मैदानी भू-भाग में बस कर नये सिरे से अपनी डॉक्टरी जमानी थी। माँ अत्यन्त सादगी से

रहतीं, बिना थके लगातार काम में जुटी रहतीं, खाना पकातीं, कपड़े धोतीं, इस्त्री करतीं, बुनाई, बागवानी, झाड़-पोंछ आदि-आदि, ताकि हमें किसी तरह की परेशानी का अहसास न हो। उस समय अज्ञेय सम्बल थे। मुझे नहीं पता कितने समय तक। बिना रत्तीभर अहसास कराये उन्होंने मदद की, इस बात का सदैव ख़्याल रखते हुए कि दूसरे की गरिमा को कहीं ठेस न पहुँचे। एक दिन मैंने सुना, वे माँ से कह रहे थे, 'बउदि, आप ऐसा क्यों सोचती हैं कि मैं मदद करता हूँ। आपका ईश्वर ही तो सबका ख़्याल रखता है। कितने मरीज हैं, जिनकी देखभाल आशा दा करते हैं। हम सब तो सिर्फ़ माध्यम हैं।' मैं अन्त तक उन्हें 'काकू' कह कर सम्बोधित करता था। काकू के आगे लगा 'कैप्टन' बहुत पहले छूट गया था। मुझे कभी किसी दूरी का अहसास नहीं हुआ। मेरे बचपन से लेकर उनकी मृत्यु तक, या शायद उसके पार भी वे मेरे लिए उम्र में कुछ बड़े, एक मित्र थे जिनसे मैंने लगातार पाया और बदले में सिर्फ़ एक नीरव श्रद्धा और प्रेम दिया।

१४, हेंस्टिंग्स रोड की बात है, अज्ञेय एक दिन एक अजनबी के साथ दोपहर बहुत देर से घर लौटे। यह सोचकर कि घर में सम्भवतः दो व्यक्तियों के लिए पर्याप्त भोजन नहीं होगा, उन्होंने माँ से उन अनजान व्यक्ति के लिए थाली परोसने को कहा। वे कोई लेखक थे जिनकी पाण्डुलिपि एक प्रकाशक ने कुछ समय पहले सिर्फ़ सवा सौ रुपये देकर खरीद ली थी। उन्होंने पिछले तीन दिनों से कुछ भी खाया नहीं था, क्योंकि उनके पास पैसे नहीं बचे थे। अज्ञेय ने अगर उनके लिए कुछ किया जो उन्होंने किया ही होगा तो इसकी भनक किसी को नहीं लगी। वे ऐसे ही थे।

जब उनकी कविताओं के अँग्रेज़ी अनुवाद की पुस्तक नीलाम्बरी छप कर आयी तो 'आभार' वाले पन्ने पर मुझे एक पूरा पैरा मिला; 'प्रारम्भ से इस किताब की तैयारी में, इसे पुस्तकाकार रूप देने और प्रेस के लिए पाण्डुलिपि तैयार करने में मानस मुकुल दास ने मेरी सहायता की। मैं इसे आभार प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि गर्व और लगाव से कह रहा हूँ, यह वे समझ जाएँगे।'

१९७१ में 'आलवाल' प्रकाशित हुई। पुस्तक तैयार होने से पहले इसके कुछ लेख उन्होंने मुझे पढ़ने के लिये दिये थे। पुस्तक की प्रकाशित प्रति भिजवाते हुए उन्होंने उसके भीतरी आवरण पर लिखा : 'मानस, यह पुस्तक की पहली प्रति है जो मुझे मिली है। इसलिए यह साधिकार तुम्हारी है, जैसाकि तुम पन्ने पलटने पर जानोगे।' मैंने पृष्ठ पलटे और पाया कि वह पुस्तक मुझे ही समर्पित की गयी थी ; 'मानस मुकुल के लिये।' १९७२ में उन्होंने राजस्थान यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर ए.जी. स्टॉक स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 'कला, अनुभव व अवधारणा में काल का अन्वेषण' विषय पर अँग्रेजी में चार व्याख्यान दिये। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ने इस पुस्तक का मेरी तरह लम्बा इन्तजार किया।' काल और साहित्य सम्बन्धी उन विचारों को बाद में उन्होंने नये सिरे से मूल हिन्दी में संवत्सर नामक पुस्तक में लिखा।

उन्हें १९७८ में ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिये चुना गया। भारतीय ज्ञानपीठ ने पुरस्कार के अँग्रेज़ी ब्रोशर के लिये मुझे अज्ञेय पर एक लेख लिखने को कहा। हिन्दी ब्रोशर के लिए आलेख विद्यानिवास मिश्र ने लिखा। १९८० के शुरुआती दशक में अज्ञेय ने मुझे अपनी अदिनांकित डायरी का अँग्रेज़ी अनुवाद करने में सहयोग के लिए आमन्त्रित किया। भवन्ती का अनुवाद ट्रक्यूलेन्ट क्ले नाम से १९८२ में छपा और अन्तरा का 'प्रिपैरिंग द ग्राउण्ड' नाम से १९८४ में।

शाश्वती के अनुवाद का काम हम शुरू करने ही वाले थे कि उनका देहावसान हो गया। इस दौरान मैं उनके समस्त लेखन को गम्भीरता से पढ़ रहा था और उनके व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व के बीच गहरे सम्बन्ध को अनुभव कर रहा था।

साठ का दशक खत्म होने को था जब अज्ञेय और कपिला जी अलग हुए। १९७० में कैलिफोर्निया से लौटने के बाद वे इला जी के साथ रहने लगे। मेरी माँ को यह अच्छा नहीं लगा। १९६८ से लेकर १९७२ के ख़त्म होने के कुछ महीने पहले तक अज्ञेय इलाहाबाद नहीं आये। उसके बाद जब वे फिर इलाहाबाद आने लगे और वे बहुत बार आये तब वहाँ वे 'बसुधा' में अकेले ही ठहरे। इला जी या तो दिल्ली से आयी नहीं और जब-जब आयीं तब उमा राव के घर ठहरीं। अज्ञेय का इलाहाबाद न आना मुझे अच्छा नहीं लगा था। एक बार जब मैं जोधपुर जा रहा था, मैंने माँ को कहा कि मैं काकू के यहाँ जाऊँगा। माँ ने कहा कि तब मैं कपिला जी के घर भी ज़रूर जाऊँ।

जब मैं चाणक्यपुरी में कपिला जी के यहाँ गया तो वे वहाँ थीं नहीं। वहाँ उनके पिताजी से मिल आया। बसन्त बिहार में अज्ञेय और इला जी नहीं थे, वे दिल्ली से बाहर थे। गोविन्द सिंह मुझे देखकर बहुत खुश हुए। उन्होंने मेरे लिए बहुत ही स्वादिष्ट भोजन बनाया और रुकने के लिए ज़िद की। अगर वे मुझे दिल्ली में रोक न सके तो 'साहब' से क्या कहेंगे ? जोधपुर से लौटते हुए रुकने का वायदा करके मैं चल पड़ा। जब मैं लौट कर आया, अज्ञेय ने दरवाजा खोला। उन्हें मैंने इतना प्रसन्न पहले कभी नहीं देखा था। इला जी ने बताया कि वे बैचेन थे और मेरी वापसी की बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहे थे। अक्टूबर १९७२ में मंजू से मेरे विवाह के दो दिन पहले अज्ञेय बिना बताये 'बसुधा' पहुँचे। पिताजी का देहान्त १९७१ में हो चुका था। उन्होंने अपने अपने अजनबी का बाँग्ला में अनुवाद किया था। उसकी पाण्डुलिपि १९६९-७० के उधेड़बुन के दिनों में कहीं गुम हो गयी।

अज्ञेय ने लेखन को अपने जीवन से कभी अलग नहीं किया। उन्होंने वह लिखा, जो जिया। उन्होंने लोगों और धरती के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में लिखा, और अपनी आन्तरिक खोज के बारे में। उनकी कविताओं में शब्दों से रची छवि और छन्द में यह वसुन्धरा, जिससे उनका गहरा प्रेम था, को सारी इन्द्रियों से उपभोग करने की प्रखर क्षमता अभिव्यक्त होती है। साथ ही साथ इस ऐन्द्रिकता में छाये और इसमें बसे, एक ध्यानस्थ खोज भी है जो जीवन का अर्थ और मूल्यों के धरातल को तलाशती है।

अपने होने को परिभाषित करने की सदैव चेष्टा अज्ञेय की शब्द रचना के केन्द्र में है। अपनी लेखनी में उन्होंने प्रश्न उठाये, जवाब ढूँढें और स्पष्टता की ओर बढ़े। उन्होंने अपने को रचने में अपनी लेखनी की रचना की और अपनी लेखनी को रचने में अपनी रचना की। ये दो आपस में अविच्छिन्न और समान्तर प्रक्रियाएँ अज्ञेय की कविता, उपन्यास, गद्य, डायरी यहाँ तक कि उनकी आलोचना में भी सदैव सक्रिय रही हैं।

अज्ञेय से मिलना हमेशा आनन्ददायक अनुभव होता है हलकेपन और खुलेपन का। उनका मस्तिष्क कोई बोझ लेकर नहीं चलता था। वे हर आते हुए क्षण से उसी तरह मिले, बिना कोई पूर्वग्रह लिए। नाश्ता करते समय वे फकत नाश्ता करते। उनके साथ नाश्ता करना एक सुखद अनुभव होता था; उजला साफ कमरा, खिड़कियों से आता भोर का

उजाला, साफ उजले नैपकिन, मेज के कोनों पर झालर बनाता मेजपोश, चमचमाते चीनी के बर्तन, चम्मच आदि। अज्ञेय की कुर्सी से लगी एक छोटी-सी टेबल पर टोस्टर और ब्रेड का डब्बा। इला जी, अज्ञेय और मेहमान खाने की मेज पर लगभग एक साथ पहुँचते। यदि कोई न आया होता, तो अज्ञेय गिलासों या कटोरियों में अलग-अलग मात्रा में पानी डालकर उन पर भी चम्मच के प्रहार से धुन बजाना आरम्भ कर देते। एक बार जब मुझे मेज पर पहुँचने में विलम्ब हुआ तो वे बचपन की मेरी प्रिय धुन : 'गरम आलू, गरम आलू, आलू गरमागरम' बजा रहे थे।

ताजी तैयार की गयी फिल्टर कॉफी रसोई से आती तो कमरा उसकी महक से भर जाता। अशोका, वेंगर्स या निरूलाज से लायी गयी चोकर सहित आटे की ब्रेड के दो-दो टुकड़े एक साथ सेंक कर, गर्म रहते उन पर मक्खन लगा कर ताकि अन्दर तक सोख जाए, बारी-बारी से तश्तरी में रखकर, अज्ञेय नाश्ता करने वालों को गरमागरम देते। अलग-अलग पसन्द के अनुसार टोस्ट को कड़ा, कम कड़ा या नरम सेंक कर परोसने में उन्हें खुशी होती थी। यदि किसी को काली मिर्च पसन्द हो तो वह भी लकड़ी के छोटे से हैंड ग्राइंडर से ताजा पीसकर मिलती। कभी-कभी काँच के मर्तबानों में आड़ू, खुबानी, प्लम, नारंगी आदि के जैम, जैली, मार्मलेड या प्रिजर्व्स होते। यदि इस बीच कोई विदेश से आया होता तो सभी को डच या स्विस चीज़ का आनन्द लेने को मिलता। मुझे अज्ञेय के घर के नाश्ते के अनुष्ठान का सौन्दर्य बहुत प्रिय था। वहाँ कोई टी.वी. नहीं चलता था। न मेज पर कोई अखबार पढ़ता। कोई हड़बड़ी नहीं रहती, टोस्ट धीरे-धीरे सिंकते, बीच में भीनी-भीनी महक वाली कॉफी का दूसरा दौरा चल पड़ता।

अगर कार्तिक पूर्णिमा की रात आप अज्ञेय के साथ हों तो पिसे चावल को दूध में पकाकर तैयार की गयी फिरनी, जिसे केसर और बादाम-पिस्ते की गिरी डाल कर खुली चाँदनी में ठंडाया जाता, खाने को मिलती। उसका आनन्द सब लोग चाँदनी में बैठकर ही लेते।

यदि पहाड़ों में आप उनके साथ हों और कमरे में अलाव हो तो चीड़ के शंकु और छाल उसे ज़रूर गर्म करते। कमरे में रोशनी बुझा दी जाती और सब अलाव की रोशनी और लकड़ियों की तिड़तिड़ाहट के बीच खामोश या बातचीत में मग्न बैठे होते और इस तरह के दूसरे भी कई अनुष्ठान होते बारिश का, वृक्षारोपण का, बसन्त, होली, दीवाली, नवम्बर में पौधे लगाने का ताकि फरवरी में बगिया फूलों से लद जाए, जाड़े में पिकनिक, दोस्तों को निमन्त्रण और उत्सव मनाने के ऐसे कई मौके वे निकालते थे। अज्ञेय शायद, निश्छल उत्सव मनाना और आस्वादन करना जानते थे। अज्ञेय जिन्होंने हिन्दी में कविता और गद्य के नये आन्दोलन का सूत्रपात किया, उन्होंने अपने लेखन से विरासत में मिली भाषा को उसके घिसे-पिटे मुहावरे से मुक्त करने का काम भी किया। यदि जीवन के क्षणों के सौन्दर्य का साझा करने के लिये वे अनुष्ठान की भाषा का इस्तेमाल करते तो वह भाषा भी जीवन्त, कल्पनाशील अनुष्ठानों की थी, न कि मृत पारम्परिक अनुष्ठानों की। यदि वे पारम्परिक अनुष्ठानों को व्यवहार में लाते तो उनमें भी जान फूँक कर उन्हें पुनर्जीवित करते।

किन्तु एक मौके पर अज्ञेय आज के बड़े, आधुनिक अनुष्ठान की कसौटी पर खरे न उतर सके थे। उन्होंने मुझे यह घटना सुनाई थी। उन्होंने एक नया ड्राइवर रखा था जिसने उन्हें व इला जी को अपने जन्मदिन के समारोह में बुलाया। इला जी और अज्ञेय बाकायदा सुन्दर से पैकेट में भेंट लेकर उसके घर पहुँचे। बैठे, चाय-नाश्ता किया। जब

चलने के लिए विदा ली तो बुलाने वाले ने शिकायत की 'लेकिन आपने तो 'हैप्पी बर्थ डे टू यू' गाया नहीं !'

काल के प्रति अज्ञेय का रुख उनके सोच को समझने के लिये परम आवश्यक है जो फिर उनके लेखन और जीवन में भी प्रतिबिम्बित होता है। काल का साक्षात्कार वे क्षण के रूप में, एक घनीभूत अखण्डित मूर्त के आकार में करते थे, न कि प्रवहमान स्रोत के रूप में। वे हर क्षण के सत् को स्वीकार करते थे, न कि क्षणों के आपस में सम्बन्ध की श्रृंखला को और न ही भूत, वर्तमान और भविष्य के बीच कार्य-करण सम्बन्ध को। अज्ञेय काल को कारण की तरह नहीं देखते थे। उनके मुख्य चरित्र खुद का निर्माण करते हैं, बजाय काल द्वारा निर्मित होने के। वे वह बनते हैं जो वे बनना चाहते हैं। होना, बनने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। गुण सब होता है; संख्या कम-ज़्यादा होती है। शेखर के अनुभवों की स्मृतियाँ भी अपने में समाहित, दूसरे क्षणों से पृथक मूर्तों में बसी हैं।

शेखर : एक जीवनी के पहले भाग के 'प्रवेश' तथा 'उषा और ईश्वर' नामक पहले सर्ग में ऐसे अनेक घनीभूत अनुभव दर्ज़ हैं, जिनका सम्बन्ध कई बार प्राकृतिक सौन्दर्य से है तो कई बार दमन के आगे मानवीय गरिमा के सौन्दर्य से है। यह गुणधर्मी अमर क्षण ही शेखर के मन एवं अस्मिता में रचे हुए हैं। समय, जो मानव-मन के बाहर प्रवाहित है, मन में प्रवेश करने पर, व्याप्ति के घेरे में एक काल बाँधने का गुण पा जाता है। मस्तिष्क में काल के दूरान्त बिन्दु सहअस्तित्व में रहते हैं। कविता या गीत की टेक उसकी कथावस्तु का हिस्सा नहीं होती, किन्तु वह कविता में कुछ ऐसे बुनी रहती है कि उसकी उपस्थिति बखूबी महसूस होती है। इसी तरह शेखर के तीव्र अनुभूति से जिये हुए क्षण उसके जीवन के कालक्रम से छिटककर उसके वजूद को बनाने वाले पदार्थ में तब्दील हो जाते हैं। सत्तर के दशक में शेखर को दुबारा पढ़ते हुए मैंने अज्ञेय से कहा था कि शेखर जिस काल बोध से अनुभव ग्रहण करता है और फिर जीवन की कथा कहता है, उसके चलते यह उपन्यास एक कविता पढ़ने की-सी अनुभूति देता है। इसके बाद हमारी 'साहित्य में कालबोध' पर यादगार बातचीत हुई थी।

काल के क्रम में स्मरण, संघर्ष और उम्मीद करना और सघन क्रमातीत चिरन्तन क्षणों में जीना दो भिन्न संवेदनाओं को व्यक्त करता है। काल की गति की अनुभूति त्रासदी की अनुभूति है, जबकि सघन, निरे क्षण की अनुभूति गीतात्मक और जीवन के रहस्य का अहसास कराने वाली है। काल की अवश्यम्भावी गति को उपन्यासों और त्रासद नाटकों में दर्शाया गया है। जबकि निखालिस क्षणों के दैवीय, रहस्यमय अनुभव ने जेन महारथियों की हाइकू यानी आशु कविताओं को जन्म दिया ; बाशो की उस हाइकू को, जो पुराने पोखर में मेंढ़क के कूदने पर उसके मन को मुक्त कर तूर्य (सटोरी) अवस्था में पहुँचा देने के क्षण को बिना आडम्बर व्यक्त करती है, का अनुवाद अज्ञेय ने हिन्दी में किया था :

ताल पुराना

कूदा दादुर

गुडुप !

पचास के दशक के आखिरी दिनों में जापान से लौटने के बाद 'बसुधा' में मेरे छोटे-से कमरे से लगी बैठक में अज्ञेय माँ-पिताजी को जापानी हाइकू कविताओं के अँग्रेज़ी तथा हिन्दी अनुवाद सुना रहे थे। पिता ध्यान से सुनते रहे और जापान की अपनी यात्रा के बाद रवीन्द्रनाथ की कुछ कविताओं से उनके साम्य जोड़ने के अनुभव बताने लगे। माँ बोली, 'क्या बेवकूफी है, ऐसी कविता तो मैं भी लिख सकती हूँ ....।' 'सच में, तो फिर लिखती क्यों नहीं ?' माँ ने तुरन्त अपने बचपन में देखी छवियों को छन्द में गूँथ कर सुना डाला :

शूक्नो डिंगी, खाल बील

पद्दोफूल

डाके चील

(सूखी नाव/पोखरें/कमल/दल/पुकारती चील)

अज्ञेय ने कहीं माँ की सुनाई इस हाइकू का ज़िक्र किया है, पर याद नहीं आता कहाँ। 'एक चीर का फाँका' नामक हाइकू समूह, जिसमें कुछ अज्ञेय द्वारा अनूदित, कुछ रचित थे 'अरी ओ करुणा प्रभामय' कविता संग्रह में संकलित हुए, जो माँ को समर्पित था।

अपनी अदिनांकित डायरियों में भी अज्ञेय इस बात की छानबीन करते रहे कि कैसे मनुष्य का कालगति से सम्बन्ध उसकी अनुभूति की गुणवत्ता को तय करता है। मैं दिल्ली में था। हम भवन्ती के एक हिस्से के अनुवाद पर चर्चा कर रहे थे : 'निश्छाय। नहीं, छाया-रहित मनुष्य नहीं। छाया-रहित मानव तो मानसिक लुंजा होगा। छाया-आत्मा की चेतना तो बनी रहनी होगी ... केवला छाया-रहित क्षणः वह सघनतम अनुभूति का क्षण जिसमें अतीत और भविष्यत् नाम की दोनों छायाएँ सिमट कर तेजोदीप्त घटमान में सोख ली जायें ...'

क्या अज्ञेय जिद्दू कृष्णमूर्ति से सम्वाद कर रहे थे मनुष्य के मन में स्थित बीते कालों की स्मृतियों और भविष्य में निक्षिप्त आशाओं के मिट जाने के खिलाफ? अज्ञेय ने पचास और साठ के दशकों में कृष्णमूर्ति को सुना था और उनके मन में सदैव कृष्णमूर्ति के प्रति श्रद्धा का भाव रहा। किन्तु वे स्मृति की छायाओं से च्युत मनुष्य के विचार को मान नहीं पाते थे। सम्भवतः कृष्णमूर्ति का तात्पर्य ठीक-ठीक यही न रहा हो, किन्तु हम सभी को मिलकर भाषा को अधिक सटीक बनाने पर काम करना होता है। सही शब्दों के चुनाव करने की जद्दोजहद से एक प्रांजलता और समझ उभरती है। स्मृतियाँ दो तरह की हो सकती हैं : एक लालसा भरी स्मृति जो बीते हुए से चिपटने, उसे सदा अपने पास रखने की कामना करती है और दूसरी स्मृति वह जो अर्थगर्भित पलों के सौन्दर्य का उत्सव मनाती है। स्मृति का पहला प्रकार ही व्यक्ति को कमजोर बनाता है। यदि कृष्णमूर्ति इस सम्वाद में शामिल होते तो वे शायद कहते, 'महोदय, जब आप शक्तिशाली हैं तो फिर शक्ति की आवश्यकता ही कहाँ है ? क्या हम मन से स्मृति, हार, आशा, सब कुछ को जाने दे कर, बस वर्तमान में जी कर देख सकते हैं ? ऐसा करके देखें, इसलिए नहीं कि मैं कह रहा हूँ, बल्कि अन्दर की प्रेरणा से। कृष्णमूर्ति, जिनसे मैं केवल एक बार वाराणसी में उनके सप्ताह भर के अन्तिम प्रवास के दौरान मिला था, वे भी मेरे मन में जीवन्त उपस्थितियों में शामिल हैं।

अध्यापन कर्म से मिली छुट्टियों में मैं अज्ञेय के साथ अन्तरा के अनुवाद के काम में सहयोग करने के लिए दिल्ली में था, तब नदी के द्वीप फिर से पढ़ा। मुझे लगा कि १९५२ में उसके छपने के बाद से ही अज्ञेय को सिर्फ उसके शुरुआती आधे भाग के आधार पर सराहा गया या तिरस्कृत किया गया और इसलिए उसका मूल्यांकन अधूरा रह गया। अज्ञेय को घेर कर जो बेबुनियादी आलोचना खड़ी हुई, उसमें मुझे बचपना दिखता था, गाम्भीर्य की कमी। लोग उन्हें या तो पसन्द करते हैं या नापसन्द ; शायद इसलिए कि उन्होंने अपने दिमाग दायें या बायें गिरवी रख छोड़े हैं। अज्ञेय ने जो जिया और लिखा, उससे इन विवेचनों का कोई ख़ास सम्बन्ध नहीं दिखता। नदी के द्वीप कई आपस में जुड़े प्रश्नों से जूझता है ; आचरण की शुद्धता का, स्वतन्त्रता का, त्याग का, काल के साथ नाते का, प्रतीक्षा का, सम्बन्ध का, पश्चाताप, साक्षी और क्षमा का। यदि हम उपन्यास में एकत्व लाने वाला तार ढूँढ़ें और उपन्यास में उठायी गयी सारी समस्याओं, प्रश्नों को जोड़कर देखें तो एक प्रश्न उभर कर आता है ; क्या हैं वे तथ्य जिनसे मनुष्य के विभिन्न सम्बन्ध बनते हैं, वह सम्बन्ध भी जो अपने से अपना सम्बन्ध है ? जब तक कोई स्वयं की अस्मिता ढूँढ़ नहीं लेता, कोई जुड़े कैसे ?

उपन्यास के मध्य में कहीं एक लम्बी काव्यात्मक घटना है, जिसमें प्रेम में समर्पण और पूर्णता के अहसास का वर्णन है.... रेखा डी.एच. लॉरेन्स को उद्धृत करते हुए भुवन से कहती है, 'आइ एम फुलफ़िल्ड'। लेकिन उपन्यास यहाँ समाप्त नहीं होता। मैंने अज्ञेय से कहा था कि मुझे लगता है इस उपन्यास की चिन्ता सामाजिक वर्जनाओं को तोड़ने तथा कथा में दैहिकता के चित्रण से कहीं अधिक गहरी है। यह लॉरेन्स के उठाये प्रश्नों के आगे जाकर प्रश्न उठाती है; क्या परिपूर्णिता बिना उसमें से उभरी जिम्मेदारियों को स्वीकारे सम्भव है, चाहे वह कैसी भी कीमत माँगती हो, कितनी ही कठिन क्यों न लगती हो ? उस सम्बन्ध का क्या होता है, जो स्वेच्छा से वरण किये गये कर्म के फल के प्रति जिम्मेदारी की उपेक्षा करता है ? जहाँ उस सम्भावित नवजीवन को आने के पहले ही नकार दिया जाता है। अपनी जिम्मेदारी से मुँह मोड़ने की ग्लानि का प्रायश्चित कैसे सम्भव है ? ग्लानि से मुक्ति कैसे मिलती है ? वह साक्षी कौन होगा जिसके आगे सब स्वीकारा जा सकता है ? कहाँ से मिलेगी क्षमा ? कैसे अनुपस्थिति और प्रतीक्षा सम्बन्धों को गहरायी देते हैं ? कैसे नदी के द्वीप, नदी पर के सेतु बन जाते हैं ?

मैंने अज्ञेय से कहा कि मैंने उपन्यास को इन सब प्रश्नों को उठाते पाया और मुझे उपन्यास के बाद के हिस्से में भुवन का गौरा से सम्बन्ध, उनके रेखा से सम्बन्ध से अधिक आकर्षक लगता है। उपन्यास के बारे में मेरी समझ की उत्साहित अभिव्यक्ति को अज्ञेय सुनते रहे। फिर धीमे से बोले, 'मैं चाहता तो था कि उपन्यास ये तमाम प्रश्न उठाये।' वे अपनी सहमति प्रायः बगैर अतिरंजना के जताते थे।

एक मुस्तैद, जागरूक, प्रश्न उठाती, स्वयं अपना मूल्यांकन करती परम्परा के बजाय एक मृत परम्परा के नाम पर दिये गये मूल्य इस कृति के पात्रों को स्वीकार्य नहीं हैं। भुवन और रेखा शारीरिक नैतिकता का उल्लंघन करते हैं। गौरा नहीं करती। उस परिस्थिति में गौरा अपनी परम्परा की मर्यादा देती मानसिकता से, दूसरी ही राह लेती। किन्तु वह भी उस उल्लंघन को रूढ़िगत रूप से पाप की तरह नहीं देखती। एक-दूसरे से पृथक होने के बावजूद उपन्यास के तीनों पात्र अपने लिए मूल्य गढ़ते हैं और उन मूल्यों के लिए कठिन से कठिन त्याग उन्हें स्वीकार है। उपन्यास के अन्त में भुवन, जो इस बीच एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक बन गया है, बर्मा बॉर्डर पर जापानियों से चल रहे युद्ध में शामिल

होता है। अपने मूल्यों की रक्षा करना और स्वतन्त्रता एक मूल्य है विज्ञान या कला से बड़ी ज़िम्मेदारी है। हमें उसके लिये प्राणों की आहूति देने को तैयार होना चाहिए। भुवन गौरा को एक पत्र लिखता है। आसपास विमानों के चक्कर काटने और बमों के फटने का शोर है, किन्तु चिन्ता की फिलहाल कोई वजह नहीं है। पत्र अभी डाकघर में छोड़ा नहीं गया। उपन्यास का अन्तिम अनुच्छेद है :

'सम्पर्क के क्षण ? हाँ, विरह के क्षण, किन्तु सम्पृक्त क्षण; पत्र अभी गया नहीं है, उत्तर की प्रतीक्षा न जाने कितनी लम्बी होगी, लेकिन उत्तर आएगा ; क्या उत्तर आएगा यह भी वह जानता है वह प्रतीक्षा करेगा, जैसे कि गौरा भी प्रतीक्षा करेगी ..... क्योंकि प्रतीक्षाएँ भी अजस्र अनाद्यन्त काल की नदी में स्थिर, शिथिल समय के द्वीप हैं।'

इन पात्रों का अपना आन्तरिक जीवन है। उनके मौन की शालीनता उन्हें बेहतर इंसान बनाती है। उनमें है भावुकता की गहरायी, चिन्तन और ध्यान की गहरायी; फिर अपनी भावनाओं और चिन्तन को, गहरे मौन में रोपन कर छोड़ रखने की क्षमता। उस मौन में रोपित भावनात्मक चिन्तन के बीच उनके व्यक्तित्व में पल्लवित होकर उसे एक महावृक्ष के गुण प्रदान करती है, जो सुरक्षा कर सकता है क्योंकि सह सकता है।

एक संकटापन्न सदी में जन्मे और मूल्यरहित दुनिया में अपने को धकेले हुए पाये, ऐसे लेखक नयी ज़मीन तलाशने में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं जिस पर मूल्यों को स्थापित किया जा सके। उनकी डायरियों में, जिनका प्रकाशन १९७१ में भवन्ती से प्रारम्भ हुआ, अज्ञेय मानव मूल्यों की खोज और प्रतिष्ठा के कार्य में लग जाते हैं, जो बुद्धि को अपने तर्क से, और मन को अपनी निष्ठा से, आकर्षित करता है। डायरी के इन पन्नों को साहित्यिक विधा की दृष्टि से देखें तो वे सम्भवतः छिट-पुट, असंगठित टिप्पणियाँ-सी जान पड़ेंगी ; किन्तु उन्हें टाँकने वाला मस्तिष्क बेहद संघटित था। अज्ञेय के दिमाग में विकसित होती निश्चिन्ताओं, जो इन टूटी-बिखरी टिप्पणियों में निहित हैं, ने अज्ञेय के उस मानस को रचा जिसने श्रेष्ठ गीतात्मक कविता को जन्म दिया।

युवावस्था की भावनाओं के उद्वेग को ही सिर्फ व्यक्त करने वाले कवि उम्र के साथ सिकुड़ जाते हैं। वे, जो अपने मन की गहराईयों और क्षितिजों को गिद्ध जैसी तीखी नजर से देखते हुए जीवन का अर्थ ढूँढ़ते हैं, क्रमशः स्पष्टतर दृष्टि को उपलब्ध कर अपने काव्य को भी अर्थवत्ता से समृद्ध कर रचना के श्रेष्ठ शिखर की ओर बढ़ते हैं। ऐसे कवियों का सर्वप्रथम ध्येय होता है उनके अपने जीवन पर काम करना, उसे अपने मूल्यों की दृष्टि में सच्चाई से जीना। इस साधना के दौर में ही उनके काव्य की रचना होती है। येट्स, रिल्के, ऑडन और लागरक्विस्त की तरह अज्ञेय के बाद का लेखन उनके पहले के लेखन से श्रेष्ठ है, क्योंकि उनकी अर्थ की खोज कभी समाप्त नहीं हुई, उनका आगे बढ़ना कभी थमा नहीं।

अपनी विशिष्ट प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए एक सजग लेखक साहित्य के कोई एक विशिष्ट रूप को उसकी यथेष्ठता और सुप्त सम्भावनाओं को टटोलने के बाद चुनता है। अज्ञेय ने अपने को मूलतः लिरिक काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त करना चुना और उसमें अपनी श्रेष्ठ रचना रची। अपनी सर्वाच्चतम अभिव्यक्ति में यह काव्यरूप उनके लिए है जिन्होंने मानवता की सफेद रोशनी को, न कि उसके प्रिज्म से निकली रंगीन किरणों को, प्राप्त और प्रेषित करने के लिए अपने को स्थितप्रज्ञ किया है। मैथ्यू आर्नोल्ड ने अपनी बहन 'के' (श्रीमती विलियम इ.फोस्टर,

शादी से पहले जेन आर्नोल्ड) को लिखा था : 'मेरी कविताएँ टूटी हुई बिखरी हुई पंक्तियाँ हैं अर्थात् ..... मैं टूटा हुआ, बिखरा हुआ हूँ।' एक लेखक जो अपने को समन्वित कर स्थितप्रज्ञ नहीं हो पाता, वह सम्पूर्ण का अवलोकन कर उसके सम्प्रेषण का माध्यम नहीं बन सकता। अभिव्यक्ति के लिए प्रथम पुरुष में बात को कहने का चुनाव कर वह या तो शोकगीत के टुकड़े या लघु संवेगों के गीत ही लिख सकता है। महान लिरिक कविता भीतर चलते नाट्य की बाह्य प्रस्तुति है। लिरिक कवि को अपने अन्तरमन के द्वन्द्वों का अन्वेषण और संघटन करना होता है। उसकी कविता जीवन, मृत्यु, पीड़ा, नैतिकता, कला, ईश्वर (इस शब्द का जो भी अर्थ हो) के अर्थ की खोज है जो दरअसल अस्मिता की खोज है। अपनी कविता को तराशने और परिपूर्ण बनाने में वह स्वयं को परिपूर्णता की ओर बढ़ाता जाता है, और स्वयं को तराशने और पूर्ण करने में लगकर, क्योंकि एक लिरिक कवि स्वयं को सीधे व्यक्त करता है, अपनी कविता को पूर्णता की ओर ले जाता है और उसे अपने मानवीय श्रोताओं से सीधे जुड़ना पड़ता है। वह हर मनुष्य के सम्मुख अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सकता है जब वह अपनी पीड़ा और उससे पार पाने की अनुभूति को सबकी पीड़ा और उससे उठने की यात्रा तक बना सकता है। अपने को एक सम्पूर्ण व्यक्ति बनाने में अज्ञेय मानव मात्र के प्रतिनिधि भी बने।

अज्ञेय की प्रगीतात्मकता एक संयत प्रगीतात्मकता है, एक साथ ऐन्द्रिक भी और कठोर भी। उनके बौद्धिक अनुशासन की कठोर सादगी, जो उनके गद्य में मिलती है, उनकी कविताओं में भी है। उनकी कविताओं का गठन सूक्ष्म तर्क का आकार लेता है; समूची कविता में एक महीन तर्क का रेशा हर ब्योरे का स्थान तय करता है। समग्र कविता की संरचना स्थापत्य कला जैसे मजबूत बन्धनों में होती है, न कि किसी धुँधली मनःस्थिति के ढीले बँधे, तैरते बिम्बों और पंक्तियों का संगुम्फन। किन्तु यह कठोर बौद्धिक अनुशासन संवेदना के उस धरातल पर काम करता है जो जीवन के हर क्षण का भावावेग से रस लेना जानता है। अपनी कविता में वे बुद्धि द्वारा खोजी गयी और इन्द्रियों द्वारा भोगी गयी दोनों संवेदनाओं को एकजुट करते हैं। एक अन्तर्मुखी मन और एक ऐन्द्रिक रसों का भोक्ता एक होकर सम्मिलित होते हैं कवि में।

अज्ञेय की कविता में ही, जो आल्हाद और ध्यानमग्नता के सुन्दर सन्तुलन से रची है उसके मन की साम्यावस्था की सूक्ष्मतम और पूर्णतम अभिव्यक्ति है। यदि डायरियों में यह सन्तुलन अवधारणात्मक रूप से प्राप्त किया गया है तो कविता में उत्सव मनाने वाले का आल्हाद और अन्तर्मुखी के ध्यान का समागम, दोनों अवधारणात्मक और स्थूल देह लिए मौजूद हैं, जिसमें देह की उपस्थिति अधिक है। अज्ञेय की कविता को पढ़कर पहला असर कविता में व्यक्त विचार के गठन का न होकर ध्वनियों के सामंजस्य का होता है; उसके सूक्ष्म तर्क-निर्मित विधान पर पहले ध्यान न जाकर कविता की लय और कवि के भीतर अंतर्गुम्फित आल्हाद व ध्यानावस्था को धारण करने वाले मौन पर जाता है। कविता की लय पाठक को मुखर मौन के कगार पर ले जाती है।

एक दिन मैं अज्ञेय के साथ बातचीत कर रहा था शब्द और मौन की भाषा पर, विज्ञान और धर्म पर, तर्क और अन्तःप्रेरणा पर, सीमाबद्ध और असीम पर, परिमेय और अपरिमेय पर, सीमाओं और सीमान्तों पर, अस्मिता और अस्मिता की विलुप्ति पर, जीवन में सन्धान और मृत्यु की समाप्ति पर। बात कई दिशाओं में फैलती गयी। बाद में

उन्होंने मुझे रेडियो बेलग्राद से जून १९६६ में प्रसारित 'शब्द, मौन, अस्तित्वः एक लेखक का सम्प्रदाय' विषय पर अपनी वार्ता के अँग्रेज़ी अनुवाद की प्रतिलिपि दी थी। बाद में यह आलेख उनकी पुस्तक आलवाल (१९७१) में पहले निबन्ध के रूप में छपा। उसमें वे कहते हैं :

पूर्व की एक परम्परा के उत्तराधिकारी के नाते मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती; कविता शब्दों के बीच की नीरवताओं में होती है। और कवि सहज बोध से जानता है कि उससे दूसरे तक पहुँचा जा सकता है, उससे संलाप की स्थिति पाई जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मौन के द्वारा भी सम्प्रेषण हो सकता है।

मुझे लगता है अज्ञेय ने आलवाल का समर्पण मेरे नाम शायद हमारे उस सम्वाद को याद रखते हुए किया होगा।

अज्ञेय के समस्त लेखन के केन्द्र में व्यक्ति है स्वतन्त्र, संवेदनशील, मानव मात्र का प्रतिनिधि मूल्यों का सृजनकर्ता। उन्हें अपने कर्म और विचार के हर क्षण को सजग होकर जीना है ताकि अपने होने के द्वारा मूल्यों का सृजन कर सकें। अज्ञेय की शैली में लक्षित होता है एक हर पल सजग ज़िम्मेदारी से जीने का तनाव जो पश्चिमी आधुनिकता में अक्सर पाया जाता है। उन सन्त कवियों की सहज सरलता जो सब कुछ ईश्वर के हवाले छोड़ निश्चिन्त रह सकते थे, अज्ञेय की कविता में नहीं है। किन्तु अज्ञेय की बाद की कविताओं में बार-बार आते वे दीप्त क्षण जिनमें व्यक्तिगत पहचान मिट जाती है अस्तित्त्व मात्र की अविभाज्य सम्पूर्णता में। इसमें आश्चर्य नहीं, अपनी मृत्यु के पहले के कुछ दिनों में वे रेगिस्तान को प्रतीक बनाकर, कविताओं की एक श्रृंखला मरूथल पर काम कर रहे थे। इला जी मुझे बोली थीं कि वे उन दिनों अक्सर मीरा की एक आधी पंक्ति गुनगुनाते थे : 'ऊँचे चढ़ि-चढ़ि पंथ निहारूँ' ; अगली कड़ी है 'कब आवेंगे महाराज'। मरुथल श्रृंखला की सातवीं कविता 'बदली' में मीरा के गीत को इंगित करते हुए कई शाब्दिक इशारे हैं :

कोई नहीं

कि पन्थ निहारे

११ सितम्बर को हर वर्ष 'बसुधा' में होने वाली प्रार्थना सन्ध्या का आरम्भ मीरा के भजन 'सुनी मैं हरि आवन की आवाज़' से होता था। अज्ञेय का ईश्वर या मरुथल का ईश्वर या अनुपस्थित ईश्वर, एक अनुपस्थिति में उपस्थिति है। 'तुम कौन हो जो मेरे हृदय को अपने न होने से भर देते हो ? अपने न होने से सारे विश्व को भर देते हो।'

अज्ञेय की मृत्यु ०४ अप्रैल १९८७ को हुई। इला जी ने मुझे खबर दी और आने को कहा। माँ ने खबर मौन रहकर सुनी। बाद में बोलीं : 'भीतर से वे संन्यासी थे, एकदम अनासक्त। उनके जैसे कोई दे नहीं सकता था। अपने दायें हाथ से जो देते, बायाँ नहीं जान पाता।'

मैं ट्रेन से अगले दिन सुबह दिल्ली पहुँचा। किसी ने बैठक का दरवाजा खोला जहाँ से सब फर्नीचर हटा दिया गया था, बस ज़मीन पर उनकी देह रखी थी। जिन्होंने मेरे लिए दरवाजा खोला, मेरे अन्दर आने पर चले गये। इला जी

स्नानघर में थीं। कुछ समय के लिए मैं देह के साथ अकेला था। उनके निकट एक दीया और लोबान जल रहे थे। मैं जमीन पर उनके पैरों के निकट बैठ गया। सब भावनाओं से शून्य, मैंने मृत्यु के सन्नाटे का अहसास किया। सड़क से दूर, पेड़ों के घेरे में बसे, उस घर में जीवन का शोर अभी नहीं घुसा था। मेरी आँखें अपने आप मुँद गयीं, और मस्तिष्क सतेज और सचेतन हो उठा। कमरे में पंखे के चलने की आवाज के बावजूद हलकी से हलकी आवाज को दिमाग दर्ज कर रहा था और फिर भी एकदम शान्त था; हवा में पत्तियों की सरसराहट, बगीचे में बजरी पर कदमों की आहट, वृक्षों की खुरदरी छाल पर गिलहरियों के दौड़ने की खड़खड़ाहट, दूर से आते पक्षियों के स्वर, अखबार वाले की साइकिल के बजरी पर से आने की आवाज, उसका थमना, मेज पर अखबारों का रखना और लौटते साइकिल के बजरी पर, और फिर धरती पर गिरी पत्तियों पर से जाने की आवाज।

दिमाग प्रबल रूप से सजग, निश्छल, बिना कुछ दर्ज किये सब सुन रहा था। यद्यपि मुड़ कर देखने पर, एक-एक चीज़ याद आ गयी। इला जी मुझसे मिलकर रोयीं, हृदय के घातक दौरे के बारे में बताया, और फिर तैयारियों का निरीक्षण करने चली गयीं। सन्नाटे ने दिमाग को घेर लिया। मैं, शरीर से कुछ दूर दीवार के निकट बैठ गया, ताकि आने वाले लोगों के रास्ते में बाधा न बनूँ। स्तब्ध, निष्क्रिय, सतेज मस्तिष्क ने एकाएक अज्ञेय के होने की अर्थवत्ता को प्रखर और गहरे तरीके से महसूस किया। मेरा चलीस वर्षों से अधिक उनको जानना जीवन्त हो उठा; हमारी असंख्य चर्चाएँ सजीव हो उठीं ; अज्ञेय की कविता, उपन्यास, गद्य, डायरी का पठन प्राणवन्त हो उठा। श्मशान ले जाने के पहले के कुछ घण्टे, जब मैं आँखें मूँदे लगातार आते लोगों के बहाव के बीच अकेला बैठा था, मेरा दिमाग उनके साथ जिये और उनके साहित्य में रचे गये समय के दशकों को जीता चला गया। दिमाग को आसपास होती हलचल का भास था ; किन्तु आँखें मूँदे वह किसी को दर्ज नहीं कर रहा था ; सिवाय विगत आत्मा के सारतत्त्व के। उनका सारा अस्तित्व जाग उठा न होकर होने में। कुछ भी खोया नहीं था। क्या मृत्यु का क्षण अमरत्व का क्षण भी हो सकता है ? मृत्युदण्ड की सजा के सम्मुख खड़े शेखर में क्या अज्ञेय ने ऐसे ही एक सम्पूर्ण जीवन को अपने आगे खड़ा देखा होगा ? जीवन की अर्थवत्ता के उस घनीभूत अहसास के सामने मैंने दुख को नहीं जाना, क्योंकि मैंने उनके न होने को नहीं जाना। यहाँ तक कि मैं कमरे में उनके शरीर की मौजूदगी तक को भूल गया था। उनकी उपस्थिति उनके जीवन के सारतत्त्व की उपस्थिति हो गयी थी, जीवन को जीने की वह शानदार धारा जो अज्ञेय थे।

सिर्फ एक बार मैं अपने माथे पर किसी हाथ के स्पर्श के प्रति सचेत हुआ एक हाथ जो धीरे-धीरे मेरे बालों को सहला रहा था। मैंने आँखें खोलीं। सामने कपिला जी थीं। उनके चेहरे पर गरिमा और पीड़ा छायी थी। उनके हाथ को अपने दोनों हाथों में लेकर मैंने उनकी ओर देखा। उन्हें मेरे चेहरे पर क्या दिखा ? क्या था वह जिसने उस भीड़ में उन्हें मेरे पास आकर मेरे माथे पर बालों को सहलाने के लिए प्रेरित किया ? देर दोपहर में जब शवयात्रा निकलने को थी और लोग डलिया से एक-एक माला लेकर शव पर रख रहे थे, इला जी एक माला कपिला जी के पास ले गयीं। कपिला जी ने इनकार किया। इला जी बोलीं, 'लीजिए, ले लीजिए !' कपिला जी ने हाथ में माला ले ली और अज्ञेय के चरणों में रख दी। मैंने दोनों को बहुत ही सुन्दर व्यक्तित्त्व के रूप में जाना है।

भीड़ के बीच, आँख बन्द कर उस कमरे में जब मैं अकेला बैठा था, बहुत कुछ दिखा। अपने अपने अजनबी का अर्थ और स्पष्ट और गहरा होकर सामने आया। जब इस उपन्यास के अँग्रेजी अनुवाद को संशोधित संस्करण १९७४ में

छपा, तब अज्ञेय ने इस पुस्तक पर लिखे मेरे निबन्ध में से कुछ पंक्तियाँ फ़्लैप पर उद्धृत की थीं : 'अज्ञेय मृत्यु को पूरी तरह निरावृत्त करके देखते हैं, एक भीषण स्थिति का सामना करने के रोमांच को ढाँक कर नहीं, अस्मिता को नकार कर परिभाषित करते हुए नहीं, जिजीविषा को सघन बनाते हुए नहीं मृत्यु एक दार्शनिक तथ्य जैसा निरा, समय के स्रोत से हटकर एक क्षण के अकेलेपन में आबद्ध।' इस निरी मृत्यु के परे कैसे जाया जाए ? शायद अनुभूति के भीतर से इसका उत्तर मुझे अब मिल रहा था। अज्ञेय, चालीस वर्षों से अधिक मेरे अभिभावक और बन्धु, आज भी मुझे सिखा रहे थे। परोक्ष में बातें सुनने के वर्षों में मैं अक्सर उनसे अपने सन्नाटे में सम्वाद किया करता था। आज मैं सन्नाटे के एक और दरवाजे के पीछे खड़ा मौन सम्वाद कर रहा था .... तब तक मैंने मरुथल श्रृंखला की कविताएँ नहीं पढ़ी थीं। उनमें से एक रचना की प्रक्रिया में आबद्ध, अधूरी रह गयी। मुझे वह लेख याद आया जो मैंने ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह के लिए छपी अँग्रेज़ी पुस्तिका के लिये लिखा था। उसका अन्तिम अंश था :

अज्ञेय के लिए मेरा प्रतीक कुछ यों बनता है कि एक कवि वीणावादक है और स्वयं वीणा भी है। भारत में रहस्यात्मक काव्य परम्परा में, जिसमें रवीन्द्रनाथ भी शामिल हैं, कवि तो खाली वीणा होता है, वादक होता है उनका देवता। क्या मेरा अभिप्राय यह है कि अज्ञेय अपने को समर्पित नहीं करते ? मैं पक्का नहीं जानता। वे आसानी से समर्पित नहीं होते और ईश्वर को अपना बनाकर समर्पित होना तो हरगिज नहीं। शेखर और योके ईश्वर से लड़ाई करते रहते हैं और ज़ख्म सह-सहकर खत्म हो जाते हैं। मैं उन्हें निरीश्वरवादी नहीं कह सकता, क्योंकि ईश्वर के प्रति उनका नकार पीड़ा से युक्त है। ईश्वर के कई चेहरे हैं। अज्ञेय की यात्रा मरुथल के रहस्य की ओर हुई। वे भी समर्पण करते हैं। पर किन युद्धों के बाद ? किन ऊँचे, सुन्दर मरु प्रान्तों पर ? किस ईश्वर के आगे ? मुझे 'असाध्य वीणा' की पंक्तियाँ याद आयीं ...

संगीतकार
वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक....
उठ खड़ा हुआ....
बोला;
'श्रेय नहीं कुछ मेरा;
मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था
सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था ;
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन

अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सबमें गाता है।'

मैं उनके शरीर के साथ श्मशान गया और एक जीवन से उपजी हुई अनश्वर अर्थवत्ता को महसूस करते हुए चिता की आग में शरीर को राख बनते देखा। इला जी ने अस्थियाँ एकत्र कीं और दो दिन बाद उन्हें विसर्जित करने हम हरिद्वार से कुछ आगे कनखल के लिए रवाना हुए। नदी के किनारे खड़े मुझे स्मरण हुआ कि वर्षों पहले इन्हीं जगहों पर मैं अज्ञेय के साथ एम.एन.राय की गाड़ी में आया था। यादें जीवित हो उठीं और मेरा मन पानी में जाने को हुआ। नदी में उतरने से पहले बचपन में माँ से जैसे सीखा था, मैंने अंजुलि में पानी भर कर माथे और चेहरे पर छिड़का और नदी में समाई दिव्यता को प्रणाम किया। काँच-सी चमकती पानी की तेज धार मेरे हाथों के चारों और भँवर बना रही थी। सहसा मैंने देखा कि सैकड़ों कणों ने नृत्य और क्रीड़ा करते हुए मेरे हाथों को घेर लिया और फिर बहते हुए आगे निकल गये। मैंने देखा, कुछ ऊपर इला जी ने अस्थियाँ विसर्जित की थीं। तब मैंने जाना कि जो मेरे हाथों को घेरकर नृत्य कर रहे थे, वे अज्ञेय की अस्थियों के कण थे। तब आँसू उमड़े। किन्तु वे दुख या खुशी के आँसू नहीं थे। वे एक नैसर्गिक अर्थवत्ता के आँसू थे, एक अनजान दुनिया से उतरा स्पर्श। क्या उनकी देह के अन्तिम कण जीवन की नदी से बहकर अनन्त सागर में विलीन होने से पहले मुझसे अलविदा कह रहे थे ?

यह लेख ओम थानवी द्वारा सम्पादित 'अपने अपने अज्ञेय' से साभार लिया गया है। इसका अनुवाद शम्पा शाह ने किया है।

ग़ालिब का इतालवी में अनुवाद

स्टीवन ग्रीको

एक वक़्त ग़ालिब में मेरी गहरी रुचि जागी। इस महान शायर की गज़लों के अँग्रेजी अनुवाद की एक पुस्तक मुझे मिली थी। उनके अभिप्राय पूरी तरह मेरी समझ के परे था तब भी वे मुझे मोहती थीं। शब्दों के परे कुछ अवश्य था जिसे मैं पकड़ने की कोशिश करता पर वह खो जाता।

उसके लगभग बीस साल बाद, दिल्ली में इन अनुवादों को पहली बार पढ़ने के अवसर पर, मेरा साक्षात्कार ले रहे दूरदर्शन के पत्रकार को जब मैंने यह बात बतायी तो वे हँस पड़े। अचरज भी किया कि जब समझ ही नहीं आ रहा था तो उन्हें पढ़ता कैसे रहा।

मैंने भी सोचा कि ऐसा कैसे हुआ होगा। तब मेरी उम्र पैंतीस के करीब रही होगी। मुझे अधिकांश यूरोपीय कविता का अनुभव था। पूर्वी यूरोपीय देशों के कवियों में मुझे विशेष रुचि थी। उस समय वहाँ राजनैतिक, सांस्कृतिक कारणों से सशक्त अस्तित्ववादी काव्य लिखा जा रहा था।

लेकिन ग़ालिब इन सबसे भिन्न थे। यूरोपीय कविता में मुश्किल से ऐसा कुछ मिलता जो गालिब के सरोकारों से मेल खाता हो। वे जिस सोच को खड़ा करते उसे खण्डित भी कर देते। अपने ही शब्दों को शक और बेवफाई के घेरे में गहरे और शिद्दत से खड़ा कर देते कि यह नकारापन उनकी शायरी का ख़ास वादी स्वर हो गया था।

बेपनाही पर उनकी शायरी को देखिये जिसमें वे खाक हो जाने पर असलियत तलाशने की बात कहते हैं। इस बिन्दु पर पश्चिमी अनास्थावादी (निहिलिस्ट) 'कुछ नहीं बचता है' कहते। क्योंकि वे आखिरी में अपनी पहचान और संस्कृति के नाश होने की बात करते हैं जबकि प्राचीन यूनानी के लिए मृत्यु सबसे पहले स्मृति के लोप होने के समान होती थी।

ग़ालिब मुस्लिम होते हुए भी उस पारम्परिक भारतीय सोच के करीब थे जिसमें जीवन अनेक एवं अनन्त जन्म जन्मान्तरों का समन्वय होता है। और जहाँ स्मृति परालौकिक स्तर पर मृत्युहीन रही आती है। जिस बिन्दु पर आकर पश्चिमी अनास्थावादी के लिए 'रास्ते की समाप्ति' होती वहाँ से गालिब का अनुच्चारित कथा आरम्भ होता है। अनुच्चारित इसलिए नहीं कि वे उसे जानते समझते नहीं थे बल्कि वे उस बनती बिगड़ती समझ की लाचारी को शब्दों में कहना गैर-ज़रूरी समझते।

मैंने सोचा कि ग़ालिब में इतालवी पाठक की रुचि इसलिए भी होगी क्योंकि वे अपनी लाचारी को पूर्णतः समर्पित थे। ये पाठक किसी भी पश्चिमी कवि के घोर एकाकीपन से अधिक विषाद ग़ालिब में पाते। क्योंकि जीवन में कुछ भी समाप्त नहीं होता। बादलेयर और गालिब के बीच अनेक समानताओं के बावजूद ये भेद साफ नजर आते हैं।

ग़ालिब के बारे में ये कुछ बातें थी जिन पर मुझे काम करना था, न केवल अपनी पसन्द को समझने हेतु, बल्कि उन्हें इतालवी पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए। तब मेरे सामने यह स्पष्ट था कि मुझे ऐसी ग़ज़ल चुनना होगा जैसे, 'रहिए अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो। हमसुखना कोई न हो और हम जबाँ कोई न हो .....'

पर मैं यहाँ तक पहुँचा कैसे ?

उर्दू में गालिब का पहला शेर मैंने मणि कौल की बहन से सन् २००२ में सुना था 'आह को चाहिए एक उम्र असर होने तक। कौन जीता है तेरी जुल्फ़ के सर होने तक' .... अपनी पीढ़ी के लोगों की तरह उनके पिता ग़ालिब की शायरी के शौकीन थे। बच्चों में यह रुचि उनसे ही आयी।

जब ग़ालिब को इतालवी भाषा में अनुवाद करने की बात मैंने मणि कौल से कही तो उन्होंने सुझाया कि मैं कवि, चिन्तक और बुद्धिजीवी अशोक वाजपेयी से सम्पर्क करूँ। क्योंकि वाजपेयी ने बरसों गालिब का अध्ययन किया था। मैंने वाजपेयी में ऐसा कल्पनाशील और विद्वान व्यक्ति पाया जो शोध करते हुए अपने विषय को रसहीन कर देने वाला विशेषज्ञ नहीं था।

उसी दौरान मैं एक जापानी विद्वान के साथ मिलकर हैयन वाका का इतालवी और अँग्रेजी में अनुवाद कर रहा था। सन् २००४ में टोक्यो जाकर मैंने उस काम को आगे बढ़ाया। आरम्भ में उन्होंने मुझे हेंग शैली में लू सिह से अवगत कराया। यह छन्दों में बँधा ऐसा काव्य रूप था जो संस्कृत, पश्चिमी एशिया और यूरोपीय काव्य के निकट था। उसके कुछ समय बाद उन्होंने जापानी वाका पद्धति का वर्णन आरम्भ किया। यह अनुस्वार मय ऐसी लचीली चीज थी जिसमें न्यूनतम रूप के अलावा सब कुछ त्याज्य था।

यहाँ एक बात कहना चाहूँगा कि - ग़ालिब हों या जापानी शास्त्रीय काव्य - दोनों ही अनुवादों को करते समय मेरे

साथी मूल भाषा को जानने वाले थे, जिनकी मदद से मायनों और सुझावों को मैं इतालवी में अनुदित कर सका। ऐसी पद्धति एंग्लो-सेक्शन परम्परा में प्रचलित रही है क्योंकि ऐसी अपेक्षा नहीं की जाती है कि एक ही व्यक्ति शोध भी करे और कवि कर्म भी करे। दोनों में सहयोग अपेक्षित है। ऐसा नहीं कि मैं मूल भाषा में कविता समझता नहीं, पर यह अधूरा ज्ञान है। इसलिए मैं अपना ध्यान इतालवी पक्ष पर केन्द्रित रखता हूँ।

जापानी साथी ने मुझे वाका के विशेष और अनूठे आशयों से अवगत कराया जो कि उनमें प्रवेश करके ही सम्भव थे। वाका का यह अनूठापन इसलिए भी था क्योंकि इनके संयोजन भूदृश्यों और अन्य स्थानों के बारे में जताते थे, ऐसे गठन को 'उत्माकूरा' या कविता का आरम्भ-बिन्दु कहा जाता है। इसमें प्रवेश करने के बाद ही आप समझते हैं कि आप कहाँ हैं और कवि ने किस अनूठेपन से इसे रचा है। इससे आप भूदृश्यों में कवि के आशयों को और मिजाज को बेहतर जान पाते हैं। एक अच्छे वाका में मूल मानवीय संवेदनाओं जैसे प्रेम, चाहत, हताशा या अध्यात्मिक संतुष्टि आदि का बोधगम्य काव्य मिलता है।

टोक्यो के अनुभवों ने मुझे कविता को गहरायी से विश्लेषित करने और समझने की सीख दी। गम्भीरता से अनुवाद करने का आरम्भ भी यहीं हुआ। अपने साथी से मूल चर्चा करने के बाद मैं उन्हें इतालवी और अँग्रेजी में काव्य-रूप देने में लग जाता। उन पर सैकड़ों घंटे काम करते हुए ऐसा लगा कि प्रत्येक कविता पर मन स्थिर कर, धैर्य और सावधानी से कवि की उस मूल प्रेरणा तक पहुँचना अनिवार्य है, जो बाद में विचारों को शब्दरूप देने लगती है। अनुवादक के लिए ऐसा कर पाना सम्भव है, भले ही उससे चूक हो जाये अथवा वह ऐसा न कर पाये। उसमें ध्यान की एकाग्रता का होना अनिवार्य है।

टोक्यो में मैं अपने पर ही निर्भर था। मुझे किसी ने कभी नहीं बताया यह कैसे किया जाये। बाद में मैं यह समझ सका कि मेरे गुरू वेदप्रकाश ने यह सीख स्वयं दे दी थी। आप गुरू के प्रति पूरी तरह उपकृत नहीं हो सकते क्योंकि यह हमारी समझ की सीमा के बाहर है।

ग़ालिब पर लौटते हुए यह कहना जरूरी है कि उर्दू ग़जल और जापानी वाका के बीच कुछ ख़ास समानताएँ हैं। इसकी वजह इन दोनों काव्यधाराओं में निहित गति के बोध का होना है। हम उन तमाम प्रभावशाली तरीकों का जिक्र कर सकते हैं जैसे प्रतीक, अधकहा कथन या उच्चारण का संक्षिप्तिकरण आदि जो महत्वपूर्ण हैं किन्तु अन्ततः शब्द उन आशयों को ढोते हैं जो पूरा काम करते हैं। गजल और वाका दोनों में ही इस इहलौकिक गति के होने की समानताएँ हैं।

की नो सूरायूकी, दसवीं शती के जापानी कवि :

देखा नहीं कोई, ऐसा लगा,
शिखर मैं पार करता गया :
नीचे जल में प्रतिबिम्ब था मेरा

सन् २००५ में जापान में दो माह काम करने के बाद मैं अशोक जी के साथ काम करने के लिए तैयार था। उनके साथ

भी उसी तरह काम कर सका जैसा टोक्यो के विद्वान के साथ कर रहा था। अशोक जी शेर को मूल भाषा में पढ़ते और कठिन शब्दों को समझाते जाते, जिससे मैं मूल के मर्म तक पहुँच सकूँ। फिर वे शेर को अँग्रेजी में मेरे सामने ही अनुदित कर देते, इससे मुझे उसका एक कच्चा खाका मिल जाता। फिर हम मूल की हर नजरिये से चर्चा करते। अक्सर एक-एक शेर पर चर्चा में पूरी सुबह गुजर जाती।

जब हम दोनों को लगता कि शेर अपने धरातल से हवा में ऐसा उठ आया है कि न तो उर्दू का रहा, न ही अभी इतालवी का हो सका, तब कविता की चिड़िया मेरी गिरफ्त में आ जाती। और मैं कमोबेश साथ ही उसको इतालवी में पूरी तरह कर पाता।

जापानी अनुवाद से अलग, गालिब का अनुवाद करते हुए, मैं बाद में शायरी को देवनागरी में स्वतः पढ़ता, अशोक जी के बताये से तुलना करता, अन्य अनुवादों की जाँच करता और जरूरी लगता तो बदलाव करता (कहीं सुविधा आती तो अशोक जी की बात ही अंतिम होती) केवल तभी मेरा काम पूरा होता।

बाद में अनुवाद पूरा होने और उसके सार्वजनिक पाठ के पश्चात इटली के दो विद्वानों डेनियेला ब्रेडी और जियान्रोबर्तो स्कार्सिया ने मेरे प्रयासों की सराहनी की। एक अन्य प्रोफेसर जो उर्दू से परिचत थे, उन्होंने भिन्न बात कही कि उर्दू भाषा इतालवी भाषा से बहुत अलग है क्योंकि दोनों में गहरी सांस्कृतिक दूरियाँ हैं। इसलिए मूल का स्वाद इतालवी में देना असम्भव है। मुझे आश्चर्य और शक भी हुआ कि वे ऐसी बात क्यों कर रहे हैं, क्योंकि वास्तविकता में तो इन दोनों साहित्यिक भाषाओं में जितना प्रतीत होता है उससे अधिक समानताएँ हैं।

मध्यकालीन यूरोपीय काव्य, विशेषतः सिसली, तुष्कन और प्रादेशिक कविता का विकास उस दौर में हुआ जब ईरान पश्चिमी एशिया की सबसे विकसित सभ्यता के रूप में उभर चुका था। अपने विकास के आरम्भिक दौर में एवं प्राचीन यूनान और रोम के खण्डित होने के बाद और सांस्कृतिक विकास क्रम टूटने के बाद, पश्चिम पर ईरान का असर ही रहा। मध्यकालीन यूरोपीय काव्य में निश्चित ही ईरानी संस्कृति और उसके रहस्यवादी काव्य का असर मिलता है। गुलाब, बगीचा, हूर, प्रेमिका आदि सब पश्चिमी काव्य में भी परिभाषित करते प्रतीक बन चुके थे। ईरान ने इन्हें अपनी परम्पराओं से भावभूमि, ऊष्मा, सूक्ष्मता और विविधता के रंग दिये। विद्वान ऐसा मानते हैं कि दांते अलीघिरी जो एक महानतम यूरोपीय कवि थे, के काव्य में ऐसे महत्वपूर्ण प्रभाव मिलते हैं।

इसी दौरान ईरानी काव्य परम्पराओं का भारत की जमीन पर भी रोपण हुआ, जिसके फलस्वरूप उर्दू गजल का जन्म हुआ। पाँच सौ साल बाद इसकी ही आखिरी विरासत की कड़ी में गालिब उभरकर आये। इसके बावजूद ईरानी परम्पराएँ इस तथ्य को झुठलाती हैं कि गालिब को भारतीय सोच और वेदान्त ने बहुत समृद्ध किया था। इस तरह गालिब के माध्यम से इटली के पाठक को न केवल परिष्कृत उर्दू गजल मिली, बल्कि उसमें निहित गहन भारतीय सोच भी मिला।

आज गालिब की पहचान अत्यन्त आधुनिक और कई नयी धाराएँ रचने वाले शायर की है, जो परम्पराओं का लिहाज करते थे, पर उसकी जकड़न से छुटकारा भी चाहते रहे, इतना कि वे भंग न हों।

उर्दू और इतालवी भाषा के बीच वास्तविक समानताओं को जाँचने के लिए उनके विन्यास, व्याकरण और इनकी मानसिकता को परखना होगा। पहले तो व्यक्तिवाचक सर्वनाम 'उसका-उसकी' को देखें, इनके स्थान पर इतालवी में 'सुओ-सुआ' होता है। जो अँग्रेजी के 'हिज-हर' से भिन्न है। इतालवी में भी वस्तु का लिंग वस्तु के आधार पर तय किया जाता है, इस आधार पर नहीं कि वह किसकी है। यह भाषा को बारीकी से या उसके विरोधाभासों को दर्शाने में सहायक होता है, विशेषकर उन भाषाओं के बनिस्बत जिनमें ये भेद नहीं है।

भाषागत इन बातों ने मेरी मदद की। दोनों ही भाषाएँ सैकड़ों वर्षों के व्यवहार में आकर कोमल हुई हैं। अतः काव्य अभिव्यक्ति के लिए एकदम उपयुक्त हैं। दोनों के वाक्य विन्यास में लचीलापन है। सबसे खास बात है ईरानी विरासत से इन दोनों भाषा को मिला अवदान।

एक अच्छी बात ये है कि उत्तरी यूरोपीय देशों की तुलना में इटली के भीतर नस्लवाद और सांस्कृतिक पूर्वग्रह अपेक्षाकृत अत्यन्त नगण्य रहे हैं। इसका असर भाषा के तानों-बानों पर पड़ता ही है। वे शब्द जिन्हें 'विदेशी' (एक्जोटिक) कहा जाता है, ऊपरी तौर पर ऐसा कहना सामान्य लगता है पर दरअसल सामान्य होता नहीं। इसका अच्छा उदाहरण एडवर्ड सेड ने दिखाया है, 'ओरिएंटल' शब्द में, जिसके उपयोग में निहित आशय में एशिया के धर्म और संस्कृति सम्बन्धी असंख्य पूर्वग्रह और दोष मिलते हैं।

इतालवी भाषा में ऐसी समस्याएँ न्यूनतम हैं। क्योंकि अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में इटली ने अन्य देशों पर औपनिवेशिक शासन नहीं किया। उस समय यह चरम पर था जब पश्चिमी देश दूसरों पर अपनी प्रभुता प्रमाणित करने में लगे हुए थे। दांते की भाषा, इस तरह अद्‌भुत रूप में शुद्ध है। इसी कारण गालिब को इतालवी में अनुवाद करते समय मुझे वैसी कठिन समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ा।

आखिर में अपने इतालवी पाठकों को यह भी मैं बताना चाहता था कि अपनी सारी दुरूह बातों के बावजूद गालिब पहले और आज तक, सड़क के आम आदमी तक बहुत प्रचलित रहे आये हैं। वे न केवल पाठकों में बहुत पसंदीदा रहे, बल्कि बेगम अख्तर और गुलाम अली सरीखे गायकों द्वारा गाये जाते रहे हैं :

..... दैर नहीं हरम नहीं डर नहीं आस्तां नहीं
बैठे हैं रहगुज़र पे हम, गैर हमें उठाए क्यों ....

मैंने अपने अनुवाद सबसे पहले सन् २००६ में दिल्ली में इटली के दूतावास में पढ़े थे। अशोक वाजपेयी वहाँ मौजूद थे और उन्होंने मूल भाषा में गजलें पढ़ी थीं। बाद में मेरे ये अनुवाद इटली की साहित्यिक पत्रिका 'प्रागीन' में छपे।

इसके बाद इनके दो पाठ रोम में आयोजित किये जा चुके हैं, जिसमें से एक वहाँ के भारतीय दूतावास के तत्वाधान में सम्पन्न हुआ। हाल में मैं गालिब की गजलों के संकलन की एक पतली सी पुस्तक के प्रकाशन की तैयारी कर रहा हूँ।

मूल अँग्रेजी लेख का अनुवाद-जवाहर गोयल

विकास, प्रगति के नेपथ्य में उत्तराखण्ड की त्रासदी

पवन गुप्ता

उत्तराखण्ड के पहाड़ों में, जून के तीसरे सप्ताह में हुई त्रासदी ने देश को हिला दिया। अगर हम अब भी नहीं चेते तो फिर यह उम्मीद शायद तब तक छोड़ देनी पड़ेगी जब तक पहाड़ों की बरबादी का सीधा असर लुटियन की दिल्ली तक बड़े पैमाने पर न पहुँचे। पहाड़ों में इतने बड़े स्तर पर तबाही शायद ही पहले कभी हुई हो। सरकारी आँकड़ों पर अब आम आदमी का विश्वास नहीं के बराबर रह गया है। आम अनुमान के अनुसार करीब चालीस हजार से अधिक, लोगों की जान गयी है। हजारों की संख्या में नेपाली मजदूर, साधारण पैदल चलने वाले घुमक्कड़ साधु और करीब दस प्रतिशत सच्चे तीर्थ यात्री भी, इनकी सुध लेने वाला कोई नहीं। इनकी लाशें यदि नहीं मिलती तो ये लापता के आंकड़े में भी नहीं आएँगे। इनकी खोज करने वाला कोई नहीं। सैकड़ों की संख्या में गाँव उजड़ गये हैं और यह माजरा सिर्फ केदार घाटी तक सीमित नहीं है।

उत्तराखण्ड जब नहीं बना था, उत्तर प्रदेश का हिस्सा था और यहाँ जब पृथक प्रदेश बनाने के लिए आन्दोलन चल रहा था, उस समय जो तर्क और स्वर सबसे ज़ोर से सुनायी देता था-कि उत्तराखण्ड की भौगोलिक परिस्थिति एवं संस्कृति मैदानी इलाकों से अलग होने की वजह से यहाँ का विकास अलग प्रकार से होना चाहिए-अब सुनायी नहीं पड़ता। उत्तराखण्ड का विकास तीव्र गति से और उसी तर्ज़ पर करने को भाजपा से लेकर कांग्रेस तक सभी पिले हुए हैं। इस विकास में बड़ी योजनाएँ बनती हैं, जनता को भरमाया भी जा सकता है और ऊपर ही ऊपर मलाई भी

आसानी से साफ की जा सकती है-सब विकास के नाम पर। एक तीर से कई निशान साधे जाते हैं। कौन बेवकूफ उत्तराखण्ड के लिए, हिमालय के सही विकास के लिए, उत्तराखण्ड को ध्यान में रखकर विकास के बारे में सोचेगा? और ऐसा काम जोखिम भरा भी है क्योंकि इतने वर्ष जनता को विकास का सपना दिखाकर बरगलाया गया है, अब उस सपने को तोड़ेंगे तो जनता की नाराजगी झेलनी पड़ेगी, ऊपर से। आम सोच और आम सपने, भले ही वे झूठे ही क्यों न हों, के विरुद्ध जाने के लिए जो हिम्मत और आत्मविश्वास चाहिए वह हमारे नेतृत्व में कहाँ? वैसे भी इस प्रकार की सोच प्रचलित लोकतन्त्र की अवधारणा के विरुद्ध बैठती है। और वैसे भी सोचने में पहले तो मौलिक रूप से सोचना पड़ेगा जो अपने आपमें मुश्किल काम है, फिर भोली भाली 'विकास' के नाम से चौंधियाई जनता को समझाना पड़ेगा और फिर बड़ी परियोजनाएँ नहीं बन पाएँगी तो मलाई भी हाथ नहीं लगेगी। ऐसा तो कोई सिरफिरा ही सोच सकता है और हमारे योजनाकार और राजनीतिज्ञ कोई सिरफिरे थोड़े ही हैं।

यह समझने के लिए किसी विशेषज्ञता की ज़रूरत नहीं कि जहाँ-जहाँ बाँध बन रहे हैं, दुनिया के सबसे बड़े पर उम्र में सबसे छोटे, हिमालय को काटकर, और विस्फोटकों से उड़ाकर सुरंगें बनायी गयी हैं तथा अनाप शनाप गति से बढ़ते पर्यटन को बढ़ावा देने के लिए सड़कें चौड़ी की जा रही हैं, वहाँ तबाही कई गुना ज़्यादा हुई है। गनीमत है कि इस कहर की मार भागीरथी की जगह मंदाकिनी घाटी पर ज़्यादा पड़ी। यदि यही मार भागीरथी ने दी होती तो टिहरी बाँध का क्या हाल हुआ होता सोचकर दिल दहल जाता है। विकास का मलबा-बाँधों, सुरंगों और सड़कों से निकला मलबा-इस कहर को कई गुना ज़्यादा खौफनाक बना गया।

बारिश की सीरत भी इसी विकास (बदलाव) के चलते बदली है, पर उसके लिए उत्तराखण्ड के विकास को गुनहगार नहीं ठहराया जा सकता। थोड़े समय में हद से ज़्यादा बारिश, इसके लिए तो समस्त तथाकथित विकसित दुनिया ज़िम्मेदार है। धरती और आसमान के तापमान के बेइंतिहाँ बढ़ने में अभी तक तो उत्तराखण्ड का हाथ नहीं। हाँ, उसी घिसी-पिटी दिशा में तेजी से बढ़ने की ललक यहाँ के नेतृत्व और पढ़े-लिखों में भी हैं। मानव की बेपरवाही की वजह से धरती और आसमान का तापमान तो बढ़ ही गया है और फलतः मौसम का मिजाज भी बदल गया है पर इस बदलते हालात में हमारी दिशा क्या हो, सवाल यह है। प्रकृति से हम जैसा व्यवहार करेंगे उसके मुताबिक वह अपने को बदलती रहेगी। पर उत्तराखण्ड की विकास नीति तो हमारी सरकारों और नीति निर्णायकों के हाथ में हैं। और समय आ गया है कि सीधे-सीधे यह स्वीकार किया जाए कि इन नीतियों की वजह से ही इतनी बड़ी त्रासदी घटी है। यह प्रकृति का प्रकोप नहीं, मनुष्य के अहंकार, लोभ और संकीर्ण दृष्टि की वजह से ऐसा हुआ है। इस नरसंहार के लिए प्रकृति नहीं हमारी नीतियाँ और उसको बनाने वाले जिम्मेदार हैं। बावजूद इसके विडम्बना ही है कि किसी को न्यायालय के कटघरे में खड़ा नहीं किया जा सकता। यह हमारी व्यवस्थागत मजबूरी, सीमाएँ और आधुनिकता के विरोधाभास हैं।

न्याय और फैसले में अन्तर होता है। विधान में न्याय की व्यवस्था है, स्वस्थ्य समाज और परिवार में भी इसकी सम्भावना रहती है पर संविधान से संचालित आधुनिक न्याय प्रणाली में तो सिर्फ फैसले हो सकते हैं, न्याय का पता नहीं। विडम्बना यह है कि विधान में विश्वास करने वाला देश, जब राष्ट्र बना तो उसने अपने संविधान की प्रेरणा अमरीका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस से ली, जहाँ सम्भवतः विधान की कोई सभ्यतागत समझ ही न रही हो। इस विकास

के खिलाफ किसी भी राजनैतिक धड़े से कोई आवाज़ नहीं उठी है। कांग्रेस और भाजपा से तो उम्मीद भी नहीं की जा सकती, न ही वामपंथियों से। वामपंथी तो वैसे भी किसी भी धार्मिक सरोकार से विशेषकर अगर वह हिन्दू आस्थाओं से जुड़ा मामला हो, अपने को दूर ही रखते हैं। बंगाल में कोई बलात्कार हो जाए या एसएफआई का कोई विद्यार्थी मार दिया जाए तो इनकी बोलती ज़रूर निकलती है पर आस्थावादी हिन्दू यदि हजारों या लाखों की संख्या में मर जाएँ तो इनकी बला से। ये न तो इनके वोट बैंक हैं और न ही सर्वहारा की दुहाई देने वाले इन लोगों में इस बड़े आस्थावादी हिन्दू तबके के लिए, किसी प्रकार की हमदर्दी है। ये तो 'सांस्कृतिक क्रान्ति' में विश्वास रखने वाले लोग हैं जिन्हें धार्मिक आस्था रखने वालों से चिढ़ है, खासकर हिन्दुओं से और वैज्ञानिक आस्थावानों से प्रेम। हम दिमाग और दिल से छोटे जो हो गये हैं। पर यह रोग सिर्फ वामपंथियों तक सीमित नहीं है, हर आधुनिक प्रगतिशील इससे ग्रस्त है।

गढ़वाल के आम आस्थावान आदमी की यह समझ है कि इस इलाके की देवी, धारी देवी का सदियों पुराना मन्दिर-जो श्रीनगर में अलखनन्दा के समीप श्री क्षेत्र में स्थित था और जो श्री विद्या का केन्द्र माना जाता है-को जिस दिन (१६ जून २०१३) बाँध क्षेत्र में पड़ने की वजह से वहाँ से विस्थापित किया गया ठीक उसी रात से भयंकर वर्षा प्रारम्भ हुई और उसके बाद यह तबाही हुई। धारी देवी सिर्फ इस इलाके की देवी ही नहीं हैं मेघ विद्युत की भी देवी मानी जाती हैं। मेरे जैसे आधुनिक शिक्षा में पढ़े-पले के लिए इसे अंधविश्वास मान लेना सामान्य सी बात है। पर जबसे आधुनिक विज्ञान के अन्धविश्वास पर और उसे (आधुनिक विज्ञान में आस्था रखने वाले को) जो न समझ आए उसे नकारने या उसकी अनदेखी करने की आदत पर ध्यान गया है, यह भी स्वीकारना पड़ता है कि अस्तित्व की बहुत सी शक्तियों और नियमों की समझ-जो कभी हमारे पास रही हो और अब हमने उन्हें खो दिया हो-न रखते हों। मेरा आधुनिक विज्ञान से मिला अहंकार टूटा है। इसलिए मैं इन बातों को यदि पूरी तरह स्वीकारता नहीं तो नकारता भी नहीं। साथ ही साधारण व्यक्ति के विश्वास में मेरी आस्था बढ़ी है। आम चुनावों के समय प्रगतिशील वर्ग जन सामान्य की समझदारी की बातें बढ़ चढ़ कर करता दिखता है पर धार्मिक सरोकारों में यही लोग उसी वर्ग की समझदारी को अन्धविश्वास मान बैठते हैं। ये सामान्य वर्ग भले ही वैसे न समझते हों, जिसे हम समझना कहने लगे हैं पर इस वजह से उस विश्वास की अनदेखी करना भी समझदारी नहीं है। विनम्रता सिर्फ औपचारिकता में सिमट जाती है तो हानि होती है। तब वह सिर्फ दिखावा होती है। यह विनम्रता व्यक्ति को धोखे देती है। असली विनम्रता तो व्यक्ति के दिमाग को बड़ा बनाती है उसमें इस बात की समझ देकर कि वह जो चाहे नहीं कर सकता; उसके हाथ में सब कुछ नहीं है और भी बहुत कुछ है जिनकी कुछ भी 'होने' में भूमिका होती है। और यह भी कि वह सबकुछ नहीं जानता और सम्भवतः जान भी नहीं सकता। इस समझ से एक खुलापन आता है, दिमाग अपने तक संकुचित नहीं हो पाता। इसी विनम्रता ने आज तक भारत की सभ्यता को प्रकृति और उसके प्रत्येक घटक का सम्मान करना सिखाया है। इसी विनम्रता के चलते हमने प्रकृति के साथ अधिक छेड़-छाड़ नहीं की, उसे ईश्वर के रूप में देखा और पूजा और उसके साथ समन्वय बना कर चले।

आधुनिक विज्ञान ने जन मानस में एक अहंकार भर दिया है कि वह कुछ भी कर सकता है और सबकुछ जान सकता है। और इससे भी बढ़ कर यह कि वह (प्रकृति को) जितना समझता है वह ही समझने भर है, उसके आगे कुछ नहीं।

आधुनिक विज्ञान के शीर्ष पर जो वैज्ञानिक खोज में लगे हैं वे शायद इस प्रकार की मानसिकता और अहंकार नहीं रखते, पर उनकी संख्या नगण्य है। व्यापक स्तर पर आधुनिक विज्ञान ने ऐसा ही असर छोड़ा है। पिछली कुछ सदियों में एक ऐसा आतंक फैला है कि जो भी अपने को होशियार साबित करना चाहता वह 'वैज्ञानिक दृष्टि' रखने का दावा और दिखावा करता है। जो उसकी (सामान्य) बुद्धि नहीं समझ सकती वह सब अंधविश्वास है ऐसा मान लिया गया है। वह ऐसा मान बैठा है कि वह अब तर्क पर 'रैश्नल' निर्णय लेता है। इस प्रकार के दिमाग ने भारी नुकसान किया है। इस दिमाग में 'क्या' का प्रश्न गायब हो गया है। उसका ध्यान सिर्फ 'क्यों' और 'कैसे' पर टिका रहता है, जो बिना 'क्या' के अधूरे होते हैं। जिस दिमाग में सर्वोपरि प्रश्न 'क्या' का होता है वह सम्बन्धों को देखता है, उसकी सोच रेखकीय नहीं होती। कुछ भी होने में एक से अधिक कारण होते हैं पर आधुनिक विज्ञान अक्सर एक या दो प्रमुख कारणों को देख समझ कर जिससे उसे हस्तक्षेप करना आ जाता है उसे ही सम्पूर्ण समझ मान बैठता है। अनेक बार एक समय के लम्बे अन्तराल के बाद उसे वे दूसरे सम्बन्ध और कारण समझ आते हैं पर तब तक बहुत विनाश हो चुका होता है। स्वास्थ्य और दवा के क्षेत्र में यह कई बार साफ भी हो चुका है। बहुत सारी दवाएँ जो कभी रामबाण मानी जाती हैं उन पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा है फिर भी न तो आधुनिक विज्ञान को शर्म आई न ही अहंकार टूटा। सामान्य पढ़ा लिखा अपनी आधी अधूरी जानकारी को ज्ञान मान बैठा है।

आज के विकास के युग में जहाँ विज्ञान, तकनीक तक सिमट सा गया है और तकनीक बाजार के हाथों बिक चुकी है, तकनीक की दुनिया के लोग इस अहंकार से ग्रस्त हैं। पिछले कई दशकों से शायद ही कोई आविष्कार जनहित को ध्यान में रखकर हुआ हो। जनमानस के लालच और तृष्णा को बढ़ाकर उसकी जेब कैसे ढीली की जाए इसे ध्यान में रखकर ही तकनीक बाजार में उतरती है।

आधुनिक समझ की यह मान्यता है कि दुनिया एक सीधी सरल रेखा की तरह लगातार आगे बढ़ती जाती है यानि हर बाद वाला समय पहले से बेहतर होता आया है। इसके लिए ये कभी डार्विन का, कभी पिछले सौ, सवा-सौ साल के आंकड़ों-मृत्यु और जन्म के समय मरने वालों का, औसत उम्र, इत्यादि-इत्यादि का सहारा लेकर अपने को संतुष्ट कर लेते हैं कि दुनिया ने प्रगति की है। सौ साल की समझ को हजारों लाखों साल पर आरोपित कर देते हैं। इनकी दुनिया का इतिहास २-३ हजार साल भी नहीं कुछ सदियों पुराना ही होता है-आधुनिक विज्ञान और आधुनिक आंकड़ों से जुड़ी दुनिया तक सीमित है, इनकी दुनिया। इसके पहले दुनिया घोर अंधकार में थी-ऐसी इनकी मोटी समझ बन गयी है। विज्ञान की दुहाई देने वाले ये, मिस्र के पिरामिडों, हमारे मन्दिरों और दक्षिण अमरीका की मायन सभ्यता के अवशेषों को वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं, सिर्फ एक विस्मय भरी, पर्यटकी दृष्टि से देखते हैं और भूल जाते हैं। इन पर मनन करना इन्हें गँवारा नहीं। आधुनिकता आँखों पर ऐसी पट्टी बाँधती है कि कोई भी ऐसी चीज़ जो आधुनिक मान्यता और आधुनिक मिथक के विरुद्ध बैठती हो, उसकी अनदेखी कर दी जाती है। यदि सचमुच ये वैज्ञानिक दृष्टि से देखते तो स्वयं की दृष्टि के कुछेक भ्रम शायद टूटते और अहंकार भी कुछ कम होता। इन्हें विकास और प्रगति जैसे आधुनिक मिथकों में आस्था है, अपनी सभ्यता के मिथकों से भी कोई लेना देना नहीं। इन्हें महात्मा गांधी के 'हिन्द स्वराज' से भी कोई वास्ता नहीं, नहीं तो गांधी जी की उस बात पर ध्यान तो ज़रूर देते कि 'हजारों साल पहले जो हल काम में लिया जाता था, उससे हमने काम चलाया। हजारों साल पहले जैसे झोपड़े थे, उन्हें हमने

कायम रखा। हजारों साल पहले जैसी हमारी शिक्षा थी वही चलती आयी। हमने नाशकारक होड़ को समाज में जगह नहीं दी....ऐसा नहीं था कि हमें यन्त्र वगैरह की खोज करना ही नहीं आता था। लेकिन हमारे पूर्वजों ने देखा कि लोग यदि यन्त्र वगैरह की झंझट में पड़ेंगे तो गुलाम ही बनेंगे और अपनी नीति को छोड़ देंगे।' इसे मानना ज़रूरी नहीं, पर बात को बिना गौर किए नकारना या अनदेखी करने में हम बहुत कुछ खो रहे हैं। जैसा कला आश्रम, आदिलाबाद के रवीन्द्र शर्मा कहते हैं- 'छोटी मशीन को समाज संचालित और व्यवस्थित करता है (अपनी सहूलियत के अनुसार), बड़ी मशीन समाज को व्यवस्थित और संचालित करती है।' बड़ी परियोजनाएँ भी यही करती हैं। समाज के नाम पर, समाज के विकास के लिए बनी ये योजनाएँ समाज को उजाड़ देती हैं।

उत्तराखण्ड और हिमालय के विकास को लेकर कहीं से थोड़ी बहुत आवाज़ उठी है तो वह आंदोलनकारियों एवं स्वयंसेवी संगठनों के छोटे से तबके से। पर यह नाकाफी है। और इनमें से भी अधिकतर बकौल स्वर्गीय किशन पटनायक - '(इनकी) इस जागृति का प्रेरणा-स्रोत भारतीय अनुभव नहीं है, बल्कि यूरोप का पर्यावरण आंदोलन है।' ये भी पश्चिम के आधुनिक विज्ञान के मोहपाश से अपने को उबार नहीं पाये हैं। इसलिए इन्हें कभी -भारतीय अनुभव' हो भी पाएगा, इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती।

पिछले ३०-३५ वर्षों में एक ऐसे राजनैतिक, जो ईमानदार ही नहीं, बिना पूर्वाग्रहों के एक मौलिक बौद्धिक थे, किशन पटनायक, कहते थे- 'जो लोग लम्बे समय तक गुलाम बने रहते हैं, उनके स्वभाव में कुछ परिवर्तन आ जाता है। अल्पकालीन गुलामी में सिर्फ राजनैतिक गुलामी होती है, जबकि दीर्घकालीन गुलामी में मानसिक गुलामी आ जाती है। इसलिए गुलामी के अभ्यस्त समूहों में गुलामी के प्रति आक्रोश शिथिल होता है। तर्क और निर्णय दोनों स्तरों पर गुलाम का दिमाग कमजोर होता है।

आजादी आन्दोलन का हरेक नेता और कार्यकर्ता राजनैतिक दासता के प्रति सचेत था पर बौद्धिक और आर्थिक दासता के प्रति उसकी समझ गहरी नहीं थी। वह सोचता था कि जो भी बौद्धिक और आर्थिक दासतां है वह राजनैतिक दासता का ही प्रतिफलन है। इसलिए राजनैतिक दासता से मुक्त होना ही पर्याप्त है। यह एक लापरवाही भरी गलत सोच थी जो जवाहरलाल नेहरू से लेकर सरदार पटेल तक व्याप्त थी। सिर्फ मोहनदास करमचंद गांधी इसके विपरीत सोचता था।

इससे ज़्यादा विडम्बना की बात क्या हो सकती है कि जिस विकास-पद्धति ने एशिया अफ्रीका का इतना विनाश किया है उसके विकल्प ढूँढना भारत के बुद्धिजीवियों ने तब तक शुरू नहीं किया जब तक यूरोप में उसका उद्गम और प्रसार नहीं हो पाया। आधुनिक विकास के विकल्प के बारे में यूरोपीय व्यक्ति भी सोच रहे हैं लेकिन यह कोई धारा या आन्दोलन नहीं। पर्यावरण आन्दोलन के साथ उनके अनुभव में उपभोक्तावाद से टकराव नहीं है।

आधुनिक विकास पद्धति का विकल्प गैर आधुनिक ही होगा। गैर आधुनिक का मतलब है पीछे चलना। गुलामी से अभ्यस्त दिमाग को गैर आधुनिक होने की बात से डर लगता है। उसे घबराहट होती है कि कोई कह देगा कि तुम देश को पीछे ले जाना चाहते हो। यह आरोप सुनकर बड़े से बड़े गांधीवादी और भारतीयतावादी अपनी बात कहते थोड़ी देर रुक जाते हैं। गांधी के 'हिन्द स्वराज' की खूबी यह थी कि उसमें झिझक या हिचक नहीं थी। 'हिन्द स्वराज' भारत

को अठारहवीं सदी में जाने का एक आह्वान था, गुलामी से पहले वाली स्थिति में खड़े हो कर हम अपनी यात्रा शुरू करें। पीछे ले जाने का आरोप लगाने वाले वाकई महामूर्ख होते हैं, क्योंकि समय के बारे में उनका जो अपना दर्शन है (सरल रैखिक समय) उसमें पीछे जाना कभी होता ही नहीं। सच यह है कि युद्ध को छोड़कर कहीं पीछे हटना अपमानजनक नहीं होता और युद्ध में भी सम्मानजनक पीछे हटने की अनुमति रहती है।'

किशन जी में साहस और मौलिक रूप से सोचने की ताकत दोनों थी, इसलिए वे ऐसा कह पाये। आज किसी में न यह सोच है न साहस। इक्का दुक्के अनुपम मिश्र जैसों को छोड़ दें तो विरले ही मिलेंगे। बौद्धिक जगत पर पश्चिम की वैज्ञानिक सोच का आतंक छाया हुआ है। इसलिए उसके विरुद्ध यदि बुद्धि को लगता भी है, तो जाने की हिम्मत प्रायः नगण्य है। पश्चिम का विज्ञान अधूरा है और अब तो वह पूँजीवाद का नौकर होकर रह गया है। वैज्ञानिक शोध पूरी तरह बड़े पूँजी के दान पर निर्भर हो गयी है। साथ ही यह साधारण मनुष्य को भयंकर रूप से अहंकारी, आस्थावान और भ्रम में रखता है। ईश्वर और अपने धर्म में आस्था को पदच्युत करके वेद वाक्य की जगह 'विज्ञान-वाक्य'' में आस्था को प्रतिष्ठत करता है। इसके विरुद्ध कुछ भी कहने में डर लगने लगता है। पूँजीवाद इसी डर का सहारा लेकर विज्ञान और विकास का नारा देकर अपना काम करते रहता है और दुनिया की सरकारों को चलाने वाले अपनी जेबें भरते रहते हैं। एक अजीब उलझन में हम फँस गये हैं जिसमें शोषित वर्ग विकास के नाम पर स्वयं अपना शोषण करवाने को उतावला रहने लगा है। उत्तराखण्ड में अब तक विकास के नाम पर जो कुछ हुआ है उसमें स्थानीय लोगों का कितना भला हुआ है इसका लेखा जोखा देने को कोई तैयार नहीं। देश में १९९१ के बाद, जबसे हमने अपनी अर्थव्यवस्था को वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ दिया, बड़ी प्रगति हुई है, ऐसा कहा जाता है। औद्योगीकरण और बड़ी परियोजनाओं से रोजगार बढ़ता है यह भी हमें समझाया जाता है। १९९१ के बाद इन दोनों क्षेत्रों में इजाफा हुआ है, यह भी बताया जाता है। पर आँकड़े बताते हैं इन सबसे देश में रोजगार में कोई बढ़ोत्तरी नहीं हुई। आशीष कोठारी और असीम श्रीवास्तव की एक जोरदार रिपोर्ट के मुताबिक १९९१ से लेकर २०११ तक उद्योग और सरकार में नौकरी करने वालों की संख्या तीन करोड़ से कम ही है। २० वर्षों में इनमें कोई इजाफा नहीं हुआ है, बावजूद जो भी 'विकास' और 'तरक्की' हमने इन बीस वर्षों में की होगी। फिर भी भ्रम बरकरार है कि उद्योग लगेंगे, बाँध बनेंगे, बिजली की परियोजनाएँ बनेंगी, पर्यटन बढ़ेगा तो नौकरियाँ बढ़ेगी।

'विकास' का आधुनिक मिथक ज़बरदस्त है। देहरादून की सड़कों पर, चौरस्तों पर गाड़ियों को आने, न जाने का इशारा करती चुस्त पतलून पहने, धूप में खड़ी महिलाओं को देखकर रोना आता है और हमारे कई आधुनिकता की चकाचौंध से झुलसे महिला और पुरुष मित्रों को इसमें विकास दिखता है। यह मजबूत गढ़वाली औरतें शायद इससे पहले खुली प्रकृति में रहने और घाघरा या साड़ी पहने की अभ्यस्त हों। देहरादून के धुएँ भरे चौरस्तों पर धूप में खड़ा होना इन्हें शायद ही अच्छा लगता हो, पर साथ ही इनके पतियों और बच्चों की नजर में इनकी इज्जत भी बढ़ी हो। इनमें से कईयों के घर उसी केदार घाटी में शायद हो जहाँ आज सन्नाटा छाया है। वे कौन से कारण हैं जिन्होंने इन्हें वहाँ से निकलने को मजबूर या प्रेरित किया? हमें आदत हो गयी है सभी कारणों में उन पहलूओं पर ध्यान देने की, जिनकी आज के विकास के युग में तूती बोलती है-मसलन आर्थिक पहलू, पुरुष महिला भेद-भाव, इत्यादि इत्यादि। पर आंशिक सच्चाई, आंशिक सत्य और झूठ के बीच अधिक साम्य होता है। बहुदा आंशिक सच्चाई और आंशिक

सत्य, झूठ के ज़्यादा नज़दीक और वास्तविक सत्य से दूर होता है। समाज में व्याप्त मिथक व्यवहार को संचालित करते हैं। आज का मिथक 'विकास' और प्रगति है। इसी से जुड़ा अंधविश्वास विज्ञान के सर्वशक्तिमान होने से है। और मज़ा यह है कि जिसे विज्ञान नहीं समझता, उसके होने को भी वह नकारता है।

हमें अपने में विनम्रता लाने की ज़रूरत है। मानने की ज़रूरत है कि हम बहुत कुछ नहीं जानते इसलिए प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ बन्द करें। बड़ी परियोजनाएँ बड़ी छेड़ छाड़ करती हैं। विज्ञान और तकनीक के अहंकार से बचें और और उत्तराखण्ड आन्दोलन के समय जो तर्क दिया जाता था, उसे याद करके उसी दिशा में बढ़ें।

अकेले नहीं आते बाढ़ और अकाल

अनुपम मिश्र

आज से कोई सौ बरस पुरानी घटना है। वह घटना यदि घटी न होती तो शायद हम आज यहाँ एकत्र भी न हो पाते। सन् १९१० का क़िस्सा है। राजेन्द्र प्रसाद तब कलकत्ता में वकालत पढ़ रहे थे। यहाँ एक दिन उन्हें उस दौर के प्रसिद्ध बैरिस्टर श्री परमेश्वर लाल ने बुलाया था। वे कुछ समय पहले ही गोखलेजी से मिले थे। बातचीत में गोखलेजी ने उनसे कहा था कि वह यहाँ के दो-चार होनहार छात्रों से मिलना चाहते हैं। परमेश्वरजी ने सहज ही राजेन्द्र बाबू का नाम सुझा दिया था।

राजेन्द्र बाबू गोखलेजी से मिलने गये, अपने एक मित्र श्रीकृष्ण प्रसाद के साथ। सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी की स्थापना अभी कुछ ही दिन पहले हुई थी। गोखलेजी उस काम के लिए हर जगह कुछ अच्छे युवकों की तलाश में थे। उन्हें यह जानकारी परमेश्वरजी से मिल गयी थी कि वे बड़े शानदार विद्यार्थी हैं। वकालत उन दिनों ऐसा पेशा था जो प्रतिष्ठा और पैसा एक साथ देने लगा था। इस धन्धे में सरस्वती और लक्ष्मी जुड़वाँ बहनों की तरह आ मिलती थीं।

कोई डेढ़ घण्टे चली इस पहली ही मुलाकात में राजेन्द्र बाबू से श्री गोखले ने सारी बातों के बाद आखिरी में कहा था, 'हो सकता है तुम्हारी वकालत खूब चल निकले। बहुत रूपये तुम पैदा कर सको। बहुत आराम और ऐश-इशरत में दिन बिताओं। बड़ी कोठी, घोड़ा-गाड़ी इत्यादि दिखावट का सामान सब जुट जाए। और चूँकि तुम पढ़ने में अच्छे हो तो इसलिए तुम पर वह दावा और भी अधिक है।'

गोखलेजी थोड़ा रुक गये थे। कुछ क्षणों के उस सन्नाटे ने भी राजेन्द्र बाबू के मन में न जाने कितनी उथल-पुथल पैदा की होगी। वे फिर बोलने लगे : 'मेरे सामने भी यही सवाल आया था, ऐसी ही उमर में। मैं भी एक साधारण ग़रीब घर का बेटा था। घर के लोगों को मुझसे बहुत बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं। उन्हें लगता था कि मैं पढ़कर तैयार हो जाऊँगा, रूपये कमाऊँगा और सबको सुखी बना सकूँगा। पर मैंने उन सबकी आशाओं पर पानी फेर कर देशसेवा का व्रत ले लिया। मेरे भाई इतने दुखी हुए कि कुछ दिनों तक तो वे मुझसे बोले तक नहीं। हो सकता है यही सब तुम्हारे साथ भी हो। पर विश्वास रखना कि सब लोग अन्त में तुम्हारी पूजा करने लगेंगे।'

श्री गोखले के मुख से मानो एक आकाशवाणी-सी हुई थी।

बाद का किस्सा लम्बा है। लम्बी है राजेन्द्र बाबू के मन में कई दिनों तक चले संघर्ष की कहानी और घर में मचे कोहराम की, रोने धोने की, बेटे के साधु बन जाने की आशंका की।

यह घटना नहीं हुई होती तो आज आकाशवाणी के इस कार्यक्रम के निमित्त आदरणीय राजेन्द्र प्रसादजी की पावन स्मृति में उनको प्रणाम करने का सौभाग्य हमें नहीं मिल पाता।

इस किस्से से ऐसा न मान लें हम लोग कि वे अगले ही दिन अपना सब कुछ छोड़ देशसेवा में उतर पड़े थे। श्री गोखले खुद बड़े उदार थे। उन्होंने उस दिन कहा था, 'ठीक इसी समय उत्तर देना ज़रूरी नहीं है। सवाल गहरा है। फिर एक बार और मिलेंगे, तब अपनी राय बताना।'

अगले दस-बारह दिनों का वर्णन नहीं किया जा सकता। भाई साथ ही रहते थे। इनके व्यवहार में आ रहे बदलाव वे देख ही रहे थे। राजेन्द्र बाबू ने कोर्ट जाना बन्द कर दिया था। न ठीक से खाते-पीते न किसी से मिलते-जुलते थे। फिर एक दिन हिम्मत जुटाई। एक पत्र, काफ़ी बड़ा पत्र, भाई को लिखा और घर छोड़ने की आज्ञा माँगी। पत्र तो लिख दिया पर सीधे उन्हें देते नहीं बना। सो एक शाम जब भाई टहलने के लिए गये थे, उसे उनके बिस्तरे पर रख खुद भी बाहर टहलने चले गये।

भाई ने लौटकर पत्र देखा। और अब खुद राजेन्द्र बाबू को तलाशने लगे। जब वे बाहर कहीं मिल गये तो भाई बुरी तरह से लिपट कर रोने लगे। राजेन्द्र बाबू भी अपने को रोक नहीं पाये। दोनों फूट-फूटकर रोते रहे। ज़्यादा बातचीत की हिम्मत नहीं थी फिर भी तय हुआ कि कलकत्ता से गाँव जाना चाहिए। माँ, चाची और बहन को सब बताना होगा।

राजेन्द्र बाबू को अब लग गया था कि इस देश प्रेम और घर प्रेम में घर का वजन ज़्यादा भारी पड़ रहा है। वे इतनी आसानी से इस प्रेम बन्धन को काट नहीं पाएँगे। गोखलेजी अभी वहीं थे। राजेन्द्र बाबू एक बार और उनसे भेंट करने गये। सारी परिस्थिति बतायी। गोखलेजी ने भी उन्हें पाने की आशा छोड़ दी।

गाँव पहुँचने का किस्सा तो और भी विचित्र है। चारों तरफ रोना-धोना। बची-खुची हिम्मत भी टूट गयी थी। वे जैसे थे वैसे ही बन गये। फिर से लगा कि पुरानी ज़िन्दगी पटरी पर वापस आने लगी है।

पर उस दिन जो आकाशवाणी हुई थी। वह झूठी कैसे पड़ती ? यही वकालत उन्हें आने वाले दिनों में, पाँच-छः बरस बाद चम्पारण ले गयी। वहाँ उन पर, उनके जीवन पर नील का रंग चढ़ा। नील का रंग याने गाँधीजी के चम्पारण आन्दोलन का रंग। यह रंग इतना चोखा चढ़ा कि वह फिर कभी उतरा ही नहीं।

गाँधी रंग में रँगे राजेन्द्र बाबू फिर बिना किसी पद की इच्छा के देशभर घूमते रहे और सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में जितनी तरह की समस्याएँ आती हैं, उनके हल के लिए अपने पूरे मन के साथ तन अर्पित करते रहे और जहाँ ज़रूरत दिखी वहाँ धन भी जुटाते-बाँटते रहे।

उन समस्याओं की, उन विषयों की गिनती गिनाना कठिन काम है। आज तो हम दो विषयों पर, दो समस्याओं पर ही कुछ बातें करेंगे। ये हैं बाढ़ और अकाल। पानी के स्वभाव के ये दो छोर हैं। एक में, बाढ़ में चारों तरफ पानी ही पानी है और दूसरे में हर कहीं पानी का अभाव ही अभाव है। राजेन्द्र बाबू ने इनमें से जो भी समस्या सामने आयी, बाकी हाथ के कामों को गौण मानकर सबसे पहले इन्हीं पर ध्यान दिया।

लेकिन इसके विस्तार में जाने से पहले हम ज़रा आज का सन्दर्भ भी दुहरा लें।

पाँच राज्यों में चुनाव हो रहे हैं। आये दिन हम देखते हैं कि किसी को किसी राजनैतिक दल ने अपना उम्मीदवार नहीं बनाया तो उसने गुस्से में आकर दल छोड़ दिया। किसी ने निराश होकर आत्महत्या कर ली तो किसी ने उस दल की ऐसी बखिया उधेड़ दीं, उसके इतने सारे दोष, अवगुण गिना डाले कि सुनने-पढ़ने वाले को अचरज होने लगे कि ये अब तक उस दमघोंटू संसार में साँस कैसे ले रहे थे। इसके पीछे एक धारणा यह बन गयी है कि मुझे कोई पद नहीं मिलेगा तो देश की सेवा कैसे हो पायेगी मुझसे !

इस विचित्र धारणा को पालने-पोसने और आगे बढ़ाने में सारे दल-उनके सदस्य धर्म, लिंग, जाति, अगड़े-पिछड़े सभी में गज़ब की सहमति दिखती है। ऐसे में हमें राजेन्द्र बाबू के कुछ विचार आज एक बार फिर दुहरा लेने चाहिए।

यह प्रसंग आज से कोई ६३ बरस पहले का है। संयोग से तब भी महीना नवम्बर का ही था। अवसर था कौंसिल और असेम्बली के चुनावों का। छोटी-छोटी बातों पर तब के बड़े-बड़े नामों तक में मतभेद ही नहीं, मनभेद के भी कड़वे किस्से सामने आने लगे थे। क्या ऐसी ही नींव पर, कमजोर नींव पर आज़ादी के बाद की दलगत राजनीति का महल नहीं बन रहा था ?

राजेन्द्र बाबू ने उस समय अपना मन मजबूत कर 'देश' नामक अख़बार में एक लेख लिखा था। उसे उन्हीं के साथियों ने पसन्द नहीं किया था। उन्हीं के शब्दों को यहाँ दुहरा लेना चाहिएः 'जब देश के स्थान पर हम किसी जाति-विशेष अथवा धर्म विशेष अथवा दल विशेष को बिठाना चाहते हैं, तब इस तरह की लड़ाई हुए बिना नहीं रह सकती।'

'देश सेवकों के लिए एक ही रास्ता है कि कम से कम तब तक, जब तक देश पूर्णरूपेण स्वतन्त्र नहीं हो जाता, वे किसी स्थान, पद अथवा प्रतिष्ठान के लिए लालायित न हों और केवल सेवा को ही ध्येय बनाकर काम करते जाएँ।'

इस लेख में वे आगे लिखते हैं : 'मैं इसको प्रवंचना मात्र मानता हूँ, जब कोई यह सोचता और कहता है कि सेवा करने के लिए उसे किसी पद विशेष की आवश्यकता है तथा उस पद के बिना वह सेवा नहीं ही कर सकता।'

इस ऐतिहासिक लेख के अन्त में वे कहते हैं : 'सेवक के लिए हमेशा जगह खाली पड़ी रहती है। उम्मीदवारों की भीड़ सेवा के लिए नहीं हुआ करती। भीड़ तो सेवा के फल के बँटवारे के लिए लगा करती है। जिसका ध्येय केवल सेवा है, सेवा का फल नहीं है, उसको इस धक्का-मुक्की में जाने की और इस होड़ में पड़ने की कोई ज़रूरत नहीं है।'

ज़मीन पर यह सब हो रहा था और उधर आसमान से भी एक भयानक विपत्ति उतर आयी थी। आश्विन के महीने में बिहार के छपरा ज़िले में एक दिन घनघोर बरसात हुई। चौबीस घण्टों में लगभग छत्तीस इंच वर्षा हुई। नतीजा यह हुआ कि पूरा ज़िला भयानक बाढ़ में डूब गया। वहाँ के सरकारी कर्मचारियों ने लोगों की इस मुसीबत में बहुत ही उदासीनता और उपेक्षा का भाव दिखाया। तब आज की तरह ढेर सारे अखबार, दिन-रात निरर्थक खबरें बहाने वाले ढेर सारे टेलीविजन चैनल तो थे नहीं। पर जो भी थोड़े से अखबार छपते थे, सभी ने यह बात लिखी कि जब लोग, घर, गाँव, खेत, मवेशी पानी में डूब रहे थे, त्राहि-त्राहि पुकार रहे थे, ऐसे में भी कुछ अधिकारी-कर्मचारी नावों में चढ़कर 'झिरझिरी' खेल रहे थे।

झिरझिरी एक तरह से लुकाछिपी का खेल होता है। डूबते लोगों को, यहाँ तक कि स्त्रियों और बच्चों को भी बचाने में इन अधिकारियों ने कोई मदद नहीं की। लोग डूबते रहे, प्रशासन लुकाछिपी ही खेलता रहा। ऐसी भयंकर परिस्थिति में एक अँग्रेज़ न्यायाधीश और एक भारतीय उप न्यायाधीश ने खूब मदद की लोगों की। राजेन्द्र बाबू जैसे शालीन व्यक्ति अपनी आत्मकथा में उस दिन का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कलेक्टर और पुलिस के अफ़सर तथा डिप्टी मजिस्ट्रेट 'टस से मस' नहीं हुए। सरकार के ऐसे घृणित व्यवहार को लेकर अगले दिन बाढ़ के पानी के बीच ही छपरा में एक विशाल सार्वजनिक सभा हुई और उसमें सरकार की खुले आम निन्दा की गयी और साथ ही मदद देने आगे आये लोगों की खूब प्रशंसा भी हुई और उन सबके प्रति कृतज्ञता प्रकट की गयी थी।

देहातों का हाल तो और भी बुरा था। उन दिनों छपरा से मशरक तक जाने वाली रेल लाईन के कारण बाढ़ का सारा पानी आगे बहने के बदले एक बड़े भाग में फैल गया था और पीछे से आने वाली विशाल धारा उसका स्तर लगातार उठाते जा रही थी। लोगों को इससे बचने का एक ही रास्ता दिखा था : रेलवे लाईन काट देना और चढ़ते पानी को आगे के भूभाग में फैलने देना ताकि यहाँ कुछ साँस ली जा सके। पर कलेक्टर ने उनकी एक न सुनी। और तो और ऐसी ही तबाही मचा रही अन्य रेलवे लाईनों पर सशस्त्र पहरा बिठा दिया गया था। सीवान के पास एक ऐसी ही जगह बहुत पानी जमा हो गया था। गाँव वालों ने तब खुद ही उस रेल लाईन को काटना तय कर लिया। पर सामने सशस्त्र पुलिस देख उनकी हिम्मत न पड़ी।

राजेन्द्र बाबू इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं : 'कष्ट सहते गये लोग। पर जब वह बर्दाश्त से बाहर हो गया तो दो-चार आदमी कन्धे पर कुदाल रखकर पानी में तैरते हुए रेल लाईन की तरफ बढ़े। पुलिस ने उन्हें देखा और उनको धमकाया। उन्होंने जवाब दिया कि पानी में डूब कर तो हम मर ही रहे हैं और तुम लाईन नहीं काटने देते।

अब तक हमने बर्दाश्त किया। अब और बर्दाश्त नहीं कर सकते। मरना दोनों हालात में है। डूबकर मरें या गोली खाकर मरें। हमने निश्चय कर लिया है कि गोली खाकर मरना बेहतर है। हम लाईन काटेंगे, तुम गोली मारो।'

बहते पानी में ये बहादुर लोग तैरते हुए मज़बूत बाँध की तरह उठी हुई उस रेल लाईन पर अपने दृढ़-निश्चय से कुदाल चलाते गए। पुलिस की हिम्मत नहीं हुई गोली चलाने की। लाईन अभी थोड़ी-सी ही कट पायी थी कि पीछे भर रहे पानी की ताकत ने लोगों के संकल्प में साथ दिया और लाईन भड़ाक से टूटी और विशाल बाढ़ का पानी उसे किसी तिनके की तरह अपने साथ न जाने कहाँ बहा ले गया। पीछे के अनेक गाँव पूरी तरह से डूबने से बच गये थे। बाद में पुलिस वालों ने भी रिपोर्ट में लिखा कि बाढ़ के दबाव से ही रेल लाईन कट गयी थी।

इस सारी विपत्ति में राजेन्द्र बाबू और वे जिस दल से जुड़े थे उसके अनगिनत कार्यकर्ताओं ने दिन रात काम किया था। छपरा की उस बाढ़ में किसी बड़े अधिकारी ने यहाँ तक कह दिया था कि ये सारी शिकायतें लेकर मेरे पाये क्यों आये हो, जाओ गाँधी के पास जाओ। और गाँधी का मतलब कांग्रेस के लोग, और उसमें भी राजेन्द्र बाबू होता था।

इन सब दुखद प्रसंगों से राजेन्द्र बाबू ने देखा था कि बाढ़ और साथ ही अकाल अकेले नहीं आते। इनसे पहले समाज में और भी बहुत कुछ ऐसा होता है जो होना नहीं चाहिए। यह सब कभी धीरे-धीरे तो कभी बड़ी तेज़ी से होता है। गति जो भी हो, समाज के नीति निर्धारकों, संचालकों और नेतृत्व का ध्यान इन बातों की तरफ जा नहीं पाता और फिर बाढ़ या अकाल सामने आ खड़ा हो जाता है।

बुरे कामों की बाढ़ आ जाती है। बिना पानी का स्वभाव समझे विकास के नाम पर कई तरह के काम होते रहते हैं। यह किसी एक कालखण्ड की बात नहीं है। दुर्भाग्य से सब समय में ऐसी गलतियाँ दुहरायी जाती रहती हैं। तो एक तरफ प्रकृति, पर्यावरण के खिलाफ ले जाने वाले कामों की बाढ़ आ जाती है, दूसरी तरफ अच्छे कामों का अकाल पड़ने लगता है। अच्छे विचारों का अकाल पड़ने लगता है।

राजेन्द्र बाबू के जमाने में उन इलाकों में अँग्रेज़ों की व्यापारिक नीतियों या कहें अनीतियों के कारण बड़ी तेज़ी से रेल की लाईनें बिछायी गयी थीं। रेल लाईन उनके व्यापार और शासन के लिए भी बड़ी खास चीज़ बन गयी थी। इसलिए उसे आसपास की ज़मीन से ऊँचा उठाकर रखना ज़रूरी था। आज लोग इस बात को भूल चुके हैं कि कभी हमारे देश में फैल रहा रेल व्यवस्था का यह जाल अँग्रेज़ सरकार के भी हाथों में नहीं था। वह कुछ निजी अँग्रेज़ी कंपनियों की जेब में था।

खुद राजेन्द्र बाबू अपनी आत्मकथा में इस दुखद प्रसंग में लिखते हैं कि 'रेल-लाईनों के कारण बाढ़ की भयंकरता बढ़ जाती है। अपने सूबे में पिछले तीस बरसों में, जितनी बड़ी और भयंकर बाढ़ें, आयी हैं, सबका मुझे काफ़ी अनुभव है। मेरा यह दृढ़ विचार है कि रेलवे लाईन और डिस्ट्रिक्ट कोर्ट की तथा दूसरी ऊँची सड़कें बाढ़ के कारणों में प्रमुख हैं। यदि इनमें जगह-जगह काफ़ी संख्या में चौड़े पुल बने रहते तो हालत ऐसी न होती।.... पर यहाँ तो रेल की कम्पनियों के मुनाफ़े पर ही अधिक ध्यान रखा जाता है। उनको पुल बनवाने के लिए मजबूर नहीं किया जाता, लाईन काटना तो दूर की बात है।.... बी.एन.डब्ल्यू. रेलवे ने इस मामले में बहुत कंजूसपन दिखलाया है। यद्यपि अब उसमें

कई जगह पुल बने हैं, तथापि अब भी बहुत से ऐसे स्थान हैं, जहाँ पुल की ज़रूरत है। उसने जो पुल बनवाये हैं, वे जनता के कष्ट दूर करने के ख्याल से नहीं अपने मुनाफ़े के ख्याल से ; क्योंकि जब तक केवल जनता के कष्ट की बात रही, एक न सुनी गयी ; पर जब प्रकृति ने लाईन को इस तरह तोड़ा कि महीनों रेल चलना बन्द हो गया, उसने मजबूरन कई पुल बनवा दिये।'

सन् १९३७ तक आते-आते तो उस बड़े भू-भाग की हालत ऐसी हो गयी थी कि बिहार के राज्यपाल ने उस वर्ष बाढ़ की समस्या को लेकर एक बड़ा सम्मेलन पटना में बुलाया था। इसमें राजेन्द्र बाबू को भी भाग लेने का निमन्त्रण भेजा गया था। खुद राज्यपाल ने अपने मुख्य भाषण में बाढ़ के आने के कई कारण, प्रकृति के विरुद्ध जाने के जो अनेक बुरे काम किये जाते हैं, उन सबका वर्णन करते हुए श्रोताओं से माफ़ी तक माँगी थी कि उनके भाषण का एक बड़ा भाग सकारात्मक होने के बदले काफ़ी कुछ नकारात्मक-सा हो गया था!

राजेन्द्र बाबू अचानक अस्वस्थ हो गये थे। वे उस सम्मेलन में भाग नहीं ले पाये। लेकिन उन्होंने इस विषय पर एक बड़ी टिप्पणी लिखकर भेजी थी। सम्मेलन में इसे उस दिन श्री अनुग्रह नारायण सिन्हाजी ने पढ़कर सुनाया था।

वर्षा तो हर साल होती ही है। पूरे देश में। कहीं कम, कहीं ज़्यादा, कहीं बहुत ज़्यादा भी। पर इन विभिन्न जगहों में रहने वाले समाज ने अपने वर्षों के अनुभव से इस कम-ज़्यादा वर्षा के साथ अपना जीवन कैसे ढालना है-यह ठीक से सीख लिया था।

एक तरफ तो है जैसलमेर, जहाँ वर्षा का आँकड़ा इंचों में बात करें तो वर्षभर में ६ इंच से ऊपर नहीं जाता तो दूसरी तरफ हमने देखा कि बिहार के छपरा में मात्र एक दिन में ३६ इंच वर्षा हो गयी थी। फिर उत्तर-पूर्व में हमारे एक प्रदेश का तो नाम ही मेघों का घर रखा गया है। इन सभी जगह के समाजों ने पीढ़ियों के अनुभव से, अपने आसपास के मौसम, धरती, हवा, पेड़, पौधे और वहाँ के पशुओं तक के साथ आत्मीय सम्बन्ध बना लिए थे।

आज हम देखते हैं कि जलनीतियाँ बनायी जाने लगी हैं। पहले ऐसा नहीं होता था। समाज अपना एक जलदर्शन बनाता था और उसे क़ागज़ पर न छापकर लोगों के मन में उकेरे देता था। समाज के सदस्य उसे अपने जीवन की रीत बना लेते थे। फिर यह रीत आसानी से टूटती नहीं थी। जलनीतियाँ आती-जाती सरकारों के साथ बनती-बिगड़ती रहती हैं। पर जलदर्शन बदलता नहीं। इसी रीत से उस क्षेत्र विशेष की फसलें किसान समाज तय कर लेता था। सिंचाई के लिए अपने साधन जुटा लेता था।

अभी हमने जैसा बिहार के सन्दर्भ में देखा कि अंग्रेज़ों ने बिना उस इलाके को समझे रेल की पटरियाँ खूब ऊँची उठाकर बिछा दीं और गंगा और अन्य नदियों के विशाल मैदान को जगह-जगह रोक लिया। उस बड़े भू-भाग में पानी की बेरोकटोक आवक-जावक के लिए उनने समुचित प्रबन्ध भी नहीं सोचा, उसे करने की बात तो कौन कहे। रेल लाईन में कितने अन्तर पर बड़ी-बड़ी पुलियाँ बननी चाहिए-इस पर उनने ध्यान नहीं दिया। कम खर्च में ज़्यादा मुनाफ़ा खींच लेने का काम किया और बाद में पता चला कि यह तो उनकी अपनी भाषा, अँग्रेज़ी की कहावत की तरह परिणाम दे रहा है। कहावत है-पैनी वाईज, पाउण्ड फ़ुलिश। पैसा बचाने में होशियारी की, पर रूपया गँवा बैठे।

जब अँग्रेज़ हमारे यहाँ आये थे तो हमारे देश में कोई सिंचाई विभाग नहीं था। कोई इंजीनियर नहीं था, इंजीनियरिंग की पढ़ाई नहीं थी। वैसी शिक्षा देने वाला कोई विद्यालय, महाविद्यालय तक नहीं था। सिंचाई की शिक्षा नहीं थी पर सिंचाई का शिक्षण हर जगह था और समाज उस शिक्षण को अपने मन में सँजोकर रखता था और उस शिक्षण को अपनी ज़मीन पर उतारता था। जब अँग्रेज़ यहाँ आये हैं-एक बार फिर दुहरा लें तब हमारे यहाँ एक भी सिविल इंजीनियर नहीं था पर सचमुच कश्मीर से कन्याकुमारी तक, पश्चिम से पूरब तक कोई २५ लाख छोटे-बड़े तालाब थे। इनसे भी ज़्यादा संख्या में ज़मीन का स्वभाव देखकर अनगिनत कुँए बनाये गये थे। वर्षा का पानी तालाबों में कैसे आयेगा, किस तरह के क्षेत्र से, यहाँ-वहाँ से बहता आयेगा-उसका आगौर अनुभवी आँखों से नाप लिया जाता था। फिर यह पानी सालभर कैसे पीने का पानी जुटाएगा और किस तरह की फसलों को जीवन देगा-इस सबकी बारीक योजना कहीं सैकड़ों मील दूर बैठे लोग नहीं बनाते थे-वहीं बसे लोग उस क्षेत्र में अपना बसना सार्थक करते थे। यह परम्परा आज भी पूरी तरह से टूटी नहीं है, हाँ उसकी प्रतिष्ठा ज़रूर गिर गयी है, नये पढ़े-लिखे समाज के मन में।

पर हमारे इस पढ़े-लिखे समाज को आज यह जानकर अचरज होगा कि हमारे देश की तकनीकी शिक्षा, सिविल इंजीनियरिंग की सारी आधुनिक शिक्षा की नींव में ये अनपढ़ माना गया अनपढ़ बता दिया गया समाज ही प्रमुख था।

आज बहुत कम लोग यह बता पाएँगे कि हमारे देश में पहला इंजीनियरिंग कॉलेज कहाँ और कब खुला था। इसे संक्षेप में दोहरा लेना चाहिए।

देश का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज खुला था हरिद्वार के पास रुड़की नाम के एक छोटे से गाँव में। और सन् था १८४७। तब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज था। ब्रितानी सरकार भी नहीं आयी थी। कम्पनी का घोषित लक्ष्य देश में व्यापार था। प्रशासन या लोक कल्याण नहीं। व्यापार भी शिष्ट शब्द है। कम्पनी तो लूटने के लिए ही बनी थी। ऐसे में ईस्ट इण्डिया कम्पनी देश में उच्च शिक्षा के झण्डे क्यों गाड़ती।

यह किस्सा लम्बा है। आज उसे यहाँ बताना ज़रूरी नहीं पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि उस दौर में आज के पश्चिमी उत्तर प्रदेश का यह भाग एक भयानक अकाल से गुजर रहा था। अकाल का एक कारण था वर्षा का कम होना। पर अच्छे कामों और अच्छे विचारों का अकाल पहले ही आ चुका था और इसके पीछे एक बड़ा कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी की अनीतियाँ था।

सौभाग्य से उस क्षेत्र में, तब उसे वेस्टर्न प्राविंसेस कहा जाता था, एक बड़े ही सहृदय अँग्रेज़ अधिकारी काम कर रहे थे। ऊँचे पद पर थे। वे वहाँ के उपराज्यपाल थे। नाम था उनका श्री जेम्स थॉमसन। लोगों को अकाल में मरते देख उनसे रहा नहीं गया। उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशकों को एक पत्र लिख इस क्षेत्र में एक बड़ी नहर को बनाने का प्रस्ताव रखा था। ऊपर से उस पत्र का कोई जवाब तक नहीं आया। शायद पत्र मिलने की सूचना, पहुँच तक नहीं आयी। थॉमसन ने फिर एक पत्र लिखा। इस बार फिर वही हुआ। कोई जवाब नहीं आया।

तब जेम्स थॉमसन ने तीसरे पत्र में अपनी योजना में पानी और अकाल, लोगों के कष्टों के बदले व्यापार की, मुनाफ़े की चमक डाली। उन्होंने हिसाब लिखा कि इसमें इतने रुपये लगाने से इतने ज़्यादा रुपये सिंचाई के कर की तरह

मिल जाएँगे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आँखों में चमक आ गयी। मुनाफ़ा मिलेगा तो ठीक। बनाओ। पर बनाएगा कौन? कोई इंजीनियर तो है नहीं कम्पनी के पास। थॉमसन ने कम्पनी को आश्वस्त किया था यहाँ गाँवों के लोग इसे बना लेंगे।

कोई ऐरी-गैरी, छोटी-मोटी योजना नहीं थी यह। हरिद्वार के पास गंगा से एक नहर निकाल कर उसे कोई २०० कि.मी. तक के इलाके में फैलाना था। यह न सिर्फ़ अपने देश की पहली बड़ी सिंचाई योजना थी, दुनिया के कई अन्य देशों में भी उस समय ऐसा कोई काम हुआ नहीं था।

विस्तृत योजना का विस्तार से वर्णन यहाँ नहीं करना है। बस इतना ही बताना है कि वह योजना खूब अच्छे ढँग से पूरी हुई। तब थॉमसन ने कम्पनी से इसकी सफलता को देखते हुए इस क्षेत्र में इसी नहर के किनारे रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज खोलने का प्रस्ताव भी रखा। इसे भी मान लिया गया। क्योंकि थॉमसन ने इस प्रस्ताव में भी बड़ी कुशलता से कम्पनी को याद दिलाया था कि इस कॉलेज से निकले छात्र बाद में आपके साम्राज्य का विस्तार करने में मददगार होंगे।

यह था सन् १८४७ में बना देश का पहला इंजीनियरिंग कॉलेज। देश का नहीं, एशिया का भी यह पहला कॉलेज था इस विषय को पढ़ाने वाला। और आगे बढ़ें तो यह भी जानने लायक तथ्य है कि तब इंग्लैण्ड में भी इस तरह का कोई कॉलेज नहीं था। रुड़की के इस कॉलेज में कुछ सालों बाद इंग्लैण्ड से भी छात्रों का एक दल पढ़ने के लिए भेजा गया था।

तो इस कॉलेज की नींव में हमारा अनपढ़ बता दिया गया समाज मजबूती से सिर उठाये खड़ा था। यह तब भी नहीं दिखा था अन्य लोगों को और आज तो हम उसे पिछड़ा बताकर उसके विकास की बहुविध कोशिश में लगे हैं। इस प्रसंग के अन्त में यह भी बता देना चाहिए कि १८४७ में कॉलेज खोलने से पहले वहाँ बनी वह लम्बी नहर आज भी पश्चिम उत्तर प्रदेश के खेतों में गंगा का पानी सिंचाई के लिए वितरित करती जा रही है। आज रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज को शासन ने और ऊँचा दर्जा देकर आई.आई.टी रुड़की बना दिया है।

कॉलेज का दर्जा तो उठा है पर दुर्भाग्य से कॉलेज जिन लोगों के कारण बना, जिनके कारण वह विशाल सिंचाई योजना जमीन पर उतरी, जिन लोगों ने अँग्रेज़ों के आने से पहले देश में, देश के मैदानी भागों में, पहाड़ों में, रेगिस्तान में, देश के तटवर्ती क्षेत्रों में जलदर्शन सहित सुन्दर संयोजन किया था वे लोग आज कहीं पीछे फेंक दिये गये हैं।

देश ने कई मामलों में खूब उन्नति की है, इसमें शक नहीं, लेकिन बेशक इतना तो जोड़ना ही पड़ेगा कि इसी दौर में सबसे सस्ती कार बिकने आयी थी और सबसे महँगी दाल भी और देश के आधे भाग में भयानक अकाल भी पड़ा था। पानी तो गिरता ही है। कभी कम कभी ज़्यादा। औसत का एक आँकड़ा हम पिछले सौ-पचास साल से भले ही रखने लगे हों-यह बहुत काम नहीं आता। गणित के दम पर, आँकड़ों के दम पर जीवन नहीं चल पाता।

आधुनिक बाँधों से भी अकाल दूर हो गये हों, आज भी ऐसा पक्के तौर पर नहीं कह सकते। पंजाब, हरियाणा में, देश के अन्य भागों में, महाराष्ट्र में भयानक अकाल पड़ा था। हमारे कृषि मन्त्री इसी प्रदेश से हैं और उन्होंने ही अपने

एक बयान में कहा था कि उन ने अपने जीवन में महाराष्ट्र में ऐसा भयानक अकाल पहले कभी देखा नहीं था। इसलिए बड़े बाँधों से बँध जाना ठीक नहीं है। उन बाँधों में भी पानी तो तभी भरेगा जब ठीक वर्षा होगी।

पर प्रकृति ठीक नहीं, ठीक-ठाक वर्षा करती है। वह माँ है हमारी, लेकिन मदर डेयरी की मशीन नहीं कि जितने टोकन डालो, ठीक उतना ही पानी गिरा देगी। एक तरफ हम बड़े बाँधों से बँध से गये और दूसरी तरफ नयी तकनीक ने भू-जल को बाहर उलीच लेने के नये साधन खोज निकाले। शहरों, गाँवों में छलनी की तरह छेद कर डाले हमने और सचमुच मिट्टी की विशाल गुल्लक में पड़ी इस विशाल जलराशि को ऊपर खींच निकाला। उसमें डाला कुछ नहीं। इस तरह धरती की यह गुल्लक खाली हो चली है। भू-जल भण्डार में आयी गिरावट को बताने के लिए यूँ तो जिलावार, प्रदेशवार आँकड़े भी दिये जा सकते हैं पर जीवन का प्राणदायी रस ही निचुड़ता जा रहा हो तो नीरस आँकड़े नया और क्या बता पाएँगे। फिर भी बिना किसी कटुता के यह तो कहा ही जा सकता है कि इस दौर में हमारी राजनीति ज़्यादा गिरी है कि भू-जल। यह तय कर पाना कठिन है। इन दोनों का स्तर ऊपर उठाने के लिए हमें खुद ऊपर उठना होगा।

पिछले कुछ समय से एक नया शब्द हमारे बीच आया है-जन भागीदारी। जैसा अक्सर होता है ऐसे नये शब्द पहले अँग्रेज़ी में आते हैं, फिर हम बिना ज़्यादा सोचे-समझे अपनी भाषा में अनुवाद कर लेते हैं। पर जब यह शब्द नहीं था, यह नकली शब्द नहीं था, तब हमारे समाज में पानी के मामले में गजब की भागीदारी थी। उस जन भागीदारी में सचमुच तीन भूमिकाएँ होती थीं। लोग खुद अपने गाँवों में, शहर में पानी की योजना बनाते थे। यह हुई पहली भूमिका। फिर उस योजना को अमल में उतारते थे, तलाब, नहर, कुँए आदि बनाते थे। यह थी दूसरी भूमिका। और तीसरी भूमिका में इन बन चुकी योजनाओं के रख-रखाव की ज़िम्मेदारी भी स्वयं ही उठाते थे। वह भी कोई दो-चार बरस के लिए नहीं, बल्कि दो-चार पीढ़ी तक उसका रख-रखाव करते थे। उसे अपना काम मानकर करते थे। ऐसे में कहीं-कहीं समाज राज की भागीदारी भी कबूल कर लेता था। एक तरह से देखा जाए तो राज और समाज परस्पर तालमेल बिठाकर इन कामों को बड़ी सहजता से सम्पन्न कर लेता था। आज बहुत ही कम लोगों को इस बात का कुछ अंदाज बचा हो कि हमारे कुछ नामों के, परिवारों के नामों के चिह्न इन्हीं कामों में से निकले थे। नहर की देखरेख करने वाले नेहरू थे तो पहाड़ों में सिंचाई का ढाँचा एक तरह की पहाड़ी नहर, कूल बनाने वाले कोहली थे तो गूल बनाने वाले गुलाटी थे। देश में इस कोने से उस कोने तक ऐसी अनेक जातियाँ, अनेक लोग थे, जो गाँवों और शहरों के लिए पानी का काम करते थे। इसमें अकाल और बाढ़ की मार को कम करने का काम भी शामिल था। और यह सब वे सचमुच अपने तन, मन और धन से करते थे।

जो काम उनके मन में उतर गया था, उसे वे अपने तन पर भी सँजोकर रखते थे। देश के सभी भागों में शरीर पर गुदना गोदवाने की एक बड़ी परम्परा रही है। इसमें शुभ चिह्न आदि तो चलन में थे ही, पर देश के कुछ भागों में एक विशेष चिह्न भी पाया जाता था। इसका नाम था-सीता बावड़ी। सीधी-सादी आठ-दस रेखाओं से एक भव्य चित्र कलाई पर किसी भी मेले, ठेले में देखते ही देखते गोद दिया जाता था। इस तरह पानी का काम मन से तन पर और तन से, श्रम से उतरता जाता था ज़मीन पर।

लेकिन आज ज़मीन की कीमतें आसमान छूने लगी हैं। शहरों में भी और अनेक गाँवों में भी तालाब एक के बाद एक पुरते जा रहे हैं, कचरे से पटते जा रहे हैं। जल संकट सामने है पर हम उसे पीठ दे रहे हैं। अपने तालाबों को, अपने जल स्रोतों को नष्ट कर देने के बाद ऐसे प्यासे शहरों के लिए दूर से, बहुत दूर से किसी और का हक छीनकर बड़ी खर्चीली योजनाओं को बनाकर पानी लाया जा रहा है।

पर हमें एक बात भूलनी नहीं चाहिए। इन्द्र देवता से इन शहरों ने ऐसी अपील तो की नहीं है कि हमारा पीने का पानी तो अब सौ दो सौ किलोमीटर दूर से आ रहा है। आप हम पर पानी न बरसाएँ ! पहले ये तालाब ही वर्षा के दिनों में शहरों पर गिरने वाले पानी को अपने में सँजोकर, समेटकर इन शहरों को बाढ़ से बचा लेते थे।

इन्द्र का एक पुराना नाम, विशेषण है पुरन्दर। पुरन्दर यानी जो पुरों को, किलों को, शहरों को तोड़ देता है। इस नाम को रखा गया है तो इसका अर्थ यह भी है कि इन्द्र के समय में भी शहर नियोजन में कमियाँ होती थीं। और ऐसे अव्यवस्थित शहरों को इन्द्र अपनी वर्षा के प्रहार से ढहा देता था, बहा देता था।

दिल्ली, मुम्बई, चैन्नई, बेंगलूरु, जयपुर, हैदराबाद जैसे नये पुराने महँगे हो चले, आधुनिक हो चले, सभी शहर बारी-बारी से ऐसी बाढ़ की चपेट में आ रहे हैं, जैसी बाढ़ उन जगहों में पहले कभी नहीं आती थी।

हमारे देश की समुद्र तटीय रेखा बहुत बड़ी है। पश्चिम में गुजरात के कच्छ से लेकर नीचे कन्याकुमारी घूमते हुए यह रेखा बंगाल में सुन्दरवन तक एक बड़ा भाग घूम लेती है। पश्चिमी तट पर बहुत कम लेकिन पूर्वी तट पर अब समुद्री तूफानों की संख्या और उनकी मारक क्षमता भी बढ़ती जा रही है। अभी कुछ ही समय पहले ओडिशा और आन्ध्रप्रदेश में आये चक्रवात की पूर्व सूचना समय रहते मिल जाने से बचाव की तैयारियाँ बहुत अच्छी हो गयी थीं और इस कारण बाकी नुकसान एक तरफ, कीमती जानें बच गयी। लेकिन उसी के कुछ ही दिनों बाद वहाँ आयी बाढ़ में उससे भी ज़्यादा नुकसान हो गया था।

हमारे पूर्वी तटों पर समुद्री तूफान आते ही हैं पर अब नुकसान करने की उनकी क्षमता बढ़ती ही जा रही है। इसके पीछे एक बड़ा कारण है हमारे कुछ तटीय प्रदेशों में उन विशेष वनों का लगातार कटते जाना, जिनके कारण ऐसे तूफान तट पर टकराते समय विध्वंस की अपनी ताकत काफी कुछ खो देते थे।

समुद्र और धरती के मिलन बिन्दु पर, हज़ारों वर्षों से एक उत्सव की तरह खड़े ये वन बहुत ही विशिष्ट स्वभाव लिए होते हैं। दिन में दो बार ये खारे पानी में डूबते हैं तो दो बार पीछे से आ रही नदी के मीठे पानी में। मैदान, पहाड़ों में लगे पेड़ों से, वनों से इनकी तुलना करना ठीक नहीं। वनस्पति का ऐसा दर्शन अन्य किसी स्थान पर सम्भव नहीं। यहाँ इन पेड़ों की, वनों की जड़ें भी ऊपर रहती हैं। अँधेरे में, मिट्टी के भीतर नहीं, प्रकाश में, मिट्टी के ऊपर। जड़ें, तना और फिर शाखाएँ-तीनों का दर्शन एक साथ करा देने वाला यह वृक्ष, उसका पूरा वन इतना सुन्दर होता है कि इस प्रजाति का एक नाम हमारे देश में सुन्दर, सुन्दरी ही रख दिया गया था। उसी से बना है सुन्दरवन।

लेकिन आज दुर्भाग्य से हमारा पढ़ा-लिखा संसार, हमारे वैज्ञानिक कोई १३-१४ प्रदेशों में फैले इस वन के, इस प्रजाति के अपने नाम एकदम भूल गये हैं। जब भी इन वनों की चर्चा होती है, इन्हें इनके अँग्रेज़ी नाम मैंग्रोव-से ही

जाना जाता है। हमारे ध्यान में भी यह बात नहीं आ पाती कि देश में, कम से कम इन प्रदेशों की भाषाओं में, बोलियों में तो इन वनों का नाम होगा, उसके गुणों की स्मृति होगी। प्रसंगवश यहाँ यह भी जान लें कि मैंग्रोव शब्द भी अँग्रेजी का नहीं है, उस भाषा में यह पुर्तगाली से आया है।

तटीय प्रदेशों से प्रारम्भ करें तो पश्चिम में ऊपर गुजराती, कच्छी में इसे चैरव्, फिर मराठी कोंकणी में खार पुटी, तिवर, कन्नड़ में कांडला काडु, तमिल में सधुप्पू निल्लम काड्ड, तेलुगू में माडा आडवी, उड़िया में झाऊवन कहा जाता है। बांग्ला में तो सुंदरवन सबने सुना ही है। एक नाम मकड़सिरा भी है। और हिन्दी प्रदेश तो समुद्र के तट से दूर ही हैं। पर ऐसा नहीं होता है कि जो चीज जिस समाज में नहीं है, उस समाज की भाषा उसका नाम ही नहीं रखे। हिन्दी में इसे चमरंग वन कहते थे। पर अब यह नए शब्दकोषों से बाहर हो गया है।

पर्यावरण को ठीक से जानने वाले बताते हैं कि आन्ध्र और उड़िया में खासकर पारद्वीप वाले भाग में चमरंग वनों को विकास के नाम पर खूब ही उजाड़ा है। इसीलिए पारद्वीप ऐसे ही एक चक्रवात में बुरी तरह से नष्ट हुआ था। फिर यह भी कहा गया था कि उसके लिए एक मजबूत दीवार बना दी जाएगी। कुछ ठण्डे देशों का अपवाद छोड़ दें तो पूरी दुनिया में धरती और समुद्र के मिलने की जगह पर प्रकृति ने सुरक्षा के ख्याल से ही यह हरी सुंदर दीवार, लम्बे-चौड़े सुंदरवन खड़े किए थे। आज हम अपने लालच में इन्हें काटकर इनके बदले पाँच गज चौड़ी सीमेण्ट कांक्रीट की दीवार खड़ी कर सुरक्षित रह जाएँगे-ऐसा सोचना कितनी बड़ी मूर्खता होगा-यह कड़वा सबक हमें समय न सिखाए तो ही ठीक होगा। चौथी की कक्षाओं में यह पढ़ा दिया जाता है कि पृथ्वी पर कोई सत्तर प्रतिशत भाग में समुद्र है और धरती बस तीस प्रतिशत ही है। समुद्र के सामने हम नगण्य हैं। ये सुंदरवन, चमरंग वन हमारी गिनती बनी रही-ऐसी सुरक्षा देते हैं।

दीवारें खड़ी करने से समुद्र पीछे हट जाएगा, तटबंद बना देने से बाढ़ रुक जाएगी, बाहर से अनाज मँगवाकर बाँट देने से अकाल दूर हो जाएगा-बुरे विचारों की ऐसी बाढ़ से, अच्छे विचारों के ऐसे ही अकाल से हमारा यह जल संकट बढ़ा है।

आज हम सब जिस विभूति के पुण्य स्मरण में यहाँ एकत्र हुए हैं, उनने अपने समय में या कहें समय से पहले ही समाज का ध्यान ऐसी अनेक बातों की तरफ खींचा था।

श्री गोखले से भेंट होने के बाद राजेन्द्र बाबू कोई बावन बरस तक सार्वजनिक जीवन में रहे। उनका बचपन जिस गाँव में बीता था, उस गाँव में नदी नहीं थी। वे तैरना नहीं सीख पाए थे। लेकिन इस बावन बरस के एक लम्बे दौर में उन्होंने अपने समाज को, देश को अनेक बार डूबने से बचाया था। अंतिम बारह बरस वे देश के सर्वोच्च पद पर रहे। जब वह निर्णायक भूमिका पूरी हुई तो सन् १९६२ के मई महीने में वे एक दिन रेल में बैठे और दिल्ली से पटना के लिए रवाना हो गये थे। उसी सदाकत आश्रम के एक छोटे से घर में रहने के लिए, जहाँ से उन्होंने सार्वजनिक जीवन की अपनी लम्बी यात्रा प्रारम्भ की थी।

उनकी पुण्य स्मृति में हम सबके प्रणाम।

मणि कौल का स्मरण

मधु अप्सरा

मणि कौल के चले जाने से मेरे जीवन में उनकी मौजूदगी पर असर नहीं पड़ा।

मणि जी से मैं पहली बार पूना के फ़िल्म इंस्टीट्यूट में सन् १९८९ में मिला था। तब वे हम छात्रों के लिए महीनेभर की कार्यशाला लेने आये थे। कार्यशाला के बाद मैंने उनसे पूछा कि क्या मैं उनके साथ निर्देशन पर काम कर सकता हूँ, हालाँकि मैं 'ध्वनि' विषय का छात्र था। जवाब में उन्होंने कहा कि यदि मैं कोर्स पूरा होने के पहले कोई फ़ीचर स्क्रिप्ट लिख सकता हूँ तो ऐसा सम्भव है। मैंने किसी तरह स्क्रिप्ट पूरी कर उन्हें भेज दी थी, और उन्होंने भी अपनी बात रखी। मणि जी स्क्रिप्ट लिखने के लिए प्रोत्साहित करते थे और वक़्त निकालकर इतनी बारीकी से उस पर चर्चा करते थे जैसे कल ही उस पर फ़िल्म बनना शुरू हो जाएगा।

मणि जी सारे समय काम किया करते थे। सारे समय वे सिनेमा या संगीत या दर्शन में व्यस्त रहते थे। इसी कारण उनसे मामूली बातचीत भी आसानी से गम्भीर बहस में बदल जाती थी। उन्हें लोगों से मिलकर खुशी होती थी। आप जो भी काम कर रहे हों, उसमें वे प्रोत्साहित करते थे। इसीलिए उनसे जो भी मिलता, उससे उनका अनूठा रिश्ता बन जाता। कई बार उन्होंने ऐसा बताया कि लोगों से बातें करते हुए उन्हें नयी चीज़ें मिल जाती हैं।

वे अक्सर रात में देर तक काम करने के बाद सुबह तड़के उठकर, किसी स्क्रिप्ट पर काम कर रहे होते अथवा संगीत का अभ्यास कर रहे होते या पुस्तक पढ़ रहे होते। मैं उनसे आखिरी बार सितम्बर २०१० में मिला था। दर्द कम करने एवं अन्य दवाओं के बावजूद, वे सुबह चार बजे उठकर 'संगीत समय सार' पढ़ रहे थे। तब उन्होंने बताया था

कि वे संगीत और सिनेमा पर एक किताब लिखना चाह रहे हैं। उस दिन भी वे बहुत चाव से फ़िल्म बनाने के भिन्न तरीकों के बारे में बताते रहे। अपनी पीड़ा के प्रति दार्शनिक भाव था। जब उनकी पीड़ा हद पार करने लगती, वे बड़े उस्ताद जिया मोहिउद्दीन डागर की रुद्र वीणा सुनते लेट जाते और कुछ देर बाद ताज़े हो, उठकर बातचीत को आगे बढ़ाते।

मणि जी के लिए संगीत हमेशा प्रेरणा का स्रोत रहा। जब वे बड़े उस्ताद को सुनते, दर्द भूल जाते। जब वे अस्पताल से घर लाये गये थे, तब स्ट्रेचर से बिस्तर पर आते समय पीड़ा से कराह रहे थे। जबकि अस्पताल से निकलते समय उनके कहने पर बड़े उस्ताद की राग तोड़ी चालू कर दी गयी थी। सुनते हुए मिनटों में वे शान्त हो गये और सुनते-सुनते घर पहुँच गये।

हालाँकि उनकी बनायी अधिकतर फ़िल्में स्वतः आख्यानात्मक नहीं थीं, किन्तु वे हमेशा एक अच्छे किस्सागो थे। वे योगवाशिष्ठ और महाभारत की कहानियाँ सुनाया करते थे। रोज़मर्रा की छोटी से छोटी घटनाओं को वे बड़े चाव से सुनाते थे।

उनकी फ़िल्मों में आख्यान इतना सीधा नहीं होता था। अपने मन की सूझ के आधार पर वे घटनाओं को इस तरह सजाते कि वही अन्ततः आख्यान को सुझातीं। वे नहीं चाहते थे कि फ़िल्म आख्यान के भीतर मात्र पसर कर रह जाए। वे हमेशा कहते थे, कि आख्यान फ़िल्म को समो लेने के लिए नहीं, बल्कि उसको विस्तारने व खोलने के लिए होना चाहिए।

उन्होंने ये कभी नहीं माना कि सिनेमा का कोई व्याकरण होता है। इसीलिए सिनेमा के मान्य सिद्धान्तों जैसे काल्पनिक रेखा, निरन्तर घटनाक्रम और इन सबके ऊपर आख्यान का ढाँचा आदि के उनके लिए कोई माने नहीं थे। सारांश में यही कि बड़े पर्दे की अनिवार्यताओं को उन्होंने कभी अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। वे कहते थे, तुम किस पर शूट कर रहे हो या यह कैसा दिखेगा, इसका कोई महत्व नहीं है। क्योंकि सबसे महत्वपूर्ण यह है कि तुम किस तरह से व्यक्त करते हो, इसका नहीं कि क्या व्यक्त करते हो। उनके अनुसार बनी बनायी धारणाओं पर आधारित फ़िल्में कभी उतनी रुचिकर नहीं हो सकतीं, जितनी कि ऐसी फ़िल्म, जो अपने को व्यक्त करने का संघर्ष करती है। उन्हें हमेशा लगा, कि फ़िल्मों में परस्पर-क्रम (जक्सटापोजीसन) सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अर्थात् मन की बात सुझाता बिम्ब रूपों का परस्पर-क्रम। उन्होंने बिम्बों के भीतर के परस्पर-क्रम की चर्चा भी की है जैसे ध्वनि और छवि, वस्तु और घटना, अभिनेता और स्थल इत्यादि। किन्तु यह भी ज़ोर देते रहे कि यह परस्पर-क्रम बिना भावनात्मक सहारे के महज बौद्धिक कवायद सा रह जाएगा।

वे बिम्बों से अपनी फ़िल्मों का ऐसा गठन करना चाहते थे कि वह संगीत के बोल-तान की तरह लगे। उन्होंने बताया था कि बड़े उस्ताद जिया मोहिउद्दीन डागर का एक नायाब तोहफा था उनकी हवा में गाँठ की अभिव्यक्ति। उन्हें लगता था कि बिम्बों में प्रत्येक बिम्ब अपने समय में हो और जब वे परस्पर-क्रम में एक दूसरे के साथ हों, तो 'हवा में गाँठ' की तरह क्षमताशील हों, प्रभावी हों।

भारतीय दर्शन में भी मणि जी की समान रुचि थी। पिताजी को वे अपना दार्शनिक गुरू मानते थे। पीड़ा से गुज़रते हुए बड़े उस्ताद और पिताजी का स्मरण कर उन्हें सुकून मिलता था।

वे जब ध्यान के बारे में बाते करते थे, कहते थे 'ध्यान देना चाहिए'। उनका आशय होता कि हरदम सजग रहना चाहिए। मन में आते सभी विचारों के प्रति सजग। कहते कि तुम्हें इतना ही तो करना है, कि सही विचारों को पहचान सको और अमल में ला सको। उन्हें लगता कि आप अपने मन की धुन के अनुसार ही सही विचारों को पाते हैं। दूसरी तरह से कहा जाये तो, जो काम के विचार न हों उन्हें 'ये नहीं' कहते हुए हटाते जाइये। लेकिन 'ये नहीं' कहने के लिए भी सारे विचारों के प्रति सजग रहना ज़रूरी है। यह ऐसा निरन्तर सिलसिला है जिसमें भविष्य लगातार वर्तमान होता हुआ, भूत का विचार हो जाता है। जैसे कि पार्थिव अथवा भौतिक बिम्ब रूप।

अपनी इस जीवन दृष्टि के कारण अपने काम में वे लगातार बढ़ते गये। पीछे मुड़ विश्लेषण करने का काम उन्होंने नहीं किया। कहते थे कि 'जो किया वो तो हो चुका है, अब आओ कुछ नया करें।'

कभी-कभी भोर में पाँच बजे किसी एक बात पर बहुत उत्साहित होकर चले आते, लेकिन ज़्यादातर ऐसा तभी होता, जब कोई नया विचार मन में आता। वे हमेशा कहते थे कि 'तब तक धैर्य रखो, जब तक निर्णय के लिए सही बात मन में आ जाये।' इन पर अमल करने के बारे में कहते, कि निर्देशक को अपने साथ में काम कर रहे लोगों को प्रेरित कर, उस क्षण तक इन्तजार करना चाहिए, जब तक सब कुछ सही नहीं होने लगता।

वे इस नियम पर ज़ोर देते कि काम के सही समय के पहले ही सारी बातें और बहसें निपटा ली जायें। काम करते हुए केवल उसमें ही पूरा मन रहे। बड़े उस्ताद के बारे में बताते कि जब तक वे सोफ़े पर बैठे होते तब तक ही बातें करते। लेकिन जैसे ही सिखाने नीचे बैठ जाते, न प्रश्न पूछने देते, न बातें करने देते। तब केवल गाइये और बजाइये। किसी भी काम को करने से पहले मणि जी पक्की तैयारी कर लेते थे। लेकिन यह ज़रूरी नहीं था कि जो तैयारी की हो, उसी से बँधे रहें। हालाँकि फ़िल्म निर्माण की समस्याओं से पूरी तरह अवगत थे।

एक बार मैं उनके साथ घूमते हुए पेडार रोड से वार्डन रोड की ओर जा रहा था, रास्ते में सोफ़िया कॉलेज की गली के पास सड़क पर ढेर सारे आम के ताज़े कोमल पत्ते बिखरे हुए दिखे। शाम के प्रकाश में यह अद्‌भुत लग रहा था। मणि जी इसे रुककर देखने लगे। उनका चेहरा चमक उठा, बोले 'मैं इस पर एक फ़िल्म बना सकता हूँ'। इसके तुरन्त बाद वे ध्रुपद का एक टुकड़ा गाने लगे और इशारे से कैमरे का संचालन भी दिखाने लगे। तब उन्होंने कहा था कि वास्तव में फ़िल्म बनाने के लिए किसी विषय का होना अनिवार्य नहीं है।

वे कहते थे कि कैमरा चलाते समय बहुत सावधान होना चाहिए, क्योंकि गैर ज़रूरी तरह से कैमरा चलाना नुकसान ही करता है। कैमरा यदि 'कारण और प्रभाव' (कॉज एण्ड इफेक्ट) के सिद्धान्त का अनुसरण करता है तो वह उबाऊ हो जाता है। यानि अगर कैमरे का संचालन 'एक्शन' के अनुसार चले या उसे दिखाने के लिए हो, तब दोनों तरह से कैमरा केवल नेरेशन का काम कर रहा होता है। कैमरा यदि वस्तुओं को और उसके स्थान को दिखाता है, तो वह अभिव्यक्ति में कुछ भी नहीं जोड़ता। तब कैमरा कैसे चलायें ? मणि जी मानते थे कि कैमरा चलाने का स्वतन्त्र तरीका

निकालना अनिवार्य है। कैमरे को खुद अपने ढँग से स्वतन्त्र रचना करने दो। जब कैमरे का संचालन 'एक्शन' से सम्बन्धित हो, तब संगीत के तीन नियमों 'सम', 'आगत', और 'अनागत' के अनुसार प्रयास किया जाना चाहिए। बाद में सम्पादन करते समय उन्होंने एक से दूसरे में जाने के तरीके भी बताये।

वे अक्सर जापानी फ़िल्मकार ओजू की बातें करते, जो अपनी बाद की फ़िल्मों में स्थिर कैमरे से शूट करते थे। लेकिन तब भी देखते समय कोई कमी नहीं लगती थी कि कैमरा घूमा नहीं या आकार बड़ा-छोटा नहीं हुआ, या सभी कोणों से नहीं दिखाया गया आदि। कैमरे को स्थिर रखकर शूट करने के बावजूद उनकी फ़िल्मों में भावनात्मक अभिव्यक्ति पर्याप्त थी। मणि जी ने देखा कि ओजू ने इन फ़िल्मों में समय के बोध को अच्छी तरह से पकड़ा है, जिसका कि फ़िल्मों के भावनात्मक प्रवाह में बहुत महत्व है।

उन्होंने बताया था कि एक समय वे कैमरे के संचालन के तरीकों से कविता रचने का प्रयास कर रहे थे। लेकिन बाद में उनका प्रयास, मात्र कविता के बजाय, बिम्ब रूप की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति पाने पर केन्द्रित रहा।

मणि जी स्वीकारते थे कि अपनी पहले की फ़िल्मों में वे अभिनेताओं और कैमरे की प्रत्येक गति पर ध्यान देते थे। अपनी बाद की फ़िल्मों में भी शॉट को लेते समय, उन्होंने अभिनेता और कैमरामेन को काफी ताकीदें दीं। लेकिन बाद में वे ऐसे स्तर पर पहुँचे जहाँ वे सभी को प्रेरित व उत्साहित कर उनसे आकस्मिक रचनात्मकता पाना चाहते थे। साथ काम कर रहे लोगों को प्रेरित करने के तरह-तरह के तरीके वे अपने में खोजते जिससे कि अपेक्षित परिणामों को पा सकें।

जब उनके सरोकारों में दूरगामी बदलाव आये, उन्होंने प्रत्येक फ़िल्म के लिए नयी तकनीक भी खोज निकाली। एक समय वे भूदृश्य (लैण्डस्केप) को सपाट नज़रिये से दिखाना चाहते थे। वे अपने चरित्रों को ऐसे स्थान में कल्पित करते जो केवल वहाँ तक ही सीमित न हों। चित्रकार मातीस का उदाहरण देकर समझाते कि मातीस को अपने कैमरे की खिड़की से बाहर देखते हुए दूर सामने तैरती नाव ऐसी लगती जैसे वह कमरे का और उसी खिड़की का हिस्सा हो। वे कहते कि बिम्ब अपनी भावनात्मक मौजूदगी दिखाये न कि भौगोलिक यथार्थ।

मेरे आखिरी बार मिलने पर उन्होंने कहा था कि लोकेशन को देखने के बाद ही स्क्रिप्ट लिखनी चाहिए। वैसा करने से आप वहाँ की चीज़ों और जगह को घटनाक्रम से जोड़ पाते हैं। वे कहा करते, कि स्क्रिप्ट लिखते समय कोष्ठक में लिखे भंगिमाओं सम्बन्धी विवरणों का बहुत महत्व होता है। ये भंगिमाएँ ही सम्बन्धों को बताती हैं। जब आप इन भंगिमाओं और मुद्राओं पर विस्तार से काम करते हैं, तब फ़िल्म आपके सामने खुलती जाती है। शूटिंग करते समय वे लिखी हुई स्क्रिप्ट के अनुसार काम करते, ऐसा नहीं था। तब वे उस क्षण क्या सम्भावित है, इसे खोजते। वे ऐसे बिम्बों को रचना चाहते थे जो उस क्षण को पूरा गिरफ़्त में ले सकें।

मैंने जब से मणि जी को जाना तब से बिम्ब रूप को अपने समय में गढ़ना उनका मुख्य सरोकार रहा। वे कहा करते कि समय का बोध दिखाने के लिए हम वातावरण (स्पेस) पर निर्भर करते हैं। वह तो नेरेटिव का स्पेस में खुलना हुआ। समय का बोध आता है, वातावरण में बदलाव से या फिर उस वातावरण की व्यवस्था में बदलाव से।

वे कहते थे कि संगीत में बोल-तान का समय से एक विशेष रिश्ता होता है। जब यह एक के बाद दूसरी गायी या बजायी जाती है, तब मिलकर ये उस पूरे एक की रचना करती हैं जिसे हम राग कहते हैं। इस तरह उत्पन्न राग भी समय की धारणा पर आधारित होता है। इसीलिए इसी राग की प्रस्तुति में यह बिल्कुल भिन्न होती है। क्या सिनेमा में बिम्ब उस अद्वितीयता को पा सकते हैं जो संगीत में बोल-तान की है। इस पर उनका सतत् सरोकार बना रहा।

वे फ्रांसीसी फ़िल्मकार ब्रेसों की उक्ति दोहराते, 'तुम्हारी कल्पना घटना पर कम और भावना पर अधिक ध्यान देगी। और भावना जितनी हो सके उतनी दस्तावेज़ी होनी चाहेगी।'

बड़े उस्ताद जिया मोहिउद्दीन डागर की याद करते वे दोहराते थे, संगीत या राग की अभिव्यक्ति उसके बोल-तान के आपसी सम्बन्धों से बनकर ही आनी चाहिए, जैसे हवा में गाँठ लगती है।

उन्होंने देखा कि किसी भी घटना में जो खुलापन या सहजता होती है, वो उसे खुला करते ही व्यवस्थित सी हो जाती है। साथ ही साथ जैसे बोल-तान का राग की सीमा के भीतर होना अपेक्षित है, उसी तरह सार्थकता के लिए घटनाओं का योजना के दायरे में होना अपेक्षित है। वे कहते थे कि हमें नेरेटिव और नॉन-नेरेटिव के बीच के सन्तुलन को खोजना है, अथवा उनके एक होने या भिन्न होने के बीच का सन्तुलन पाना है।

व्यवस्थाओं को वे बारीक़ी से देखते क्योंकि एक तरह की अव्यवस्थाओं को वे बढ़ावा दे रहे थे। सुधारी हुई अव्यवस्था उन्हें स्वीकार नहीं थी इसीलिए उनके लिए 'आकस्मिक' महत्वपूर्ण होता गया। ऐसा भी नहीं था, कि सारा कुछ जो आकस्मिक हो, वह स्वीकार्य हो।

वे पूछते एक स्थिर शॉट में खुलापन या सहजता कैसे लायी जाये। उसके सामान्य प्रवाह में समय का बोध कैसे प्राप्त किया जाये।

वे कहते कि शॉट के बीच में ऐसा भाव बनना चाहिए जो परदे और दर्शक के बीच के सम्बन्धों को छुए।

मणि जी गिलेस डेल्यूज़ के सम्पूर्णता, समय और अवधि सम्बन्धी सिद्धान्तों को संगीत के माध्यम से समझाते थे। वे बताते कि बड़े उस्ताद छात्रों को आलाप सिखाते समय ताल का अनुसरण करने के लिए घड़ी का इस्तेमाल नहीं करते। समय का बोध संगीतकार के भीतर ही होना चाहिए जो बोल-तान के गठन के द्वारा स्वतः अभिव्यक्त होता जाता है, बोल-तान खुलने के साथ-साथ राग खुल जाते हैं।

वे बड़े उस्ताद से जुड़ी बातों का सब समय जिक्र करते रहते। बताया कि एक बार कार्यक्रम से लौटते हुए वे बड़े उस्ताद के साथ बस स्टेण्ड की तरफ जा रहे थे। इन्हें आगे तेज बढ़ता देख उस्ताद ने कहा 'धीरे से चलो इससे म्यूजिक में असर पड़ेगा।' जीवन में उनके लिए संगीत का होना अभिन्न था। बड़े उस्ताद उनके लिए बहुत कुछ थे। उन्होंने बताया था कि 'सिद्धेश्वरी' के प्रदर्शन के समय जब न्यूयार्क में उन्हें बड़े उस्ताद के गुजरने की खबर मिली वे सारा दिन होटल में रोते रहे थे। उनके हर काम पर उनके संगीत का असर साफ नजर आता है। वो तो ये भी कहते थे कि उन्हें फ़िल्मकार नहीं, संगीतकार होना चाहिए था। उन्हें लगता था कि संगीतकार अपने ही संगीत की साधना

कर सकता था जबकि फ़िल्मकार को बहुत से लोगों के साथ मिलकर उनकी भावनाओं को साथ लेकर काम करना होता है।

अपनी हर एक फ़िल्म के लिए उन्होंने नये तरीके खोजे। अधिकतर समय वे पार्थिव बिम्ब रूपों की रचना को लेकर व्यस्त रहते। वे निश्चित थे कि फ्रेम में बिम्ब रूप लेने से इसके पार्थिव गुण चले जाते। उन्हें लगता था कि पहले से करने के बजाय कैमरामेन की तात्कालिक सूझ पर निर्भर रहना बेहतर होता है।

इसके लिए उनका अपनाया तरीका था 'व्यू-फाइंडर' से देखे बिना शूट करना। अपनी आरम्भिक फ़िल्मों में मणि जी स्वयं फ्रेमिंग पर विशेष ध्यान देते थे। स्वयं व्यू-फाइंडर से देखकर पूरा संचालन स्वयं योजनाबद्ध करते। तब तक 'वीडियो-असिस्ट' आया नहीं था। किन्तु पार्थिव बिम्ब रूप का विचार आने के बाद उन्हें लगा कि फ्रेम्ड शॉट स्थिर हो या चलायमान, इसमें आकस्मिक कुछ मिलने की सम्भावना समाप्त हो जाती है क्योंकि अवचेतन मन उसे पूर्व नियोजित फ्रेम के अनुसार सुधारने लगता है और मन में उठती तात्कालिक भावना को ठण्डा कर देता है। वे चाहते थे कि काम करने में एक चित्रकार की तरह का लचीलापन उन्हें मिले जो कैनवास पर सीधा ब्रश से काम करते हुए चित्रकार को मिलता है। रंगों को तरलता और गति से लगाये जाने की सुविधा के कारण चित्रों की अपनी विशिष्टता रहती है। इसी तरह फिल्म बनाते हुए कैमरामेन कैमरे के जरिये गति से, संचालन से जुड़ता है। लेकिन जब वह 'व्यू-फाइंडर' से देखता है तब उसका फ्रेम और फ्रेम के भीतर का संयोजन, गति व संचालन को निर्धारित करने लगते हैं, इसमें तात्कालिकता की सम्भावना समाप्त हो जाती है। ऐसा सम्भव है कि अनुभवी कैमरामेन के लिए 'व्यू-फाइंडर' से देखे बिना फ्रेम का विशेष आभास रहता हो। तभी बहुत कुछ चकित करने वाला सम्भव हो पाता है जैसा कि 'नौकर की कमीज' फ़िल्म को बनाते हुए हुआ। एक स्थिर शॉट लेने के लिए मणि जी ने कैमरामेन से कैमरे को सामने उन चीज़ों पर घुमाने (पैन करने) के लिए कहा जिसका शॉट लेना था, और कैमरे ने जो फ्रेम लिया, उन्होंने उसे मान लिया।

उनमें शॉट लेते समय हिदायत देते रहने की आदत थी। हिदायतें सटीक और साफ़ होती थीं। कई बार तो वे रिहर्सल से हटकर भी काम करते थे। शूटिंग के दौरान उनकी हिदायतों को सुनकर एक सम्पादक ने फब्ती की कि लगता है कोई रिंग मास्टर चिल्ला रहा है। ऐसा कर उन्हें कैमरा और चरित्रों को तात्कालिकता देने में सफलता मिलती थी। सही प्रभाव पैदा करने के लिए उनके गले की आवाज भी बदल जाती थी।

मणि जी का मानना था कि कैमरे के आकार का इस बात से सीधा सम्बन्ध है कि यह कैसे बिम्ब बना सकता है या यूँ कहें कि फ़िल्मकार को समझना चाहिए कि किस कैमरे से किस तरह का बिम्ब बन सकेगा। उदाहरण स्वरूप वीडियो कैमरे से फिल्म कैमरा सरीखी शूट नहीं करना चाहिए। अपने साधनों के सही उपयोग और लाभ का तरीका खोजना चाहिए। एक बार उनके फिल्म निर्माता ने उनसे पूछा कि वीडियो कैमरे का उपयोग करें तो खर्चा कम नहीं हो जाएगा। मणि जी ने कहा कि उससे खर्चा बढ़ जाएगा, क्योंकि तब उन्हें कैमरे से केवल शूट करने के बजाय, कैमरे के साथ सोचना पड़ेगा।

मणि जी ने एक और तरीका आजमाया, एक ही दृश्य को एक से अधिक बार, एक ही स्थान पर, एक ही समय किन्तु भिन्न दिनों में शूट किया। तब ऐसा करना सम्भव नहीं था जब फीचर फ़िल्म की शूट में दल बड़ा हो और बहुत से लोग बाहर से आये हों। 'नौकर की कमीज' फिल्म शूट करते हुए ऐसा प्रयास किया गया। इसमें वे एक दृश्य को विशिष्ट प्रभाव के लिए विशेष गति से शूट करना चाहते थे। उन्हें लगा कि वैसा करने से सारी व्यवस्थाएँ अधिक तात्कालिक होगी, इसमें गति और भावनात्मक गुण बेहतर होंगे, बजाय इसके कि उसे खूब सोच समझकर और शास्त्रीय ढँग से किया जाए। वे कहते थे कि कई बार अपनी सीमाओं या बाधाओं के दायरे में रहकर शूट करने से भी अद्‌भुत परिणाम मिलते हैं। काम में ऐसी चमक तात्कालिकता के कारण सम्भव होती है। वे कहते कि ऐसे क्षण खो न जायें, इसके लिए सारे समय सतर्क रहना चाहिए।

वे बताते थे कि सरगम गाने का अभ्यास करते छात्रों के सामने किस तरह बिना कोई दखल दिये बड़े उस्ताद चुपचाप बैठे रहते थे। उस्ताद को लगता था कि अभ्यास करते हुए एक समय अपने आप वह सही सरगम गा पाएगा। पहले वह अपनी भूल पहचानेगा, इसमें सुधार करेगा फिर सही सुर तक पहुँचेगा। अगर उस्ताद दखल देकर सही सुर बता दें तो उसे इस प्रक्रिया से गुजरने का मौका ही नहीं मिलेगा। मजा इस बात का था कि उस्ताद ऐसी गलती पर ये नहीं कहते कि सुर गलत है, बल्कि ये कि इसकी कहीं जगह और है।

उनके अनुसार वास्तविक और अवास्तविक सिनेमा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। सब कुछ ही या तो वास्तविक है या फिर अवास्तविक कहा जा सकता है। इसलिए कुछ यथार्थवादी करने के लिए वे परेशान नहीं हुए। लेकिन वे मानत थे कि चीजें स्वाभाविक हो सकती हैं। हर फ़िल्म के अपने दायरे होते हैं जो तय करते हैं कि उसके लिए क्या स्वाभाविक है।

शुरू में उन्हें आख्यानात्मक फिल्म बनाने में रुचि नहीं थी। किन्तु बाद के सालों में आख्यानात्मक फिल्में बनायीं। 'अहमक', 'बादल द्वार', 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' (जिसे वे बनाने की योजना बना रहे थे) सभी आख्यानात्मक थीं। साथ में ये भी चिन्ता रहती कि सिनेमा आख्यान का शिकार न हो जाए बल्कि सिनेमा आख्यान के अनुभव को बढ़ाए।

'नौकर की कमीज़' फिल्म बनाते समय उन्होंने मुझे कथानक के ऐसे हिस्से चुनने को कहा था जो भाव भरे हों। वे इन्हें मूवमेंट्स कहते थे। कई बार ऐसे एक बड़े हिस्से के भीतर कई छोटे हिस्से होते थे। फ़िल्म बनाने के पहले उन्हें ऐसे हिस्से चुनना ज़रूरी लगता था।

उन चारों फिल्मों पर जिनमें मैंने उनके साथ काम किया, मैंने देखा कि फ़िल्म के सम्पादन में उनके निर्णय सम्वाद या ध्वनि या एक्शन के आधार पर तय नहीं होते थे। बल्कि उनमें निहित अवधि के बोध के आधार पर तय होते। कभी ऐसा लगा कि इस हिस्से को काटने से नहीं होगा या इस एक्शन को उचित महत्व नहीं मिला, तो वे उसके दो एक कट पहले के हिस्से में भी बदलाव कर लेते थे। कभी शॉट को पीछे चलाते कि उसकी शुरूआत पा सकें। सम्पादन को वे क्रमों के मध्य एक जैविक प्रक्रिया मानते। एक नामी सम्पादक ने एक बार उनकी फ़िल्म 'नजर' का मजाक बनाते हुए

उसे रशेज का पिटारा कहा था। जाहिर है कि वो सम्पादक मणि जी के प्रचलित ढँग से सम्पादन न करने की शिकायत कर रहा था। आकारों में भिन्नता के बावजूद वे एक ही कोण पर काटना पसन्द नहीं करते थे। 'इंसर्ट' और 'कट-अवे' भी शूट नहीं करते थे। सम्पादन करते समय 'एक्शन' बना रहे, इसकी परवाह भी नहीं करते।

अवधि का निहित बोध और मोटे तौर पर आख्यान का विकास, यही उन्हें प्रेरित करता था।

मणि जी ध्वनि में भाव को खोजते थे।

वे इस बात की कई बार चर्चा करते कि ब्रेसों अभिनेता चुनते समय कई बार उन्हें बिना देखे, केवल उन्हें सुनकर या बात करके चुनाव कर लेते थे। वे कहते थे कि आवाज़ का स्वभाव तथा उसका उतार-चढ़ाव स्वयं काफी कुछ कर पाता है। सम्वाद कैसे बोला गया है, इसे सम्वाद कैसा है, के बराबर महत्व देते। पहले की फ़िल्मों में उन्होंने सम्वाद को सपाट रखने के प्रयोग किये। उन्होंने बिम्बों की रचना सपाट सम्वादों के आधार पर की थी। बाद की फ़िल्मों में कहा कि अभिनेता जैसा बोलना चाहें बोलें, यही बेहतर होगा। बाद में हम जैसा चाहते हैं उसमें बदलाव कर लें। 'नौकर की कमीज' में गैर पेशेवर अभिनेताओं के साथ उन्होंने एक ही सम्वाद को अलग-अलग उतार चढ़ाव के साथ आजमाया और सम्पादन के समय जैसा चाहते थे वैसा कर लिया।

'डबिंग' के लिए भी उन्होंने कई तकनीकें आजमायीं। एक तरीका था प्रतिदिन शूटिंग के बाद डब करने का। यह 'बादल द्वार' में एक हद तक कारगर रहा। 'नौकर की कमीज' में ऐसा करना सम्भव नहीं हो सका। उसमें वे अभिनेताओं के साथ उसी लोकेशन पर जाकर बीटाकेम पिक्चर और डी ए टी मशीन की सहायता से डबिंग करते। उन्होंने अभिनेताओं से विभिन्न शारीरिक मुद्राओं में सम्वाद बुलवाये जिससे कि आवाज में वांछित बदलाव और विशिष्टता पा सकें। इसके दौरान भी शूटिंग की तरह माइक्रोफोन का इस्तेमाल किया। साउण्ड प्रूफ स्टूडियो में डबिंग न कर सारी डबिंग बाहर थोड़े नियंत्रणों के साथ पूरी की।

वातावरण की ध्वनियों को रिकार्ड करने में वे बहुत उत्साहित रहते। रिकार्डिस्ट के साथ खुद सुबह की आवाजें रिकार्ड करने चले जाते। सामने न हुई हों तब भी, आवाजों की रिकार्डिंग घण्टों सुनते रहते। खास हिस्सों को चिन्हित भी करते। तरह-तरह की ध्वनियों की खोज में उन्हें रुचि थी।

शास्त्रीय संगीत से इतने करीब से जुड़े होने के बावजूद उन्हें लगता था कि फ़िल्मों में संगीत के उपयोग का विशुद्ध संगीत से कोई सम्बन्ध नहीं है। सिनेमा में वह केवल अपने प्रभाव के लिए होता है। 'नज़र' और 'बादल द्वार' में ध्रुपद का उपयोग ऐसे ही उदाहरण हैं। 'नजर' में काम में लिये गये संगीत के बहुत से हिस्से बड़े उस्ताद के एक ही बोल-तान की भिन्न परतें थीं। 'बादल द्वार' में संगीत की रिकार्डिंग के समय मणि जी ने संगीतकार को स्वतः करने दिया। बाद में उसमें से चुनकर फ़िल्म में इस्तेमाल किया। फ़िल्म 'लाइट एपेरेल' में उन्होंने ए.आर. रहमान के संगीत के एक टुकड़े को उपयोग में लिया। उनके शास्त्रीय संगीत से जुड़ाव ने, फ़िल्म में संगीत कैसा हो, इसमें कोई बाधा नहीं दी।

वे फ़िल्म को 'सिंक साउण्ड' के साथ शूट करते। लेकिन ऐसा कहते हुए वे शॉट के चलते, होती हुई सारी आवाज़ों के प्रति चौकन्ने रहते। छवि और ध्वनि दोनों पर वे समान ध्यान दे पाते थे। शॉट पूरा होने पर वे कैमरामेन को रुकने को कहते लेकिन ध्वनि अपना हिस्सा पूरा होने तक चलती। सिंक साउण्ड मणि जी के लिए सुविधाजनक नहीं था क्योंकि वे अपनी विशेष गति से शूटिंग करना पसन्द करते। यहाँ तक कि निर्देश, ध्वनि, कैमरा, एक्शन की लय के साथ कोई छेड़ छाड़ सम्भव नहीं थी। फिर सच तो ये था कि लय का उपयोग शॉट को अच्छा बनाने के लिए करते थे। शूट के दौरान उनके बोलने का ढँग बदल जाता जिससे विशेष भाव बन सके व अभिनय अच्छा हो सके।

बनावटी आवाज़ों के उपयोग से बचने के लिए वे पूरे शॉट को मय एक्शन के लेकिन बिना सम्वाद के रिकार्ड करते थे। लेकिन शूटिंग के सभी दबावों के बीच ये तरीका ज़्यादा ठीक से नहीं अपनाया जा सका।

दोबारा रिकार्डिंग करते समय भी वे ध्वनि को पक्का नहीं करते थे। तब भी उनका प्रयास रहता था कि बदलाव व सुधार से कुछ लाभ मिल जाए। वे राजकमल स्टूडियो के नामी इंजीनियर मंगेश देसाई का एक किस्सा सुनाते थे कि कैसे स्टीम इंजिन की आवाज से उन्होंने पक्षियों के पंख फड़फड़ाने की आवाज निकाली थी। वास्तविक आवाज के बदले करीबी आवाज से भी वे काम चला लेते थे। इस बारे में करीबी ध्वनि हेतु वे ध्रुपद की बातें करते जिसमें एक सुर पर जाते हुए एक समय ऐसा होता है जब आप उस सुर तक नहीं पहुँचे होते हैं, लेकिन पिछली श्रुति से निकल चुके होते हैं। यदि थोड़ा सा भी इधर-उधर हो, तो या तो आप ठीक उस सुर पर पहुँचेंगे या गलत सुर पर पहुँचेंगे। किन्तु उनके अनुसार सुर का भाव उसके करीबी होने में ही है। ऐसा ही ध्वनि के साथ है और अन्य सभी कलाओं के साथ भी।

वास्तविकता का भ्रम खत्म करने के लिए वे जान-बूझकर घटना या एक्शन को वास्तविक होने से बचाते थे। उन्होंने कुछ भी वास्तविक कभी नहीं चाहा। ध्रुपद संगीत का अभ्यास करते हुए और सिखाते हुए जीवन के प्रति दार्शनिक भाव से वे सारे समय नये तरीकों की खोज में लगे रहे। आख्यान से जुड़ा रखने के लिए वे अभिनेताओं को छूट देते कि उसे स्वतः जानें। अभिनेता जब रिहर्सल करता था शॉट तैयार करता तब उसको देखते।

वे कहते थे कि एक निर्देशक को अभिनेता के लिए अभिनय करके नहीं दिखाना चाहिए। ऐसा करने से अभिनेता सीमित अनुभव करेगा और आपने जो किया उसकी केवल नकल करेगा। निर्देशक को यह जानना चाहिए कि अभिनेता स्कीम के बाहर तो नहीं जा रहा है और उसे वापिस योजना में लाने की क्षमता होना चाहिए। अभिनेताओं का वे बहुत आदर करते थे। दिलीप कुमार का उदाहरण देकर कहते कि वो हवा में अपनी मुट्ठी घुमाकर भी काफी कुछ व्यक्त करने में सफल रहे हैं।

'नौकर की कमीज' शूटिंग के समय एक अभिनेता को कहा गया कि वो अपने घर के दरवाजे से चलकर आँगन के दरवाजे तक जाए। अभिनेता ने बहुत से प्रश्न पूछ डाले कि कितना तेज चले और दरवाजे पर पहुँचकर कैसे खड़ा हो आदि। मणि जी ने उससे कहा कि मन में तुमने इसे जैसा करने की तैयारी की है, उसे छोड़कर तुम जैसा चाहो वैसा करो। वे कहा करते थे कि प्रकृति में जितने जीव-जन्तु हैं वे सभी इससे ग्रस्त नहीं होते कि कैसे लग रहे हैं, इसीलिए

हर स्थिति में वे तात्कालिक रहते हैं। जबकि मनुष्य को तात्कालिक होने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ती है।

मणि जी कहते थे कि प्रकृति में सब कुछ तात्कालिक होता है। हवा में हिलता हुआ छोटा सा पौधा भी शक्तिशाली बिम्ब बन सकता है यदि उसे सही लैंस और प्रकाश के साथ शूट किया जाए। डाक्यूमेण्ट्री हो या फिक्शन उनका तरीका एक ही था। वे मानते थे कि डाक्यूमेंट्री भी भावपूर्ण आख्यान बन सकती है।

वे एक ही चीज पर रुक नहीं जाते थे, कहते थे कि निर्देशक होने के नाते आपका काम लोगों से उनका श्रेष्ठतम योगदान लेना है, बाकी सीमाओं को ध्यान में रखकर। वे एक बदलती विकसित होती प्रक्रिया के पक्ष में थे। जब एक फ़िल्म बन जाती तो ऐसा नहीं था कि एक काम हो गया, बल्कि ऐसा होता कि सोच या विचारों के एक समूह को विचारों के दूसरे समूह में बदल पाये।

मैं भाग्यशाली था कि मुझे उनके साथ रहने और यात्रा करने के लम्बे समय तक अवसर मिले। मुझसे वे कहा करते थे कि जैसी फ़िल्में उन्होंने बनायीं, मैं वैसा प्रयास न करूँ।

मूल अँग्रेजी से अनुवाद-जवाहर गोयल

उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर की शिक्षण शैली और ध्रुपद के वर्तमान प्रश्न

आशीष सांकृत्यायन

उस्ताद जिया फ़रीदुद्दीन डागर, जिनका ०८ मई को मुम्बई में निधन हुआ, ध्रुपद के इतिहास में एक क्रान्तिकारी पुरूष के रूप में पहचाने जायेंगे क्योंकि उन्होंने ध्रुपद के प्रशिक्षण में कुछ मौलिक परिवर्तन लाकर उसके लिए एक नया मापदण्ड कायम किया। डागर साहब परम्परा से आये थे और परम्परा को पूरी तरह से समझते थे लेकिन नयी परिस्थिति के अनुसार परम्परा के ही हित में उसके नियमों को बदलने का साहस भी रखते थे। हर क्रान्ति में पुरानी व्यवस्था को बदलकर एक नयी व्यवस्था को स्थापित किया जाता है और एक क्रान्तिकारी परिवर्तन से अनेक फ़ायदे हो सकते हैं तो कुछ नुक़सान भी।

१९८१ में जब मध्यप्रदेश के तत्कालिक संस्कृति सचिव श्री अशोक वाजपेयी और फ़िल्म निर्देशक श्री मणि कौल के प्रयासों के फलस्वरूप भोपाल में ध्रुपद केन्द्र की स्थापना हुई और डागर साहब ने यूरोप से लौटकर गुरू का कार्यभार सम्भाला, ध्रुपद विलुप्ति के पथ पर था और एक बड़ा प्रश्न यह था कि ध्रुपद के योग्य आधारवाहक भविष्य में तैयार हो पाएंगे या नहीं। १९६० के दशक में बड़े डागर बन्धुओं द्वारा पश्चिमी देशों में ध्रुपद के प्रथम प्रदर्शन के बाद से वहाँ इस प्राचीन गायन शैली के विषय में कौतूहल बढ़ रहा था और इसी कारण डागर साहब और उनके अन्य भाई अपना ज़्यादा समय यूरोप और अमेरिका में गुज़ारने लगे थे। परन्तु भारत में ध्रुपद के प्रति सर्वत्र उदासीनता थी और उस्ताद और उनके भाइयों जैसे ख्याति प्राप्त गायकों के लिए भी भारत में ध्रुपद से जीविका उपार्जन करना मुश्किल था। आज़ादी के बाद के दौर में पारम्परिक कलाएँ लगभग पूरी तरह से शासन के पोषण पर निर्भर थी एवं सद्य

स्थापित ध्रुपद केन्द्र के गुरू के पद पर नियुक्ति, डागर साहब के लिए एक अवसर था ध्रुपद के संकटग्रस्त भविष्य को लेकर कुछ करने का और भारत के एक बड़े राज्य में कला और संस्कृति के शासकीय पोषण प्रणाली में प्रवेश पाने का क्योंकि ध्रुपद उन दिनों इस पूरी प्रणाली से ही लगभग अनुपस्थित था।

यह अवसर के साथ-साथ भारी चुनौती भी थी, क्योंकि डागर साहब को एक असम्भवप्राय बात हासिल करनी थी : ४ वर्षों में कलाकारों को तैयार करके उन्हें मंच पर प्रस्तुत करना। डागर परम्परा में विस्तृत और सुनियोजित तालीम का सिलसिला विद्यार्थी के ५ साल की उम्र से शुरू होता था। शुरू में बरसों तक कुछ आकार और सरगम के तकनीकी अभ्यास रटाये जाते थे। विद्यार्थी को रोज़ के एक नियम में बाँध दिया जाता था और हर छोटे से अभ्यास को उसे घण्टों तक एक तजबी के सहारे गिनती रखकर, हजारों बार दोहराना पड़ता था। इन अभ्यासों में शैली के अलग-अलग तकनीकी और व्याकरणिक पहलू निबद्ध होते थे। गुरू निरन्तर छात्र को सुनता था और दिये गये अभ्यास की हर बारीकी का बड़ी सख्ती के साथ संशोधन करता था। बरसों की इस कठोर तालीम से छात्र को इस तरह से तैयार किया जाता था कि शैली के सारे बारीक से बारीक तकनीकी और व्याकरणिक पहलू उसके रग-रग में बैठ जाये और वह आदतन इन चीज़ों को सही ढंग से बरतने लगे। कई सालों की इस तालीम से एक बुनियाद तैयार करने के बाद आलाप और बंदिशों की ओर धीरे-धीरे जब बच्चे की समझ बढ़ने लगे तब शास्त्र की तालीम शुरू होती थी, जिसके तहत उन सारी अवधारणाओं और उन पर आधारित नियमों को समझाया जाता था जिस पर पूरी शैली टिकी है। डागर परम्परा में शास्त्र की शिक्षा भी किताबी न होकर प्रत्यक्ष अमल के माध्यम से दी जाती थी। उस्ताद फ़हीमुद्दीन डागर के शब्दों में 'वे ज़िन्दा किताबें लिखते थे'। लगभग २० या २५ साल की इस तालीम के बाद हर तरह से परिपूर्ण गायक तैयार होता था जो न केवल एक कुशल और शैली के हर पहलू से वाकिफ़ कलाकार होता था, इस लम्बे समय तक साधना में लीन होने से उसमें शैली को जीवन धर्म के रूप में पालन करने की आदत पड़ जाती थी।

ध्रुपद केन्द्र में उस्ताद को सीमित काल में कलाकारों को तैयार करना था और उनके सामने विद्यार्थी के रूप में छोटे बच्चे नहीं बल्कि २०-२२ साल के नवयुवक थे, जो पहले कुछ संगीत सीख चुके थे भले वह ध्रुपद न रहा हो। इसी को ध्यान में रखकर उस्ताद ने एक शिक्षा पद्धति का विकास किया जिसमें कुछ महीनों तक एक संक्षिप्त सरगम की तालीम के बाद वे तुरन्त आलाप और बंदिशों की तालीम शुरू कर देते थे। इसमें कुछ आलाप के फ़िकरे सुनाने और सिखाने के बाद वे विद्यार्थी को स्वयं आलाप करने के लिए कहते थे। बंदिशों को भी साथ ही साथ सिखाया जाता था ताकि उनसे राग और अलंकारों के प्रयोग की जानकारी और आलापन के लिए सामग्री मिले। कुछ दिनों की कोशिश के बाद जब विद्यार्थी अपने तरीके से कुछ आलाप के वाक्य बनाने में सक्षम होते थे, उस्ताद उन्हीं के बनाये हुए आलाप के अशुद्ध वाक्यों को संशोधित करके उन्हें शैली के व्याकरण और नियमों के अनुसार साँचे में ढाल कर सही रूप देते थे, और फिर बीच-बीच में कुछ आलाप के नये वाक्य सिखाकर उन्हें अपने आलाप को और समृद्ध करने के लिए नयी सामग्री देते थे। इस तरह से विद्यार्थी के कच्चे आलाप को निरन्तर सुनकर उसको धीरे-धीरे परिवर्तित करके ठोस रूप देने में गुरु को बहुत परिश्रम और त्याग करना पड़ता था क्योंकि उन्हें अपने रियाज़ और चिन्तन को छोड़कर, शिष्य के आलाप को सुधारने के बारे में काफ़ी सोचना पड़ता था। उस्ताद बंदिशें और उनमें उपज को भी इसी अनोखी पद्धति से सिखाते थे। इस तालीम के परिणामस्वरूप विद्यार्थी बहुत जल्द ही, शैली के व्याकरणिक और

नाद-सिद्धान्तों का मोटे तौर पर पालन करके, सृजनात्मक आलाप और उपज करने की क्षमता पा लेता था। इस प्रशिक्षण पद्धति से आत्मविश्वास के साथ मंच पर गाने के क़ाबिल उस्ताद के अनेक शिष्य तैयार हुए। यह उस्ताद के दूरदर्शिता, परिश्रम, त्याग और नयी परिस्थिति के अनुसार नियमों को बदलने के साहस के नतीजा है कि आज डागर शैली के पर्याप्त युवा गायक हमारे सामने मौजूद हैं। दरभंगा के मल्लिक घराने के भी कई युवा ध्रुपद गायक तैयार हुए हैं और आज कम से कम इन दो ध्रुपद शैलियों के विलुप्ति की कोई आशंका नहीं है। उस्ताद के बड़े भाई रुद्रवीणा वादक उस्ताद ज़िया मोहिउद्दीन डागर भी संक्षिप्त सरगम की तालीम के बाद आलाप और बंदिशों की तालीम देते थे लेकिन वे पहले आलाप का एक पूर्वरचित नमूना सिखाकर उसे कुछ सालों तक निरन्तर संशोधन के साथ रटवाते थे और उसके बाद शिष्य को उसके आधार पर स्वयं आलाप करने के लिए कहते थे। उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर की नयी शिक्षा पद्धति पर उनके बड़े भाई का भी प्रभाव रहा है।

उस्ताद के द्वारा विकसित नयी शिक्षा पद्धति के परिणामों के कुछ और भी पहलू हैं जिनके बारे में वे ख़ुद काफ़ी चिन्ता करते थे और इस विषय में मेरी उनसे और उनके बड़े चचेरे भाई उस्ताद रहीम फ़हीमुद्दीन डागर से कई बार चर्चाएँ भी हुई थीं। इनको समझने के लिए मैं उनके पारम्परिक घराना पद्धति में प्रशिक्षण के बारे में कुछ कहूँगा।

उत्तर भारत में राज दरबारों के संरक्षण में कलाओं में घराना पद्धति का उद्भव हुआ जिसके अन्तर्गत कुछ शैलियाँ कुछ विशिष्ठ परिवारों के साथ जुड़ गयी और इन परिवारों का खानदानी पेशा बन गयीं। इसका कारण यह भी रहा होगा कि उत्तर भारत में शास्त्रीय कलाएँ पिछली लगभग ५-६ सदियों में मन्दिरों और जनजीवन से अलग होकर केवल राजा महाराज और सामन्त वर्ग के पोषण में ही पलते और विकसित होते रहे हैं। दक्षिण भारत में कलाओं का आम लोगों में व्यापक प्रसार और जनजीवन का एक हिस्सा होने के कारण, वहाँ घराना पद्धति का विकास नहीं हुआ। ध्रुपद के कई घराने थे जिनमें से कुछ अब भी अस्तित्व में हैं। आज हम डागर ध्रुपद परम्परा के रूप में जिसे जानते हैं, वह १८वीं सदी के ध्रुपद गायक गोपाल दास और उनके पुत्र बेहराम खान तथा हैदर ख़ान के वंशजों द्वारा संरक्षित एवं विकसित ध्रुपद शैली है। इस शैली के विकास में बड़ी भूमिका बेहराम ख़ान की रही है, जो षट्शास्त्री थे और उन्होंने बनारस में कालिदास नामक पण्डित और गायक से भी शिक्षा ली थी। बेहराम ख़ान द्वारा विकसित डागर शैली का ध्रुपद के प्रति एक बहुत विद्यात्मक दृष्टिकोण रहा है जिसके तहत विस्तृत शास्त्र सिद्धान्तों और अवधारणाओं का विशाल एवं परिपूर्ण ढाँचा ही इसकी बुनियाद और पहचान है क्योंकि यह परम्परा इस परिवार से कई सदियों तक जुड़ी रही इसीलिए इस परिवार ने २०वीं सदी के बीच से शैली के नाम को ही अपने पारिवारिक नाम के रूप में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया।

डागर परम्परा में पारम्परिक प्रशिक्षण पद्धति में घर के सारे शिक्षारत विद्यार्थी घर के सारे बुजुर्गों के पास संयुक्त रूप से तालीम लेते थे। इससे शैली के सिद्धान्तों के अमल में अलग-अलग गायकों के दृष्टिकोण को समझने और सीखने का उन्हें अवसर मिलता था और गायन में वैचित्र्य और विविधता उत्पन्न होती थी। सारे बुजुर्गों द्वारा संयुक्त रूप में प्रशिक्षण देने से शैली के मूलभूत सिद्धान्तों में घराने के सारे गायकों में समानता भी बनी रहती थी, क्योंकि शैली की पहचान उसके मूलभूत सिद्धान्तों से ही बनती है। किसी बुजुर्ग के अकस्मात् निधन से उसकी सन्तानों की तालीम में

कोई रुकावट पैदा नहीं होती थी। १९३६ में उस्ताद नसीरूद्दीन ख़ान के देहान्त के बाद संयुक्त रूप से तालीम देने की यह परम्परा टूटने लगी और परिवार में कई व्यक्तिगत अनबन के कारण और कम उम्र में ही उनके पिता के निधन के कारण परिवार के कुछ शिक्षारत सदस्यों को २०-२५ साल की लम्बी परम्परागत तालीम पूर्ण रूप से नहीं मिल पायी। तालीम के सिलसिले के अस्तव्यस्त होने का एक और कारण यह भी था कि १९४७ के बाद अचानक राजा महाराजाओं का संरक्षण समाप्त हो गया, जिस संरक्षण का ख़ास और महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वह आजीवन था, पूरी तरह गुणवत्ता पर आधारित था और उसे पाने के लिए कलाकार को खुद का प्रचार, विज्ञापन करना या अन्य जुगाड़ों में निरन्तर लगे रहना नहीं पड़ता था, क्योंकि पोषक स्वयं कला के बारे में रूचि और ज्ञान रखते थे। राज दरबारों की समाप्ति पर पहले जैसी बेफिक्री से संगीत साधना करना और तालीम देना सम्भवन नहीं रहा। इन्हीं कारणों से डागर परम्परा में वह आखिरी दौर की शिक्षा जिसमें शास्त्रों और मौलिक अवधारणाओं को समझाया जाता था, उस्ताद की पीढ़ी के अलावा कुछ बड़े भाइयों को ही मिल पायी और समान रूप से सबके पास नहीं पहुँची।

तालीम के क्रम में विघटन के बावजूद परिवार के जिन सदस्यों को शुरूआत की बुनियादी तकनीकों और अर्कानों की तालीम अच्छी तरह से मिली, वे बाद में खुद अपनी सोच और समझ से और कुछ सीखकर और सुनकर घराने की संगीत सामग्री को आत्मसात करके अपनी कला का विकास कर पाये और क्योंकि शुरूआत में उनके बुजुर्गों द्वारा अच्छी बुनियाद रखी गयी थी और तकनीकों की अच्छी आदत डाली गयी थी, वे जो भी बात अपने गायन या वादन में दर्शाते थे, वे सारे शैली के कलात्मक और व्याकरणिक सिद्धान्तों के अनुसार होते थे, भले वे इन सिद्धान्तों और अवधारणाओं का उस पूर्ण तरह से विश्लेषण नहीं कर पाते थे जैसा कि उनसे ज्यादा तालीम प्राप्त उनके अन्य भाई करते थे। इससे हम यह भी समझ सकते हैं कि अगर तालीम की पद्धति को परिवर्तित करके शुरूआत की तकनीकी तालीम को संक्षिप्त करके, जल्द ही आलाप, बंदिश और उपज सिखाये जाये तो उसूलों और उन पर आधारित तकनीकों की उस तरह से आदत नहीं पड़ पायेगी जैसी कि पारम्परिक शिक्षा में बरसों तक तकनीकी अभ्यासों को रटाने से होती है। इससे भले ही विद्यार्थी मंच पर बहुत जल्द ही आत्मविश्वास और कुशलता से प्रदर्शन कर पाये परन्तु तकनीकी और उसूली दृष्टि से उसमें शिथिलता रह जाएगी। आज जब कलाकारों को उस तरह का आजीवन पोषण उपलब्ध नहीं है जैसा राजा महाराजों के दरबार में था और ५-६ साल की उम्र से ही गहन प्रशिक्षण शुरू करना भी सम्भव नहीं है तथा सीमित काल के प्रशिक्षण के बाद विद्यार्थी को अपनी कला के माध्यम से रोज़गार भी करना पड़ता है, इस पुराने ढंग से तालीम देना आमतौर पर सम्भव नहीं है।

मुझे ध्रुपद केन्द्र में उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर से उनके द्वारा विकसित आलाप, उपज और सृजन को प्रधानता देने वाली पद्धति से सीखने के बाद, उनके बड़े चचेरे भाई उस्ताद रहीम फ़हीमुद्दीन डागर के पास कुछ वर्षों तक परम्परागत ढंग से सरगम और तकनीकों की तालीम और आखिरी दौर के शास्त्र, सिद्धान्तों और अवधारणाओं की तालीम मिली जिससे मेरे गायन का और विकास हुआ और सिद्धान्तों को समझने और तालीम के द्वारा आत्मसात करने से उसमें और बहुत सम्भावनाएँ उत्पन्न हुईं। मैंने बचपन में कुछ वर्षों तक सितार सीखा था और गणित में स्नातकोत्तर उपाधि पाने के बाद लगभग २४ साल की उम्र में ध्रुपद सीखना शुरू किया था। यदि मुझे उस्ताद ज़िया फ़रीदुद्दीन डागर की नयी पद्धति से सृजनात्मक और उपजात्मक तालीम नहीं मिलती तो शायद आज मेरे लिए मंच

पर आत्मविश्वास के साथ गाना सम्भव न होता। आज जब हम वयस्क नवयुवकों को सिखा रहे हैं जो पहले कुछ संगीत सीख चुके हैं, मेरे मतानुसार हमें सारे नये और पुराने प्रशिक्षण के उपायों का संयुक्त रूप में एकसाथ प्रयोग करना चाहिए। ध्रुपद केन्द्र में अब नयी और पुरानी परम्परागत शिक्षा पद्धति को मिश्रित रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है और शास्त्रों की और अवधारणाओं की जानकारी भी शुरू से ही अमल के साथ दी जा रही है। लगभग डेढ़ साल के इस तरह के प्रशिक्षण के बाद नतीजा अच्छा होगा, ऐसा प्रतीत हो रहा है। स्थापना के ३२ साल बाद आज भी, ध्रुपद केन्द्र में हर दिन प्रातः ४ बजे अभ्यास और प्रशिक्षण आरम्भ होता है लेकिन ध्रुपद में गहन प्रशिक्षण देकर कार्यक्रम करने और शिक्षा देने के योग्य प्रतिनिधियों को तैयार करने के साथ-साथ यह प्रश्न भी उठता है कि शिक्षा के बाद ध्रुपद से वे जीविका कैसे कमाएँगे।

किसी भी शैली पर उसके पोषण प्रणाली का भी गहरा असर पड़ता है। ध्रुपद के वर्तमान काल तक अस्तित्व में रहना ही पुरानी राज संरक्षण प्रथा का करिश्मा है जिसके तहत देश के कुछ राजदरबारों में उन राजघरानों की निजी रुचि के कारण इस गायन शैली को लगातार संरक्षण मिलता रहा, जबकि अन्य हर जगह पर ध्रुपद के बाद उत्पन्न नयी और मनोरंजनात्मक शैलियों ने पूरी तरह से ध्रुपद का स्थान ले लिया था। ध्रुपद जैसा ध्यानात्मक गायन शैली के लिए ऐसा पोषण अनुकूल है, जिसमें यह पहचाना जाये कि मूलभूत रूप से ध्रुपद एक आध्यात्मिक मार्ग है और कलाकार को जीविका कमाने में खुद का विज्ञापन करना, लोगों को रिझाना और उनका मनोरंजन करने का प्रयास करना कार्यक्रम पाने के लिए निरन्तर जुगाड़ों में लगे रहना न पड़े।

आज़ादी के बाद के दौर में कलाओं में गहरी रूचि रखने वाले राजा महाराजाओं का संरक्षण ख़त्म हुआ और शास्त्रीय कलाओं का पोषण नयी शासन प्रणाली के हाथों चला गया। नयी और पुरानी प्रणाली में बहुत बड़ा अन्तर यह था कि नयी परिस्थिति में कलाओं के पोषण की बागडोर शासकीय अधिकारियों के हाथों में थी जो कुछ अपवादों को छोड़कर आमतौर पर संस्कृति और कलाओं में राजा महाराजाओं की तरह रूचि और ज्ञान नहीं रखते थे। कलाओं के संरक्षण में शासन की भूमिका भारत में आज इतनी बड़ी है कि निजी संस्थाएँ भी बहुत जल्द ही किसी न किसी तरह से शासकीय प्रणाली से सम्बद्ध हो जाती है और उसका हिस्सा बन जाती है। स्वतन्त्रता के बाद के दौर में शासकीय पोषण का मुख्य लक्ष्य बड़े पैमाने पर कार्यक्रमों और उत्सवों का आयोजन करना रहा है और स्कूलों में कला और संस्कृति के बारे में शिक्षा देने के कार्य को कोई अहमियत नहीं दी गयी है। शासकीय कार्यक्रम निःशुल्क होते हैं और इसके चलते पश्चिमी देशों की तरह भारत में निजी संस्थाओं के द्वारा बिना अनुदान पाये कार्यक्रमों का आयोजन करना असम्भव है। इसी वजह से भारत के बड़े शहरों में भी विशाल आबादी के बावजूद बहुत कम कार्यक्रमों का आयोजन होता है। दिल्ली, मुम्बई जैसे महानगरों में सांस्कृतिक कार्यक्रमों की संख्या पेरिस, बर्लिन या लन्दन के मुकाबले नहीं के बराबर है। उन देशों में भी शासन संस्कृति और कला के लिए राजस्व से पैसे खर्च करती है लेकिन उसका बड़ा हिस्सा स्कूलों में कला और संस्कृति के बारे में शिक्षा देने में इस्तेमाल होता है जिससे कि लोगों में कलाओं के प्रति रुचि उत्पन्न हो। यह एक प्रमाणित सत्य है कि सृजनात्मक कलाओं को स्कूलों में सिखाने से अन्य विषयों में भी विद्यार्थी अधिक प्रगति करते हैं।

एक और बात है जिस पर ध्यान देना चाहिए है : उन देशों में सीधे शासन द्वारा सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन बहुत कम या नहीं के बराबर होता है। कार्यक्रमों का आयोजन संस्थाओं द्वारा होता है जिन्हें शासन और अन्य संस्थाओं या कम्पनियों से अनुदान मिलता है। ये संस्थाएँ ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित होती है जो कला और संस्कृति के बारे में पढ़े लिखे और जानकार होते हैं और उनमें गहरी रुचि रखते हैं, लेकिन स्वयं कलाकार नहीं होते हैं और अपने पद को खुद के कार्यक्रमों के आयोजन करने के लिए इस्तेमाल नहीं करते हैं। वहाँ ऐसी सांस्कृतिक संस्थानों के कामकाज में शासन द्वारा हस्तक्षेप नहीं होता है भले ही उन्हें एक बड़ी रकम शासन से अनुदान के रूप में प्राप्त होती हो। विभिन्न स्रोतों से अनुदान पाने पर भी किसी भी कार्यक्रम में निःशुल्क प्रवेश नहीं होता है जिससे कि खर्च किया गया पैसा टिकट की बिक्री से वापस मिले और दुबारा सांस्कृतिक कार्य के लिए उपलब्ध हो। कार्यक्रमों में प्रवेश निःशुल्क न होने से बहुत सी छोटी संस्थाएँ और व्यक्ति भी निजी तौर पर बगैर अनुदान पाये कला और संस्कृति के क्षेत्र में काम कर सकते हैं। कार्यक्रमों का आयोजन सुनियोजित ढंग से और कई महीनों की तैयारी और विज्ञापन के बाद होता है। कार्यक्रमों में श्रोता की मांग से ही विविधता पर ध्यान दिया जाता है क्योंकि टिकट खरीदकर कोई भी कुछ मुट्ठीभर कलाकारों को ही बार-बार सुनना पसन्द नहीं करेगा। गत १२ वर्षों में मैंने पश्चिमी देशों में ५०० से अधिक छोटे-बड़े कार्यक्रम किये हैं लेकिन एक बार भी सिफ़ारिश या किसी प्रकार की साँठ-गाँठ या अन्य कलाकारों के साथ आदान-प्रदान मुझे कहीं नज़र नहीं आया।

क्योंकि हमारे यहाँ आजादी के पहले की तरह कला के पोषक ज़्यादातर कलाओं के पारखी नहीं रहे, कला के लिए शासन के संरक्षण के वितरण में भी गुणवत्ता का कोई मापदण्ड नहीं रहा। कई दशकों तक स्कूलों में कलाओं के बारे में शिक्षा न देने के परिणाम स्वरूप आज कलाओं में रुचि इस कदर घट चुकी है कि शासन के द्वारा आयोजित निःशुल्क कार्यक्रमों में भी लोग नहीं आते हैं। एक कलाकार के लिए इस पोषण प्रणाली में योग्यता और गुणवत्ता के आधार पर प्रवेश पाना भी आसान नहीं है। इस देश में अब जुगाड़, सिफ़ारिश, साँठगाँठ, लेन-देन, आदान-प्रदान के बिना कला की दुनिया में आगे बढ़ना असम्भव प्राय है। इसी के चलते हमें कार्यक्रमों में कुछ मुट्ठीभर गिने चुने चेहरे ही बार-बार नज़र आते हैं और नयी प्रतिभाओं को और पुराने गुणी कलाकारों को भी नहीं के बराबर अवसर प्राप्त होते हैं। बागडोर जिनके हाथ है उन्हें प्रायः विविधता में या नयी प्रतिभाओं को पेश करने में कोई रुचि नहीं होती है। यह सभी परिस्थितियाँ ध्रुपद जैसी उपासनात्मक और ध्यानात्मक कला के लिए घातक हैं।

यदि हम मंच पर बैठकर आकर्षक प्रदर्शन देने के काबिल कलाकारों को तैयार करने का सीमित लक्ष्य अपने सामने रखते हैं तो यह बहुत मुश्किल नहीं है और उन आकर्षक प्रदर्शन करने वाले छात्रों में भी वे ही अपनी कला से रोज़ी कमा पाएँगे जो यहाँ के शासकीय पोषण प्रणाली के 'नियमों और तरीकों' को समझकर उसमें निपुणता से अपने लिए रास्ता बना पाएँगे या विदेशों में अपने आपको प्रतिष्ठित कर पाएँगे। लेकिन ध्रुपद को एक संस्कृति और जीवन धर्म के रूप में जीने के काबिल ध्रुपदियों का तैयार होना और तैयार होने पर भी उनके लिए इस धर्म का पालन करते हुए ध्रुपद के माध्यम से रोज़गार करना, आज की परिस्थिति में मुझे असम्भव-सा प्रतीत होता है।

मेज़ पर कुछ मोम*

वागीश शुक्ल

हिन्दी में उस पीढ़ी के लोग अब बहुत नहीं हैं जिनको यह याद रह गया हो कि मनोहर श्याम जोशी ने कविताएँ भी लिखी थीं उनका उपन्यासकार के रूप में अवतार ही सबको मालूम है। जोशी जी अपनी रचनाओं को छपा लेने के लिए कभी बहुत उत्सुक नहीं दिखायी पड़ते थे और अपनी कविताओं की तो कोई चर्चा भी कभी न करते थे। ऐसा लगता न था कि ये कविताएँ कभी सामने आयेंगीं जब इन्हें आना था अर्थात् जब वात्स्यायन जी ने 'तीसरा सप्तक' में शामिल करने के लिए जोशी जी से कविताएँ माँगी थीं तब भी जोशी जी ने आज कल करते हुए ऊहापोह में इतने दिन बिता दिये थे कि संग्रह छप गया और जोशी जी की कविताएँ नहीं शामिल की जा सकीं। यहाँ यह याद कर लेना शायद ठीक रहेगा कि सप्तकों में शामिल होना उस समय कवि होने का सर्वाधिक विश्वसनीय प्रमाणपत्र था और यह प्रभामण्डल चौथे सप्तक के साथ ही भंग हुआ। यह कल्पना करना भी दिलचस्प होगा कि यदि जोशी जी शामिल हो गये होते तो 'तीसरा सप्तक' के यशस्वी कवियों में से कौन नहीं हुआ होता। जो भी हो 'कल्पना' पत्रिका में जोशी जी की कुछ कविताएँ छपी थीं ऐसा तो कुछ लोगों को याद है किन्तु कवि के रूप में जोशी जी धीरे-धीरे अदृश्य से ही हो गये थे।

बहरहाल हमें आदरणीया भगवती जोशी का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने जोशी जी के असामयिक अकस्मात् देहत्याग के शोक से कुछ उबर कर उनकी अनेक अप्रकाशित रचनाओं को छपवाना शुरू किया जिस क्रम में वे इन कविताओं को भी साहित्यप्रेमियों के सामने ले आयीं।

---

* कूर्मांचली की कविताएँ

कुछ विचित्र-सा तो लगेगा किन्तु मैं इस किताब पर बात प्रूफ़ या चाहें तो पाठ कह लें से शुरू करना चाहता हूँ। उदाहरण के लिए :

हम लोगों का ख़ास चीज़ आत्मा का अन्दर है
कौन साला बोला तुमको हनुमान जी बन्दर है

निर्वृत्ति परिप्रेक्ष्य शीर्षक कविता से

में हनुमान जी की जगह हुनमान जी छप गया है। कह सकते हैं कि आसान तो है पाठक शुद्ध कर लेगा। किन्तु पंक्तियों का टोन देखते हुए हुनमान जी भी चल सकता था और यह पाठक के लिए संशय की स्थिति उत्पन्न करता है। अब ज़रा इन पंक्तियों पर नज़र डालिए

मद्य का गन्तव्य से सम्बन्ध है
क्योंकि मन्तव्य पथ का ही अन्त है।
क्योंकि पथ का तर्क गन्तव्य का तर्क है।
कई पथ हैं एक गन्तव्य के
भ्रम है भ्रम है
हर पथ से जाकर देख ले
हाँ वही गन्तव्य है
पर फर्क है।

अ राजनैतिक की राजनीति शीर्षक कविता से

अब यह आप किस साहस से कहेंगे कि पहली दो पंक्तियाँ ये हैं,

पथ का गन्तव्य से सम्बन्ध है
क्योंकि गन्तव्य पथ का ही अन्त है।

साहस का प्रश्न इसलिए प्रासंगिक है कि जैसा मैंने वात्स्यायन जी की **असाध्य वीणा पर** लिखते हुए बहुत पहले कहा था, आधुनिक साहित्य टेक इट आर लीव इट की शर्तों पर लिखा जाता है और उसमें यह गुंजाइश नहीं होती कि आप मुद्रित पाठ की जगह वैकल्पिक पाठ रख दें जब कि प्राचीन टीका पद्धति में यह मान्य था और आलोचना का एक स्वीकृत अंग। मैं **असाध्य वीणा** में प्रयुक्त सन्धीत शब्द को बदलना चाहता था क्योंकि यह व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है किन्तु कर नहीं सकता था और वह मेरी खीझ का कारण था। दूसरे शब्दों में मुझमें वह साहस नहीं था जिसका ज़िक्र मैंने अभी किया। किन्तु यह साहस मुझमें इस कविता संग्रह की समीक्षा करते समय मौजूद है। और इसी साहस का उपयोग करते हुए मैं यह कहूँगा कि पहली दो पंक्तियाँ ये ही होना चाहिए।

पथ का गन्तव्य से सम्बन्ध है
क्योंकि गन्तव्य पथ का ही अन्त है।

यद्यपि मुझे मालूम है कि यहाँ पर पाण्डुलिपि में अर्थात् उस टाइप स्क्रिप्ट में जिससे ये कविताएँ छापी गयीं पहली दो पंक्तियाँ वैसी ही हैं जैसी छपी हैं

मद्य का गन्तव्य से सम्बन्ध है
क्योंकि मन्तव्य पथ का ही अन्त है।

इस प्रकार जिस साहस की में बात कर रहा हूँ वह किसी साहित्यिक प्रामाणिकता पर आधारित नहीं एक नितान्त निजी संयोग पर आधारित है मैंने टेलीफोन कर के भगवती जी से पता लगाया कि पाण्डुलिपि में क्या है और फिर इस भरोसे का इस्तेमाल किया कि जब से जोशी जी से मेरा परिचय हुआ तबसे ले कर अपने जीवन काल के अन्त तक उन्होंने अपनी रचना के विषय में मेरा कोई भी सुझाव अस्वीकार नहीं किया चाहे सलाह बिन माँगे दी गयी हो या माँगी गयी हो। लेकिन मान लीजिए कि मैं इस साहस का इस्तेमाल नहीं करता हूँ और छपी हुई पंक्तियों को जस का तस स्वीकार करता हूँ। तब क्या हमारे मन में कोई पाठ अस्थिरता का कोई प्रश्न इस कविता को ले कर उठना चाहिए जैसे कि वह शेक्सपियर के नाटक पर लिखते सोचते हुए किसी भी पाठक के मन में उठता है फ़ोलिओ संस्करण का पाठ चुनें कि क़्वार्टो संस्करण का पाठ चुनें या फिर जेम्स ज्वायस की यूलिसस के जो दो पाठ प्रूफ़ देखे जाने के नाते बन गये हैं और उनको ले कर जैसे दो पक्ष बन गये हैं वैसा ही कुछ होना चाहिए कोई सामान्य सिद्धान्त बनाना तो सम्भव नहीं दीखता क्योंकि उदाहरण के लिए कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की जितनी टीकाएँ हैं उतने ही पाठ भी हैं।

कविता का कोई एक ही पाठ होता है या होना चाहिए यह विश्वास उसी एकवाच्यता से बनता है जिसके आधार पर बाइबिल और कुर्आन जैसे ईश्वरीय वचन तैयार होते हैं अर्थात् वैकल्पिक पाठों का पूर्ण विनाश कर के। यही एकवाच्यता इतिहास अर्थात् हिस्ट्री जैसे अनुशासनों का भी निर्माण करती है। हिन्दी में ऐसे किसी सर्जनात्मक घालमेल की सम्भावना से इनकार करने वालों को सिर्फ़ एक उदाहरण के लिए 'समास' में छपा लक्ष्मीधर मालवीय का लेख पढ़ लेना चाहिए जो बताता है कि **बिहारी सतसई** के सम्पादन में कैसे कैसे द्रविड़ प्राणायाम करने पड़े हैं और कैसे एक ही दोहे में प्रूफ़ के चलते रत्नाकर जी को कुछ और अर्थ लगाना पड़ा है वाजपेयी जी को कुछ और। **पदमावत** तो ख़ैर ऐसी समस्याओं का ख़जाना ही रहा है। अस्तु मैं इसे यहाँ और न बढ़ाऊँगा।

जोशी जी कूर्मांचली नाम से कविताएँ लिखते थे और इसलिए इस काव्यसंग्रह का नाम **कूर्मांचली की कविताएँ** एक बुनियादी सूचना को शामिल करते हुए सही है। अंचल पर यह ज़ोर रचनात्मकता के स्तर पर भी है और बहुत बाद में चल कर जिस आंचलिकता का प्रकटन जोशी जी के कथा साहित्य में **कसप** और **क्याप** जैसे शीर्षकों से लेकर कथाशिल्प में कुमाऊँ की आबोहवा की आत्मीय बसावट के रूप में हुआ उसकी भरोसेमंद झलक इन कविताओं में भी मौजूद है :

पनघट पर काई
मेरी काँच की आँखों में जीवन नराई
पीपल के चरणों में दिवरा
जीवन को अर्पित वह मेरा हियरा।

दो जोड़ शीर्षक कविता से

किन्तु शब्दाधारित आंचलिकता की अपनी समस्याएँ हैं यदि शब्द का अर्थ न पता हो तो वह पाठक के लिए कठिनाई ही पैदा करती है। दिवरा को मान लीजिए आपने दियरा कर लिया। फिर भी यहाँ नराई शब्द हमारे लिए अपरिचित है और इस कविता में कोई पादटिप्पणी नहीं जो इसका अर्थ बताये। संयोगवश **निर्वृत्ति प्रस्तावना** और **परिस्थिति** में भी यह शब्द मौजूद है जहाँ इसका अर्थ स्मृत्याभास मौजूद है। किन्तु यह मानना तो उचित नहीं कि यदि किसी एक कविता में यह शब्द समझा दिया गया है तो वह पाठक के निजी शब्दकोश में शामिल हो गया और वह उसे कहीं भी समझ लेगा। यह मुश्किल तब और बढ़ जाती है जब आप इस बात पर ध्यान दें कि इस कविता के शीर्षक **दो जोड़** में जो जोड़ शब्द है वह दरअसल कुमाऊँनी लोक रचना का एक फ़ार्म है और यह सूचना आप को यहाँ नहीं उस कविता से मिलती है जिसका शीर्षक **कुछ जोड़** है और जिस की पादटिप्पणी में यह जानकारी मौजूद है।

इसी सिलसिले में एक बात और। जोशी जी ने जोड़ लिखे मगर इतने नहीं कि जोड़ पर हिन्दी साहित्य विमर्श में कुछ चर्चा हो। यह जानना दिलचस्प होगा कि छन्द त्यागने में प्रबल उत्साह दिखाने वाले हिन्दी कवियों ने हाइकू और सानेट में कब कैसे क्यों रुचि दिखायी और दुमदार दोहे जैसी चीज़ें क्यों केवल कविसम्मेलन के अधःपतन के साथ नत्थी हो गये। इस कविसम्मेलन नामक संस्था का अधःपतन भी हिन्दी साहित्य की एक बड़ी दुर्घटना ही है। भवानी प्रसाद मिश्र और नागार्जुन के बावजूद कविसम्मेलन क्यों नीचे की ही ओर गया **प्रतीक** में रमानाथ अवस्थी जैसे लोगों के छपने के बावजूद गीत की विधा क्यों कवियों ने तिरस्कृत ही कर दी लोकप्रिय मनोरंजन के निमित्त छपने वाली और पारिवारिक पत्रिकाओं से साहित्य का बहिर्गमन कैसे हुआ यह सब चिन्तनीय और विचारणीय है। उर्दू में तो 'जासूसी दुनिया' में राही मासूम रज़ा का छपना कुछ शर्म की बात न थी और कविसम्मेलन एक नितान्त जीवन्त संस्था है।

जैसा कि जोशी जी की रचनाओं में बाद में भी देखा गया इस आंचलिकता का विस्तार कुमाऊँ के बाहर भी करने का प्रयास रहा है

टूटती बाँसुरिया में गीत नयी है।
सखि मोर हृदय माँ प्रीति नयी है।
नैना से तोर जदि नीर बहि जई हैं
हिया भरि आयी हैं सखि गीत बनि जई हैं

ददरिया शीर्षक कविता से

यह मानने के बावजूद कि इस कविता को लिखते समय जोशी जी शायद कुल बीस बरस के भी न रहे हों यह तो साफ़ ही है कि इस कविता की भाषा में कुछ सुधार ज़रूरी है जो निश्चय ही किया भी गया होता यदि जोशी जी ने इन कविताओं को छपवाने की नीयत से इन पर दुबारा नज़र डाली होती या वात्स्यायन जी ने ही अपने सम्पादन में इन्हें लिया होता।

इन सबके निकट ही किन्तु अपनी प्रकृति में नितान्त भिन्न एक समस्या से ग्रस्त पंक्तियाँ ये हैं :

जरदी फेंटता है युवराज डेनमार्क का
जरसी बिनती है कुँवरानी ऑफीलिया

पूजाकाम शीर्षक कविता से

अब यहाँ मुश्किल यह है हिन्दी पाठकों में **हैमलेट** नाटक पढ़ने वाले कितने और उनमें से भी कितने यह याद रखने वाले कि **हैमलेट** नाम से मशहूर इस नाटक का असली नाम **डेनमार्क के युवराज हैमलेट की त्रासदी** है। ऑफीलिया भी इसी नाटक की एक पात्र है इन सब का जोड़कर के फिर कविता तक पहुँचना होगा। इस क़िस्म का **गोयम मुश्किल वगर्न गोयम मुश्किल** जोशी जी की रचनाओं में बाद में भी रहा और **कसप** तथा **कुरु कुरु स्वाहा** की मैंने जो समीक्षाएँ की हैं उनमें ऐसा कहा भी है लेकिन यहाँ मामला थोड़ा और टेढ़ा है। मैं अपनी बात कुछ और साफ़ करने की कोशिश करता हूँ।

गोस्वामी जी की एक चौपाई है :

भए बिलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल।।

बालकाण्ड दोहा के बीच

यहाँ सीधा अनुवाद यह है कि जब जनकवाटिका में राम और सीता ने परस्पर एकदूसरे को देखा तो उनकी पलकों ने झपकना बन्द कर दिया जैसे कि संकोच वश महाराज निमि ने आँखों का कोना छोड़ दिया हो। बात समझने के लिए आप को यह जानना होगा कि परम्परास्वीकृत मान्यता के अनुसार महाराज निमि सब की पलकों में रहते हैं और पलकों का झपकना ही उनकी उपस्थिति का प्रमाण है यह भी कि सीता निमि की वंशजा हैं और यह भी कि अपने वंश की कन्या का श्रृंगारव्यापार देखना शिष्टाचारविरुद्ध है अतः यदि पलकें नहीं झपक रही थीं तो महाराज निमि वहाँ से चले गये थे इतनी बातें अगर नहीं मालूम तो फिर गोस्वामी जी की चौपाई भी नहीं समझ में आ सकती।

इस तरह के संकेतों को तल्मीह कहते हैं और यदि आप पूरी तरह उन सन्दर्भों में नहीं रचे बसे हैं जिन पर कविता खड़ी की गयी है तो आप कविता तक नहीं पहुँच सकते। प्राचीन साहित्य में तो ख़ैर इसके उदाहरण बहुत मिलते थे आधुनिक हिन्दी साहित्य में ऐसी कठिनाई वात्स्यायन जी ने पैदा की जब वे 'शेखर एक जीवनी' में तमाम ईसाई और पश्चिमी मानस के अन्य तहदार सन्दर्भों को सहज भाव से ले आये। वे अंग्रेजी कविता के उद्धरणों के साथ भी आये जिनसे उपन्यास के अनेक भावनात्मक मोड़ बने हुए हैं। पहले इन उद्धरणों के अनुवाद भी नहीं दिये गये थे। बाद के

संस्करणों में उद्धरण अनुवाद सहित होने लगे। लेकिन इससे कोई फ़र्क पड़ा कि नहीं यह गवेषणा का ही विषय है क्योंकि इस उपन्यास ने ऐसा आतंक फैलाया कि इस पर चर्चा ही नहीं हो पायी। जान द बैप्टिस्ट जैसे सन्दर्भों से भरपूर इस उपन्यास में प्रकाशन के समय से लेकर अब तक पाठकों को थोड़ा बहुत उलझन में हमेशा डाला है। यह बात वात्स्यायन जी की कविताओं तथा अन्य रचनाओं में भी रही और शुरू से लेकर आख़ीर तक रही। लेकिन उनमें यह असहज नहीं लगता था और इस सहजता का एक बड़ा कारण यह भी था कि उनकी पढ़ाई सारी पश्चिमी ही थी। उनकी देखी देखी कुछ अगर किसी ने हिन्दी में करना चाहा है तो सफल नहीं रहा है। हम सन्तोष व्यक्त कर सकते हैं कि जोशी जी ने इस नमक का उतना ही इस्तेमाल किया जितना उनकी दाल में चल सकता था।

ये कविताएँ अपने लिखे जाने के समय की बहुत सी छाप अपनी भाषा और भाव में समेटे हुए हैं किन्तु जगह जगह वे धारा के विरूद्ध भी हैं। बहुत सी बातें ऐसी हैं जो प्रायः कविताओं में प्रत्येक समय में मिलती ही हैं जैसे कविता क्या है का कोई फड़कता हुआ उत्तर या फिर कवि और दृश्य जीवन का कोई दृढ़ स्वीकृत सम्बन्ध :

जब कवि और जीवन मिलते हैं
तब सत्य पैदा होता है

सीधे समीकरण शीर्षक कविता से

या फिर समकालीनों पर वैसी कविताएँ जैसी कालातीतों पर लिखी जाती हैं इस संग्रह में निर्मल और शमशेर पर भी कविताएँ है

इधर तो कविता में सचेष्ट हो कर मनोरम शब्द विन्यास करना कविगत अज्ञान और असामर्थ्य के चलते ही सही कुछ अवांछित सा हो चला है किन्तु जोशी जी के यहाँ ललित पदबन्ध का आकर्षण और अभ्यास दीख जाते हैं और मोहक लगते हैं कुछ इसलिए भी कि माधुर्य की पहचान स्निग्धता की एकदेशी सीमाओं के बाहर भी देखी गयी है:

गोद खिलाने दूध पिलाने जाँघ लिटाने लुकती साँझ
पिछले कवियों के कानन में कान्तासक्त सिसकती साँझ।

साँझ शीर्षक कविता से

धारा के विरूद्ध कुछ राजनीतिक टिप्पणियों में भी दिखता है। जोशी जी अपने को तब तक बराबर आखीर तक वामपन्थी कहलाना पसन्द करते रहे और हिन्दी रचना का वह समय भाखड़ा नंगल आदि में नये भारत के नये मन्दिर देख भी रहा था। किन्तु आशा के विपरीत जोशी जी उसी समय कुछ यूँ भी लिखते हैं :

हैं महा वीर त्यागी
मार्क्स के मुँह में धर दी इन्होंने
जो इनके दिल में जागी
… … …

इंसान की तुक महान नहीं है
प्रगतिवादी कविता लिखना
इतना बहुत आसान नहीं है।

सीधे समीकरण शीर्षक कविता से

यूँ शायद यह कुल मिलाकर इतना ही है कि मेरा मार्क्स तुम्हारे मार्क्स से सफ़ेद है 'मगर वाम वाम वाम समय साम्यवादी' के ज़माने में इतना ही क्या कम था।

वस्तुतः जिस द्वैध का सामना कविता को करना पड़ता है वह कुछ राजनैतिक और आर्थिक परिभाषाओं द्वारा बनाया गया द्वैध नहीं है, वह एक वैचारिक द्वैध है। गुलबकावली बकौल शख़्से गुलबिकावली बकौल शख़्से (**निर्वत्ति प्रस्तावना** और **परिस्थिति** शीर्षक कविता से) जैसा यदि हम बकावली और बिकावली की शब्द क्रीड़ा से आगे भी इस पर गौर करें। किन्तु यह शायद सच है कि जोशी जी जिस पैनेपन के लिए बाद में चलकर अधिक विख्यात हुए उसका पूर्वाभास इस प्रकार की पंक्तियों में ही पूरी तीव्रता से प्रत्यक्ष होता है :

कान खोलकर सुन लो भाई गाँठ बाँध लो निज मन में।
पुरातत्त्व का देश हमारा पूरा तत्त्व पुरातन में।
जर्मन ने सीखा था हमसे अमरीकन है सीख रहा।
चर्खा करघा कपड़ा अपना न्यूयार्क में दीख रहा।
बम्बई में जो उगता केला मास्को उसको खाता है।
श्रृद्धा से भारतमाता का माथा झुकता जाता है।
यह देखो यह ताजमहल है देखो यह अजन्ता है।
और यह भिलाई है मेरे भाई लोहा इधर बनता है।
चितरंजन का अंजन देखो डब्बा पैरम्बूर का।
भजन सुनो मीराबाई का या तुलसी या सूर का।
वह देखो वह भाखड़ा है अन्दर जिसके मन्दर है।
कम नहीं इण्डियन इससे हारा बड़ा बड़ा सिकन्दर है।
हम लोगों का ख़ास चीज़ आत्मा का अन्दर है।
कौन साला बोला तुमको हनुमानजी बन्दर है।

निवृत्ति परिप्रेक्ष्य शीर्षक कविता से

यह व्यंग्य की भंगिमा बाद में चलकर जोशी जी की लेखन शैली की एक पहचान बन गयी। **कुरू कुरू स्वाहा** से शुरु करके देखें तो प्रायः यह भंगिमा पाठक से एक बौद्धिक गहरायी तक उतरने की माँग करती रही है और प्रायः उस बौद्धिक गहरायी तक उतरना हिन्दी के औसत पाठक तक कठिन रहा है। फिर भी जैसा मैंने **कसप** की समीक्षा लिखते समय बहुत पहले कहा था, जोशी जी की रचनाओं का मूल रस करुण रहा है। उनका रास्ता टेढ़ा रहा है। विद्रूप में कुछ इतनी बेबसी की अकुलाहट होती है कि एक दोहरी लिखावट का आभास होता है। विद्रूप की मुस्कान पर बहुत गौर कीजिए तो बेबसी की खाई लगती है जिसमें बहुत देर तक निहारिये तो विद्रूप की मुस्कान की एक नयी आकृति

सी उभरती हुई मालूम देती है। इन कविताओं में, जो सब की सब आरम्भिक कविताएँ ही हैं, वह कलाकारी नहीं है। जो विषाद है वह सीधे-सीधे विषाद है। मुझे जोशी जी की बहुत सारी बखिया उधेड़ पंक्तियों से अधिक इस संग्रह में संग्रहीत अन्तिम कविता ने प्रभावित किया जिसे आप चाहे तो किशोर प्रेम की कविता कह सकते हैं :

अब नहीं आती तुम्हारी याद
... ...
बस मेज़ पर कुछ मोम है वह केन्द्र है
वृत्त है चहुँओर जिसके दग्ध पंखों का
... ...
कौन कहता है कि वह अनुराग मेरा चुक गया है
मैंने ही कहा हो यदि तो स्वीकारता हूँ भूल अपनी
स्वीकारता हूँ वचन यह मिथ्या कहे होंगे संतप्त क्षण में
कटु कटाक्ष से विक्षत
वृथाभिमान ने मेरी
... ...
मत समझना दर्प के सम्मुख तुम्हारे गर्व मेरा झुक गया है
सिर्फ़ इतना ही कहा है
कि वह अनुराग अब भी है
भले ही अर्थ उसका धर्म उसका
रंग रूप स्वभाव उसका
वह नहीं है जो तुम्हें स्वीकार था
... ...
सिर्फ़ इतना ही कहा है
... ...
सिर्फ़ इतना ही कहा है
... ...
सिर्फ़ इतना ही कहा है
... ...
सिर्फ़ इतना ही कहा है ...
किन्तु यह क्या
व्यथित तुम बोलीं शिकायत भरे स्वर में
जो कि वह अनुराग तेरा चुक गया है।

प्रीति और उपलब्धि शीर्षक कविता से

पत्र

...एक बार फिर दुहरा दूँ कि आपकी पत्रिका मुझे बहुत अच्छी लगी। यह मेरी नज़र से गुज़रने वाली दूसरी पत्रिकाओं से भिन्न है। लेख विषय को छूते मात्र नहीं ; विषय की गहरायी में जाकर उसकी समझ बढ़ाते हैं, इसलिए लम्बे हैं। फिर भी वे मन को बाँधे रखते हैं ; उन्हें पढ़कर मन ऊबता नहीं। उदाहरणस्वरूप, कमलेशजी का ८९ पृष्ठों का, फिर भी अधूरा, 'रूसी संस्कृति का उद्‌भव और विनाश' शीर्षक आलेख तथ्यपूर्ण, विश्लेषणात्मक तथा अन्तर्दृष्टि जगानेवाला आलेख है। सोवियत काल में हमारे बौद्धिकों का एक प्रभावी तबका रूस से जुड़ा रहा; अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करता रहा, लेकिन रूस के विषय में ऐसा लेख उनकी पत्रिकाओं में नहीं आया। उनके लेख अधिकतर प्रचारात्मक होते थे, भ्रम फैलानेवाले।

इस अंक में रतन थियाम के साथ आपकी लम्बी बातचीत छपी है। यह मन को बाँधे रखनेवाला वार्तालाप भारतीय रंगकर्म एवं देश के एक शीर्षस्थ रंगकर्मी का मानसिक बौद्धिक विकास तथा उसकी सोच का गहरायी तक बोध कराता है। वैसे ही आपके सघन वार्तालाप डॉ. सुरेश शर्मा एवं श्री धर्मपाल के साथ पिछले अंकों में छपे थे, सुरेश शर्मा से आपकी पैगन परम्परा पर बातचीत एवं धर्मपाल से हुई बातचीत भारतीय इतिहास, राजनीति, धर्म आदि की समझ बढ़ानेवाली थी।

वैसे तो पत्रिका में छपे सभी लेख विद्वतापूर्ण, सुरूचिपूर्ण विषयों की समझ बढ़ानेवाले, भारतीय विद्वद्‌जगत में व्याप्त मिथकों को तोड़ने एवं विभ्रम मिटानेवाले हैं, लेकिन हिन्द स्वराज पर डॉ. सुरेश शर्मा का, बिहारी सतसई पर लक्ष्मीधर मालवीय का एवं राधावल्लभ त्रिपाठी के लेख बहुत अच्छे लगे। अच्छी पुस्तक समीक्षा ; कविता, कहानी दूसरी भाषाओं से अनुदित लेख, कहानी आदि तथा मनीषियों के पुराने लेख पत्रिका को अधिक पठनीय बनाते हैं। अन्ततः मैं आपकी महत्वपूर्ण पत्रिका के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

ब्रज बिहारी कुमार

...'समास ८' में रतन थियाम और उदयन वाजपेयी की सहज और गम्भीर बातचीत हमें अपनी कला और कलाकार के बारे में अपनी परम्पराओं और उनसे बाहर आती कलात्मक चेष्टाओं के बारे में बहुत कुछ महत्वपूर्ण और ज़रूरी बताते हुए बढ़ती है। 'समास' के अंकों में जारी सम्वादों का यह सिलसिला साहित्य, समाज, इतिहास और कला के

सन्दर्भ में नयी-नयी अन्तर्दृष्टियों को पाठकों के सामने ले आने का सिलसिला बनता जा रहा है। पिछले चार अंकों में क्रमशः श्री कमलेश, सुरेश शर्मा, धर्मपाल और रतन थियाम से किया गया सम्वाद अपने-अपने क्षेत्रों के इन मनीषियों के चिन्तन-मनन के एक तरह के दुर्लभ दस्तावेज-सा जान पड़ता है।

पिछले अंक में प्रकाशित आस्तीक वाजपेयी की कविताओं की कलात्मक अन्तर्दृष्टि ने भी प्रभावित किया है। कुछ दूसरी पत्रिकाओं में भी आस्तीक की कुछ मार्मिक कविताएँ पढ़ने का अवसर मिला है। सबसे पहले उनकी कविताओं में एक तरह का भाषा-बोध खींचता है जिसमें हिन्दी भाषा की अपनी उज्जवलता, पारदर्शिता और सुन्दरता का अहसास मिलता चला जाता है। उनकी कविताओं में इस तरह के Sense of Language को हम कविता हो पाने की ज़िद लिये हुए सिर्फ़ कविता हो जाने का जोखिम उठाते हुए देख पाते हैं। ये कविताएँ अपने वक़्त के लिए कुछ नये रूपकों को खोजने के लिए प्रयत्नशील बनी रहती हैं और जहाँ पुराने रूपकों का उपयोग करती भी हैं तब उनके अपने समय और समाज से रिश्ते ज़रूर नये जान पड़ते हैं।

मेरे लिए उनकी कविताओं से प्रभावित होने का एक और कारण इन कविताओं का एक बड़े परिप्रेक्ष्य में अपनी सभ्यता से सम्वाद किये जाने की लालसा भी है। यहाँ अपनी सभ्यता से सवाल खड़े करने का धीरज नज़र आता है, उत्तर देने की हड़बड़ी नहीं। यह बात सुखद आश्चर्य-सी जान पड़ती है कि जहाँ हमारी ज़्यादातर कविताएँ यथार्थ और स्वप्न का समस्या और समाधान का परिवर्तन और परम्परा का सरलीकरण करते हुए अपनी उपस्थितियाँ दर्ज करवाने के लिए ललायित जान पड़ती हैं वहाँ आस्तीक वाजपेयी धीरता-गम्भीरता से अपनी कविताओं को देखना-समझना चाहते हैं और इस तरह समझाना-दिखवाना भी। मैं इन अच्छी और सच्ची कविताओं के लिए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

जयशंकर

लेखक परिचय

नवज्योति सिंह, देश की अग्रणी दर्शनिक और इण्टरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ इनफारमेशन टेक्नॉलाजी, हैदराबाद में एक्ज़ेक्ट ह्यूमेनिटीज़ के संस्थापक और अध्यक्ष। भारतीय तकनीकी संस्थान (आईं.आई.टी) कानपुर से स्नातक के बाद नाभिकीय तकनीकी में उच्च अध्ययन। बाद के बरसों में भारतीय सभ्यता में विज्ञान के इतिहास और दार्शनिक आधारों पर शोध। समाज और कलाओं पर सत्ता विषयक चिन्तन। भारतीय/यूनानी विश्लेषणात्मक परम्पराओं की तर्क पद्धतियों और आधुनिकता पर शोध। इन दिनों मानविकी के आधारों पर सत्ता विषयक यान्त्रिकी और डिजीटल मानविकी पर विशेष कार्य। सम्पादित पुस्तकें : टेम्पोरेलिटी एण्ड लॉजिकल स्ट्रक्चर : एण्ड इण्डियन पर्सपेक्टिव, सृष्टि, इट्स फिलोसोफिकल एनटेलमेण्ट्स। पिछले कुछ बरसों से अन्तःकरण : मैकेनिक्स ऑफ माइण्ड, पंगचुएटिंग रिएलिटी : टूवर्डस फॉर्मल फाउण्डेशन ऑफ जस्टिस, हिस्ट्री एण्ड सोसायटी और फ्लेवर ऑफ रीजन इन इण्डियन सिविलाईज़ेशन, अपनी इन तीन पाण्डुलिपियों को अन्तिम रूप दे रहे हैं।

कमलेश, हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, विचारक, अनुवादक और राजनीतिकर्त्ता। इनके तीन कविता संग्रह, 'जरत्कारु', 'खुले में आवास' और 'बसाव' प्रकाशित हुए हैं। कमलेश जी की कविताओं में भारतीय परम्परा की समृद्धि के दर्शन को अनेक आलोचकों ने रेखांकित किया है। इन्होंने पाब्लो नेरूदा की प्रसिद्ध कविता 'माचू पिच्चू के शिखर' समेत अनेक कविताओं के अनुवाद किये हैं। कमलेश जी ने साहित्य और इतिहास आदि अनेक अनुशासनों की पुस्तकों पर विस्तार से लिखा है। इन दिनों कमलेश जी भारत की जाति-व्यवस्था आदि अनेक संस्थाओं को औपनिवेशिक विचारों के कुहासे से बाहर निकालकर सम्यक आलोक में देखने का महती प्रयत्न कर रहे हैं। आप इन दिनों बी-२५, वसन्त कुंज एनक्लेव, नयी दिल्ली ७० में रहते हैं।

मानस मुकुलदास, अँग्रेज़ी साहित्य के प्राध्यापक। अज्ञेय के अत्यन्त निकट के मित्र। अज्ञेय जी के साथ उनकी कुछ कृतियों का अनुवाद। इलाहाबाद में रहते हैं।

स्टीवन ग्रीको, इतालवी कवि और अनुवादक। इतालवी और अंग्रेज़ी में कविताएँ लिखते हैं। कुछ बरस पहले इन्होंने ग़ालिब के इतालवी भाषा में अनुवाद किए।

संजीव क्षितिज, हिन्दी कवि और पत्रकार। लम्बे समय से हिन्दी में कविताएँ लिख रहे हैं और रविवार, अमर उजाला और दैनिक भास्कर जैसे महत्वपूर्ण समाचार पत्रों में काम करते रहे हैं। इन दिनों दिल्ली में रहते हैं।

जवाहर गोयल, इंजीनियरिंग और मैनेजमेण्ट की पढ़ाई कर उन्होंने कोल इण्डिया लिमिटेड में वर्षों तक काम किया और कलकत्ते में बस गये। 'दिनमान' और कई अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। कविताएँ लिखने के अलावा रेखांकन भी करते हैं। आप कोलकाता में रहते हैं।

प्रवसिनी महाकुद, ओडिया की महत्वपूर्ण कवि। छः कविता संग्रह प्रकाशित। कविताओं के अनुवाद हिन्दी, बंगाली

और अंग्रेज़ी के अलावा अनेक भाषाओं में। नेपाल और जर्मनी में कविता पाठ। ओडिया साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित। प्रवसिनी कई बरसों तक दिल्ली में रहकर हिन्दी अंग्रेज़ी और बंगाली की कृतियों का ओडिया में अनुवाद करती रही हैं। इन दिनों धेनकनाल (ओडिशा) में रहती हैं।

वागीश शुक्ल, हिन्दी के सम्भवतः सबसे गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक और उपन्यासकार। इनकी दो पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। यह टीका निराला की इस महत्वकाँक्षी कविता को भारतीय साहित्य की देशी और मार्गी परम्परा के परिवेश में अवस्थित कर उसकी अर्थ समृद्धि को सहज उद्घाटित करती है। वागीश जी ने ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की विस्तृत टीका लिख रखी है, जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं जिसके कुछ हिस्से 'समास-६' में प्रकाशित हुए थे। आप इन दिनों स्वस्ति, म.न.-१०४२, वार्ड क्रमांक ०४ दाखिन दरवाज़ा, बस्ती-२७२००२ (उ.प्र.) में रहते हैं।

ध्रुव शुक्ल, हिन्दी के कवि, कथाकार, उपन्यासकार और टिप्पणीकार। ध्रुव के कई कविता संग्रह प्रकाशित हैं जिनमें 'खोजो तो बेटी पापा कहाँ हैं', 'फिर वह कविता वही कहानी' और 'एक बून्द का बादल' प्रमुख हैं। इनके दो उपन्यास 'उसी शहर में' और 'अमर टॉकीज', एक कहानी संग्रह 'हिचकी', सामयिक विषयों पर टिप्पणियों का संग्रह, 'एक नागरिक की डायरी', महात्मा गांधी की प्रसिद्ध पुस्तक, 'हिन्द स्वराज' पर केन्द्रित सुदीर्घ निबन्ध, 'पूज्य पिता के सहज सत्य' आदि प्रकाशित हुए हैं। ध्रुव ने विख्यात रंगनिर्देशक ब.व. कारन्त द्वारा निर्देशित कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में बुन्देली गीत लिखे हैं। ध्रुव को अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। हिन्दी साहित्य की पत्रिका, 'पूर्वग्रह' में सम्पादन सहयोग और 'साक्षात्कार' का सम्पादन किया है। आप एम.आई.जी. ५४, कान्हा कुंज (फेस-१) कोलार रोड, भोपाल-४२ में रहते हैं।

ईशिता भादुड़ी, जन्म ४ मई, १९६१, दक्षिण कोलकाता में। बांग्ला की सुपरिचित कवियत्री। आठवें दशक से कविता लिखने से साहित्यक जीवन का प्रारम्भ। एक निजी काव्य-अनुशासन में ढली भाषा और उसके सटीक व्यवहार के लिए जानी जाती हैं। इनकी २४ पुस्तकें प्रकाशित हैं। 'निर्वाचित कविता' (२०१२) में चयनित कविताएँ हैं। एक समय 'सेंजूति भादुड़ी' छद्म-नाम से भी लेखन। देश-विदेश के कई साहित्यिक-सांस्कृतिक आयोजनों में भागीदारी। अपने समकालीन कवियों और अग्रज कवियों, मसलन विनय मजुमदार, शक्ति चट्टोपाध्याय आदि पर (उनको समर्पित) कविताओं की भी अच्छी खासी संख्या है। पश्चिम बंगाल अकादेमी पुरस्कार और कवि गौरांग स्मृति पुरस्कार से अलंकृत। बांग्ला राइटर्स फेडरेशन द्वारा सम्मानित। एकद्वीप संस्थान में अधिकारी। इन दिनों दिल्ली में।

प्रयाग शुक्ल, पिछले पाँच दशकों से कविताएँ लिख रहे हैं। उनकी दस कविता पुस्तकें, पाँच कहानी संग्रह, तीन उपन्यास और चार यात्रा वृत्तान्त प्रकाशित हैं। संस्मरणों और निबन्धों के भी कुछ संग्रह प्रकाशित हैं। बच्चों के लिए

लिखना भी उन्हें प्रिय है। कला, रंगमंच, सिनेमा और अन्य कलाओं पर भी हिन्दी, अंग्रेज़ी में प्रचुर लेखन किया है। 'कल्पना', 'रंगप्रसंग' जैसी पत्रिकाओं का सम्पादन करते रहे हैं। इन दिनों संगीत नाटक अकादेमी, नयी दिल्ली की पत्रिका 'संगना' का सम्पादन कर रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' का हिन्दी अनुवाद किया। दिल्ली में रहते हैं।

अनुपम मिश्र, हिन्दी के सुविख्यात लेखक भवानीप्रसाद मिश्र के पुत्र। १९७९ से गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान से जुड़कर हिन्दी प्रकाशन और पर्यावरण का कार्य करते रहे हैं। इसी निमित्त राजस्थान के मरू प्रदेश से परिचय, जो बाद में सामाजिक जलदर्शन तक ले गया। वन, भूमि, बाढ़, अकाल पर लगभग २० पुस्तकें। इनमें प्रमुख हैं-साफ़ माथे का समाज, हमारा पर्यावरण, चिपको आन्दोलन, राजस्थान की रजत बूँदे और आज भी खरे हैं तालाब। आज भी खरे हैं तालाब का देश और विदेश की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। दिल्ली में रहकर गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान में पर्यावरण पर कार्य करने के साथ-साथ पत्रिका 'गाँधी-मार्ग' का सम्पादन कर रहे हैं।

पवन गुप्ता, भारतीय और पश्चिमी सभ्यता के मूलभूत तत्त्वों को समझने का अनेक वर्षों तक गहन उद्यम किया है। मसूरी स्थित 'सिद्ध' संस्थान के निदेशक हैं और वहीं से 'रैबार' नामक पत्र प्रकाशित करते हैं। पारम्परिक शिक्षा पद्धति के समकालीन समाज में पुनर्नियोजन का प्रयास करते रहे हैं। मसूरी में रहते हैं।

मधु अप्सरा, सिनेमा के ध्वनि-विशेषज्ञ। मणि कौल के साथ बरसों कार्य किया है। मुम्बई में रहते हैं।

मोहनकृष्ण बोहरा, हिन्दी के सुप्रतिष्ठित आलोचक। इन दिनों जोधपुर में रहते हैं।

आशीष सांकृत्यायन, ध्रुपद गायक, देश-विदेश में गायन प्रस्तुत किया है। इन दिनों भोपाल के ध्रुपद केन्द्र के निदेशक और गुरु हैं।